हिन्दू राज्यशास्त्र

अम्बिका प्रसाद बाजपेयी

हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग

सुलभ साहित्य-माला

हिन्दू राज्यशास्त्र

लेखक

अम्बिकाप्रसाद वाजपेयी

हिन्दी साहित्य सम्मेलन

[प्रयाग]

तृतीय संस्करण]   संवत् २००६

प्रकाशकीय

हिन्दी साहित्य में राजनीति संबंधी प्रामाणिक और श्रेष्ठ ग्रंथों का अभाव-सा ही है। विद्वानों का ध्यान इस ओर कम आकर्षित हुआ है इस दृष्टि से हिन्दी के वयोवृद्ध साहित्य-सेवी पण्डित अम्बिकाप्रसाद वाजपेयी का 'हिन्दू राज्य शास्त्र' ग्रंथ साहित्य में विशेष महत्त्व रखता है। वाजपेयी जी राजनीति और साहित्य के मर्मज्ञ विद्वान् और पंडित हैं। आपने इस पुस्तक में हिन्दू जाति की प्राचीन शासन-नीति के संबंध में अध्ययन, मनन और विवेचना के साथ व्यापक प्रकाश डाला है। प्राचीन काल में हिन्दू जाति की शासन व्यवस्था कितनी गौरवपूर्ण थी, यह इस ग्रंथ के अध्ययन से पूर्ण रूप से प्रगट होता है। वाजपेयी जी ने ऐसा अध्ययनपूर्ण और सुंदर ग्रंथ लिख कर हिन्दी साहित्य की एक विशेष कमी की पूर्ति और उसके एक अंक की पुष्टि की है। हमारा विश्वास है कि यह पुस्तक राजनीति के, विशेष कर हिन्दू जाति और देश की प्राचीन राज्य-व्यवस्था और शासन पद्धति के अध्ययनशील पाठकों के लिये विशेष उपयोगी सिद्ध होगी। सम्मेलन को सुंदर और अध्ययन पूर्ण ग्रंथ के प्रकाशन का श्रेय प्राप्त हुआ है, यह भी कम गौरव की बात नहीं है।

स्वर्गीय श्रीमान् बड़ौदा-नरेश महाराजा सयाजीराव गायकवाड़ ने बम्बई के सम्मेलन में स्वयं उपस्थित होकर जो पाँच सहस्र रुपये की सहायता सम्मेलन को प्रदान की थी, उसी सहायता से सम्मेलन इस सुलभ-साहित्यमाला

के प्रकाशन का कार्य कर रहा है। इस माला में जिन सुन्दर और मनोरम ग्रन्थ-पुष्पों का ग्रन्थन किया जा रहा है, उनकी सुरभि से समस्त हिन्दी-संसार सुवासित हो रहा है। इस माला के द्वारा हिन्दी-साहित्य की जो श्री वृद्धि हो रही है उसका मुख्य श्रेय स्वर्गीय श्रीमान् बड़ौदा-नरेश को हैं। उनका यह हिन्दी-प्रेम भारत के अन्य हिन्दी-प्रेमी श्रीमानों के लिए अनुकरणीय है।

साहित्य मंत्री

भूमिका

परमेश्वरकी कृपासे मेरा वर्षों का सङ्कल्प आज पूरा हुआ और मुझे पाठकोंके सामने यह ग्रंथ रखनेका सौभाग्य प्राप्त हुआ। हिन्दीमें कदाचित् यह अपने ढंगकी पहली पुस्तक है, जिसमें हिन्दू राज्य शास्त्रके सभी विषयों का वर्णन किया गया है। इसमें मौलिकता नहीं है, क्योंकि इधर उधर बिखरी सामग्रीको सजाकर हिन्दी जगत्के सामने रखनेभरका काम मैंने किया है।

इस ग्रंथमें विषयप्रवेशके अतिरिक्त तीन भाग और तीन परिशिष्ट हैं। प्रथम भागमें विद्याओं और कलाओंके विवेचनके सिवा सप्ताङ्ग राज्यका साधारण वर्णन है। परन्तु द्वितीय और तृतीय भागोंमें राज्यके अंगोंके विस्तृत वर्णनके साथ ही कई नवीन विषयोंकी चर्चा की गयी है। प्रथम परिशिष्टमें हिन्दू गौरवके युगकी माप तोल और नाणक आदिका हिसाब है; द्वितीय में रत्नोंके नाम और परीक्षाएँ हैं तथा तृतीयमें सिकन्दरके आक्रमणके समयके तथा उसके आक्रान्त राज्योंका परिचय है। ये परिशिष्ट कोषका काम देंगे।

जिस मसालेसे हिन्दू राज्यशास्त्रकी इमारत खड़ी की गयी है, उसकी सूची अन्यत्र दी गयी है। कहीं किसी ग्रंथका कम और कहीं किसीका विशेष उपयोग किया गया है। परन्तु सबसे अधिक काम कौटिलीय अर्थ-शास्त्रसे लिया गया है। धर्माधिकरण, कण्टकशोधन, षाड्गुण्य आदि कई प्रकरणके प्रकरण इस ग्रंथरत्नके आधार पर लिखे गये हैं। जहाँ ऐसा किया गया है, वहाँ अधिकरण वा अध्याय आदिका हवाला नहीं दिया गया, क्योंकि एक प्रकारसे ज्योंके त्यों सब विषय उद्धृत कर लिये गये हैं। जिन ग्रंथोंकी सहायतासे यह पुस्तक लिखी गयी है, उनके प्रणेताओंका मैं हृदय-से आभारी हूँ।

इस पुस्तकके प्रणयनमें मेरे दो उद्देश्य हैं। एक तो हिन्दू जातिने दण्डनीति वा राज्यशास्त्रकी उपेक्षासे जो हानि उठायी है, उसे समझकर वह दण्डनीतिका अध्ययन और प्रयोग करके अपना प्राचीन गौरवपूर्ण स्थान प्राप्त करनेका प्रयत्न करे और दूसरा, वह यह जान ले कि हमारे यहाँ भी यह शास्त्र वैसा ही साङ्गोपाङ्ग है जैसा पाश्चात्य देशोंमें। तथा जो लोग चाहते हैं कि हिन्दू केवल अध्यात्म ज्ञानसे ही अनुराग रखें, वे हमारे देश, जाति और धर्मके शत्रु हैं; क्योंकि राज्यशास्त्र वा मंत्रशक्तिकी उपेक्षाने ही हमें परतंत्र और संसारमें छोटा बना दिया। इस प्रसङ्गमें महाभारत, उद्योग पर्वके इस श्लोकका उद्धरण अस्थान न होगा—

एकं हन्यान्न वा हन्यादिषुः मुक्तो धनुष्मता।
बुद्धिं बुद्धिमतोत्सृष्टा हन्याद्राष्ट्रं सराजकम् ॥४७॥ अ० ३३

(अर्थात् धनुर्धरका फेंका हुआ बाण किसी एक मनुष्यको मारे वा न मारे, परन्तु बुद्धिमान् मनुष्यकी चलायी हुई बुद्धि राजासहित राष्ट्रको मार डालती है।) वह दिन भारतके इतिहासमें सोनेका होगा, जब हमारे देशके लोग इस तत्त्वको हृदयङ्गम कर लेंगे।

यदि इस पुस्तकसे देश और जातिके उत्थानमें कुछ भी सहायता पहुँचेगी, तो मेरा परिश्रम सफल होगा।

कलकत्ता
गङ्गा दशहरा
सं० १९९८ वि०

अम्बिकाप्रसाद वाजपेयी

नवीन संस्करणकी भूमिका

हिन्दू राज्यशास्त्र का यह तीसरा मुद्रण है। पहला प्रायः नौ वर्ष पूर्व हुआ था। उस समय देश परतंत्र था; आज स्वतंत्र है। दूसरा मुद्रण भी परतंत्रता के दिनों में ही हुआ था, परन्तु उसमें कोई संस्कार नहीं हो सका। छापे की कुछ अशुद्धियाँ ही दूर कर दी गयीं।

परन्तु इस नवीन संस्करणमें भी विशेष कुछ नहीं किया जा सका। यथास्थान कुछ संशोधनों और परिवर्तनोंके साथही 'वार्त्ता और दण्डनीतिका सम्बन्ध' शीर्षक एक अध्याय इसमें बढ़ाया गया है। पहले १५ अध्याय थे, अब १६ हो गये। इसके सिवा (आ) और (इ) परिशिष्टों में विशेष परिवर्द्धन हुआ है। रत्नों की परीक्षा के (आ) परिशिष्टों में कृत्रिम और सदृश रत्नों के सम्बन्ध की जानकारी भी दे दी गई है। (इ) परिशिष्ट भारत के ईस्वी पूर्व इतिहास के विषय में कुछ और अधिक बातें बतायीं गयी हैं।

आशा है, इन परिवर्द्धनों से जिज्ञासुओं के मनोरञ्जन के साथ ही ज्ञान में भी वृद्धि होगी।

लखनऊ
माघी अमवस्या, सं० २००७ } अम्बिकाप्रसाद वाजपेयी

सहायक ग्रन्थोंकी नामावली

ऋग्वेद संहिता, वैदिक यंत्रालय, अजमेर
अथर्ववेद संहिता ,, ,,
यजुर्वेद (वाजसनेयी) संहिता, निर्णयसागर यंत्रालय, बम्बई
ऐतरेय ब्राह्मण ,, ,,
शतपथ ब्राह्मण, जर्मन संस्करण
अग्निपुराण, राजेन्द्रलाल मित्रका संस्करण
महाभारत (बङ्गाक्षर), बङ्गवासी प्रेस, कलकत्ता
वाल्मीकीय रामायण, श्रीवेङ्कटेश्वर प्रेस, बम्बई
मनुस्मृति, वणिक् प्रेस, कलकत्ता
कौटिलीय अर्थशास्त्र, मैसूर और लाहौरके संस्करण
कामन्दकीय नीतिसार, गुजराती प्रेस, बम्बई
वैशम्पायनकृत नीतिप्रकाशिका, ओपर्टका संस्करण
नीतिवाक्यामृत, कर्णाटक स्टीम प्रेस, बम्बई
शुक्रनीतिसार, श्री वेङ्कटेश्वर प्रेस, बम्बई
स्वामी दयानन्द सरस्वतीकृत ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका, वैदिक यंत्रालय, अजमेर
हीरेन्द्रनाथ दत्तकृत उपनिषत्, (वंगलाभाषा) वाणी प्रेस, कलकत्ता
महादेव शास्त्री दिवेकरकृत आर्य संस्कृतीचा उत्कर्षापकर्ष (मराठी), समर्थ भारत छापखाना, पुणें
चिन्तामणि विनायक वैद्यकृत महाभारत मीमांसा
अम्बिकाप्रसाद वाजपेयीकृत हिन्दुओंकी राजकल्पना इत्यादि
Bandopadhyaya, Narayan Chandra—Development of Hindu Polity and Political Theories.

Bannerjee, Pramathanath
—Public Administration in Ancient India

Sarkaı, Benoy Kumar,—The Political Institution and Theories of the Hindus

Jayaswal, K. P. Hindu Polity

Law, N. N. Studies in Ancient Hindu Polity

Law, N. N. Aspects of Ancient Indian Polity

Law, B. c. Ksatriya clans in Buddhist India

Ray, H. C. Hindu System of Administration

Oppert, Gustav, On the Weapons, Army Organization and Political Maxims of the Ancient Hindus.

McCrindle, J. W. Invasion of India by Alexander the Great

McCrindle, J. W. Ancient India as Described by Megasthenes and Arrian

Fausboll, Jatak Stories (Pali)

Rhys Davids, Buddhist India

Macdonell and Keith, Vedic Index Vol. II

Jones, Francis P. History of the Sinn Fein Movement and the Irish Rebellion of 1916.

———

विषय-सूची

द्वितीय भाग

विषयप्रवेश

हिन्दू समाजमें धर्मकी बड़ी महिमा है, इसीलिये उसके प्रत्येक कार्यका धर्मसे प्रत्यक्ष वा अप्रत्यक्ष सम्बन्ध है। जब धर्मपर आघात होता है और समाज उसकी रक्षा करनेमें समर्थ नहीं होता, तब जो महापुरुष अपने बाहुबल वा कौशलसे धर्मविघातकोंका दमन कर समाजको पूर्ववत् सुव्यवस्थित करता है, वह अतिमानुष वा साधारण मनुष्योंसे बड़ा समझा जाता है। अव्यवस्थित समाजको सुव्यवस्थित करनेकी जिसमें यह शक्ति होती है, वह ईश्वरकी विभूति माना जाता है। कुछ लोग उसे साक्षात् परमेश्वर ही समझने लगते हैं, क्योंकि जिस कार्यको सब लोग असम्भव समझते हैं, उसे ही वह कर दिखाता है। धीरे धीरे लोग उसे परमेश्वरका अवतार मानने लगते हैं। यही अवतारवादका रहस्य है।

परन्तु नित्य अवतार नहीं हो सकते, इसलिये जिसको लोग राजा बनाते हैं और जो राजा समाजकी व्यवस्था ठीक रखता है, उसमें गड़बड़ी नहीं होने देता और दुर्बलका सबलद्वारा उत्पीड़न रोकता है, वह परमेश्वरका अवतार माना जाने लगता है। इसीसे यह कल्पना बद्धमूल हो गयी है कि राजा परमेश्वरका अवतार होता है। इस प्रकार ईश्वरावतारसे राजाका घनिष्ठ सम्बन्ध धर्मग्रन्थोंमें प्रतिपादित किया गया और राजधर्मका आचरण बड़ा पुण्यकार्य माना गया है। श्रीमद्भगवद्गीतामें श्रीकृष्ण भगवान्‌ने अवतारका जो कारण बताया है, उससे स्पष्ट है कि मनुष्योंमें धर्मानुसार आचरण प्रचलित रहनेके लिये दुष्टोंका दमन और शिष्टोंका संरक्षण परमावश्यक है। इससे धर्मकी ग्लानि और अधर्मका अभ्युत्थान नहीं होता। [1]

---

१ यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम् ॥ ७ ॥
परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृतां।
धर्मसंस्थापनार्थाय सम्भवामि युगे युगे ॥ ८ ॥ अ० ४

हिन्दू धर्मानुसार मनुष्यमात्रको, धर्म अर्थ, काम और मोक्ष इस चतुर्वर्गकी प्राप्तिके लिये यत्नशील रहना चाहिये। व्यासजीके मतानुसार धर्मसे अर्थ और कामकी उत्पत्ति होती है।[1] परन्तु विचारपूर्वक देखनेसे जाना जाता है कि धर्मसे ही मोक्षकी भी प्राप्ति होती है। इसलिये यदि धर्मको ही चतुर्वर्ग कहें, तो अत्युक्ति नहीं है। मनुस्मृतिमें धृति, क्षमा, दम, अस्तेय, शौच इन्द्रियनिग्रह, धी, विद्या, सत्य और अक्रोध धर्मके ये जो दस लक्षण बताये गये हैं, उनसे सदाचार और सद्विद्याका समावेश धर्ममें हो जाता है। जब सदाचार और सद्विद्याकी प्राप्ति हो चुकी, तब चतुर्वर्गमें रही क्या गया?

धर्म शब्द धृ (धारण करना) धातुसे बना है। महाभारत शान्तिपर्वके सत्यानृताध्यायमें भीष्मने युधिष्ठिरसे धर्मकी व्याख्यामें तीन श्लोक कहे हैं। इनकी टीकामें नीलकंठजीने लिखा है कि प्रभव वा अभ्युदय, अहिंसा वा अपीड़न और धारण वा संरक्षण ये तीनों सच या झूठ, मृदु या तीक्ष्ण जिस किसी उपायसे भी हों, वह धर्म कहाता है। दूसरे शब्दोंमें कहें तो, जिस कामसे अभ्युदय, अपीड़न और संरक्षण होते हों, वह धर्म है।[2] इसी प्रकार जिस कामसे अभ्युदय, अपीड़न और संरक्षणमें बाधा पड़ती हो, वह अधर्म है। इससे हमें पता लग गया कि जिस धर्मके संस्थापनके लिये भगवान्का अवतार होता है, उसका स्वरूप क्या है।

साधारण मनुष्य जिन बातोंको धर्म समझते हैं, उनकी गिनती धर्ममें होती है या नहीं और होती है भी तो कहांतक, इसका विचार यहां हमें नहीं

---

१ धर्मादर्थश्च कामश्च स धर्म्मः किं न सेव्यते। महाभारत

२ प्रभवार्थाय भूतानां धर्मस्य प्रवचनं कृतम्।
यः स्यात्प्रभवसंयुक्तः स धर्म इति निश्चयः ॥ १० ॥
धारणाद्धर्ममित्याहुर्धर्मेण विधृताः प्रजाः।
यः स्याद्धारणसंयुक्तः स धर्म इति निश्चयः ॥ ११ ॥
अहिंसार्थाय भूतानां धर्मप्रवचनं कृतम्।
यः स्यादहिंसासंयुक्तः स धर्म इति निश्चयः ॥ १२ ॥ अ० १०९

करना है। परन्तु यह बताना आवश्यक है कि प्राचीन ऋषि, महर्षि और आचार्य धर्मकी उक्त व्याख्याका ही समर्थन करते आते हैं। वैशेषिक दर्शनके रचयिता महर्षि कणादका कहना है कि जिससे अभ्युदय वा लौकिक उन्नति और निःश्रेयस वा पारलौकिक मोक्षप्राप्ति हो, वह धर्म है।[1] यही बात थोड़े हेर फेरसे वर्णाश्रमधर्मके उद्धारक श्रीस्वामी शङ्कराचार्यने कोई १२०० वर्ष पहले कही थी। उनका मत था कि जो जगत्की स्थितिका कारण हो और प्राणियों की प्रत्यक्ष उन्नति और मोक्षप्राप्तिका हेतु बने, वही धर्म है।[2] जैनाचार्य सोम-देव सूरि उनसे भी आगे बढ़कर कहते हैं कि जिस कार्यसे लौकिक उन्नति और पारलौकिक मोक्षप्राप्तिमें बाधा पड़े, वह अधर्म है।[3] इन बचनोंसे सिद्ध है कि धर्म शब्दका प्रयोग चतुर्वर्गके लिये होता था और इसके दो भाग कर दिये गये थे, एक ऐहिक और दूसरा पारत्रिक। ऐहिकमें धर्म, अर्थ और कामका समावेश होता था और पारत्रिकमें मोक्षका। ऐहिक धर्मका दूसरा नाम पुरुषार्थ और मोक्षका परम पुरुषार्थ है।

अहिंसा और धारणका घनिष्ठ सम्बन्ध है। इसलिये समाजमें ऐसे वर्ग वा वर्णकी आवश्यकता हुई, जो पीड़नको बन्द करता हुआ संरक्षणशक्तिका पूरा प्रयोग करे। यह काम क्षत्रियका समझा गया, क्योंकि वह लोगोंके संरक्षण-में कुशल, शूर, दमनशील और पराक्रमी होता है और स्वाभावसे ही दुष्टों को दुष्कर्मोंसे रोकता है।[4] जबतक दुष्टोंका दमन और साधुओंका रक्षण नहीं होता, तबतक धर्मकी ग्लानि बनी रहती है। इसलिये धर्मस्थापन क्षात्र-तेजसे ही सम्भव है। महाभारतमें क्षात्रधर्मकी जो बड़ी महिमा गायी गयी है, उसका कारण यही है। क्षत्रिय वर्णको बुद्धदेवने भी बहुत बड़ा बताया है,

---

१ यतोऽभ्युदयनिःश्रेयससिद्धिः स धर्मः। कणाददर्शन

२ जगतःस्थितिकारणं प्राणिनां साक्षादभ्युदये निःश्रेयसहेतुर्यः स धर्मः।

३ अधर्मः पुनरेतद्विपरीतफलः ॥२॥ धर्मसमुद्देश, नीतिवाक्यामृत।

४ लोकसंरक्षणे दक्षश्शूरो दान्तः पराक्रमी।
दुष्टनिग्रहशीलो यः स वै क्षत्रिय उच्यते ॥४१॥ अ० १, शुक्रनीतिसार

परन्तु महाभारतने तो लिखा है कि आदिदेवसे पहले क्षात्रधर्म ही उत्पन्न हुआ है और इसके बाद अवशिष्ट अंगभूत धर्मोंकी सृष्टि हुई है। ये धर्म अनन्त और नाशवान् हैं और संन्यास धर्म सहित सब धर्म क्षत्रियके अधीन हैं। इसी धर्ममें सब धर्म प्रविष्ट हैं, इसलिये इसे श्रेष्ठ धर्म कहते हैं। क्षात्रधर्म सब धर्मोंसे बढ़कर, सनातन तथा मोक्षपर्यन्त सर्वतोमुखी धर्म है।[1] जिस अध्यायमें क्षत्रियोंकी इतनी प्रशंसा की गयी है, उसीमें बताया गया है कि प्राचीन कालमें विष्णु भगवानने क्षात्रधर्मानुसार शत्रुओंका नाश कर देवों और ऋषियों-की रक्षा की थी। इससे यह अनुमान करना अनुचित न होगा कि दुष्टोंके दमन और शिष्टोंके संरक्षणके लिये भगवानके क्षत्रिय शरीर धारण करने का यही कारण है कि यह कार्य क्षत्रियका है।[2]

देशमें सुव्यवस्था रखना क्षत्रियोंका कर्त्तव्य अवश्य है, परन्तु यह कार्य किसी नेता या मुखियेके अधीन रहकर जब तक नहीं होता, तबतक सुव्य-वस्था होनेकी अपेक्षा अव्यवस्था होनेका ही भय अधिक रहता है। इसलिये सब प्रजा जिसे अपना मुखिया बनाती है, वह राजा कहाता है। क्षत्रियोंके

---

१ क्षात्रो धर्मो ह्यादिदेवात्प्रवृत्तः पश्चादन्ये शेषभूताश्च धर्माः ॥ ११ ॥
शेषाः सृष्टाः ह्यन्तवन्तो ह्यनन्ताः सप्रस्थानाः क्षात्रधर्मे विशिष्टाः ।
अस्मिन् धर्मे सर्वधर्माः प्रविष्टास्तस्माद्धर्मं श्रेष्ठमिदं वदन्ति ॥ २२ ॥
सर्वधर्मपरं क्षात्रं लोकश्रेष्ठं सनातनम् ।
शश्वदक्षरपर्यन्तमक्षरं सर्वतो मुखम् ॥ ३० ॥ शान्तिपर्व, अ० ६४

२ वामन और परशुरामको छोड़कर मनुष्य शरीरधारी जितने अवतार हुए हैं, सभी क्षत्रियवंशसम्भूत हैं। परशुरामजी ब्राह्मणवंशमें इसीलिये जन्मे थे कि उस समयके क्षत्रियोंमें कर्त्तव्यज्ञान नहीं था। क्षत्रियोंको सुमार्गपर चलानेके लिये उनसे उच्चतर वर्णमें अवतार लेनेका प्रयोजन था। शत्रुके दमनमें छल और बल दो साधन होते हैं। वामनजी छलका और परशुरामजी ने बलका आश्रय लिया था। राजनीति में, "अक्रोहेने जिने कोहं असाधुं माधुना जिने" का स्थान नहीं है।

राजा होनेका कारण यही है कि उनमें शौर्य, पराक्रम, दमनशीलता तथा संरक्षणशक्ति स्वभावसे ही होती है। लोकमतसे प्रथम निर्वाचित राजा पृथु था और उसने समस्त प्रजाका रंजन किया था, इसलिये राजा कहलाया था।[1]

महाभारतमें राजधर्मकी प्रशंसामें भीष्मने युधिष्ठिरसे कहा है कि सब धर्मोंमें राजधर्म प्रधान है अथवा यों कहिये कि सभी धर्म राजधर्मके आश्रित हैं, क्योंकि इसीसे सब वर्णोंका प्रतिपालन होता है। राजधर्ममें ही सब त्याग हैं और त्यागको अग्न्य और प्राचीन धर्म कहते हैं। राजधर्ममें ही सब त्याग देखे गये और राजधर्ममें ही सब दीक्षा कही गयी है। सब विद्याएं राजधर्ममें हैं और सब लोक उसमें समाविष्ट हैं।[2] और भी, इन्द्र मान्धातासे कहते हैं कि मुनिजन त्यागको श्रेष्ठ धर्म कहते हैं और सर्वश्रेष्ठ शरीरका त्याग करनेवाले राजा होते हैं, क्योंकि राजधर्ममें सभी त्याग नित्य होते हैं। इसलिये राजा प्रत्यक्ष त्यागी हैं। इतनेसे ही इन्द्रको संतोष न हुआ, इसलिये प्रसंगके अन्तमें सब धर्मोंकी चर्चा करके उन्होंने कहा कि ये धर्म सब वर्णोंमें लीन हैं और उत्कर्ष प्राप्त करने योग्य हैं। इसलिये क्षत्रियका यह धर्म बड़ा है और मेरे मतसे वीरताके कारण राजधर्म वीरज्येष्ठ और वीरधर्म है। जिस प्रकार घोड़ेको रास और हाथीको अंकुश वशमें रखता है, उसी प्रकार राजधर्म भी लोक-मर्यादा ठीक रखनेका हेतु होता है।[3] क्षत्रियधर्म और राजधर्मका इतना

---

१ रञ्जिताश्च प्रजाः सर्वास्तेन राजेति शब्द्यते। शा०, अ० ५६, श्लो० १२५.

२ सर्वे धर्मा राजधर्मप्रधानाः सर्वे वर्णाः पाल्यमाना भवन्ति।
सर्वस्त्यागो राजधर्मेषु राजंस्त्यागं धर्मं चाहुरग्र्यं पुराणम् ॥२७॥
सर्वे त्यागा राजधर्मेषु दृष्टाः सर्वा दीक्षा राजधर्मेषु चोक्ताः।
सर्वा विद्या राजधर्मेषु युक्ताः सर्वे लोका राजधर्मे प्रविष्टाः ॥१६॥शा०अ०६३

३ यथा हि रशमयोऽश्वस्य द्विरदस्याङ्कुशो यथा।
नरेन्द्रधर्म लोकस्य तथा प्रग्रहणं स्मृतम ॥५॥ शांतिपर्व अ, ५६

४ त्यागं श्रेष्ठं मुनयो वै वदन्ति, सर्वश्रेष्ठं यच्छरीरं त्यजन्तः।
नित्यं युक्ता राजधर्मेषु सर्वे, प्रत्यक्षं ते भूमिपाला यथैव ॥३॥

महत्त्व दिखाकर महाभारतने राजाको सर्वलोकगुरु कहा है और बताया है कि जो उसकी अवज्ञा करता है, उसके दान, यज्ञ और श्राद्ध सफल नहीं होते। मनुष्योंके सनातन अधिपति देवभूत धर्माचारी राजाका देवता भी अपमान नहीं करते तथा राजाको मनुष्य समझकर कभी उसका अपमान न करना चाहिये, क्योंकि वह नर-शरीरधारी ईश्वर है। इसी प्रकार मनुस्मृति भी कहती है कि राजा बालक भी हो, तो मनुष्य समझकर उसकी अवमानना न करनी चाहिये, क्योंकि वह मानव शरीर-धारी ईश्वर है।[1] राजामें ईश्वरत्व इसीलिये है कि वह परमेश्वरका कार्य करता है और जबतक राजा परमेश्वरका कार्य—दुष्टोंका दमन और शिष्टोंका संरक्षण करता रहता है, तबतक धर्मकी ग्लानि और अधर्मका उत्थान नहीं होता और परमेश्वरको अवतार लेनेका प्रयोजन भी नहीं रहता।

अब यह प्रश्न सामने आता है कि राजाको परमेश्वरका कार्य करनेका साधन क्या है। इसका सबने एक स्वरसे उत्तर दिया है 'दण्ड'। कोई कहता है कि लोगोंको असदाचारसे निवृत्त करनेके लिये जो दमन है, उसका नाम

एते धर्माः सर्ववर्णेषु लीना उत्कृष्टाभ्याः क्षत्रियैरेष धर्मः।
तस्माज्ज्येष्ठा राजधर्मा न चान्ये वीरज्येष्ठा वीरधर्मा मता मे ॥१२॥
सर्वलोकगुरुश्चैव राजानं योऽवमन्यते।
न तस्य दत्तं न हुतं न श्राद्धं फलते क्वचित् ॥२८॥
मनुष्याणामधिपतिं देवभूतं सनातनम्।
देवापि नावमन्यन्ते धर्मकामं नरेश्वरम् ॥२९॥ शान्तिपर्व अ० ६५
न हि जात्ववमन्तव्यो मनुष्य इति भूमिपः।
महती देवता ह्येषा नररूपेण तिष्ठति ॥४०॥ शा० प० अ० ६८
१ बालोऽपि नावमन्तव्यो मनुष्य इति भूमिपः।
महती देवता ह्येषा नररूपेण तिष्ठति ॥८॥ मनुस्मृति अ० ७

दण्ड है और जिससे दमन किया जाता है, वह भी दण्ड कहलाता है।[1] और कोई कहता है कि दण्ड ही शासक है और सब प्रजा हैं, तथा जब सब सोते हैं, तब दण्ड ही अकेला जागता रहता है।[2] दण्डमें कितना सामर्थ्य है इस विषयमें कौटिल्यने कहा है कि जब राजा पक्षपातरहित दोषके अनुसार अपने पुत्र या शत्रुपर दण्ड चलाता है, तब वह दण्ड इस लोक और परलोककी रक्षा करता है।[3] आन्वीक्षिकी, त्रयी और वार्त्ताकी उन्नति और कुशलका साधक दण्ड है। भली भाँति सोच विचारकर जब दण्ड दिया जाता है, तब वह प्रजाको धार्मिक बनाता और उसे अर्थ तथा कामकी प्राप्तिमें लगाता है, परन्तु जब वेढंगेपनसे अथवा काम, क्रोध वा अज्ञानसे दण्ड दिया जाता है, तब वानप्रस्थों और संन्यासियोंमें भी क्रोध उत्पन्न करता है, गृहस्थोंकी तो बात ही क्या है? जब दण्डका उपयोग नहीं किया जाता, तब बलवान् दुर्बलोंको सताते हैं, जैसे दण्डधरके अभावमें छोटी मछलीको बड़ी मछली खा जाती है।[4] दण्ड समाजको सुव्यवस्थित रखनेका साधन तो है, परन्तु हरकोई उसका ठीक ठीक प्रयोग नहीं कर सकता। उसके प्रयोग करनेकी शिक्षाका प्रयोजन होता है। जिस शास्त्रके अध्ययनसे यह योग्यता प्राप्त होती है, उसे दण्डनीति

---

१ निवृत्तिरसदाचाराद्दमनं दण्डतश्च तत्।
येन सन्दम्यते जन्तुरुपायो दण्ड एव सः ॥४०॥ शुक्रनीतिसार अ० ४

२ दण्डः शास्ति प्रजाः सर्वा दण्ड एवाभिरक्षति।
दण्डः सुप्तेषु जागर्त्ति दण्डं धर्मं विदुर्बुधाः ॥१८॥ मनु० अ० ७

३ दण्डो हि केवलं लोकं परं चेमं च रक्षति।
राज्ञा पुत्रे च शत्रौ च यथादोषं समं धृतः ॥५४॥ अर्थ० अधि अ० ३

४ आन्वीक्षिकीत्रयीवार्त्तानां योगक्षेमसाधनो दण्डः।......सुविज्ञातप्रणीतो हि दण्डः प्रजान् धर्मार्थकामैर्योजयति। दुष्प्रणीतः कामक्रोधाभ्यामज्ञाना-द्वानप्रस्थपरिव्राजकानामपि कोपयति किमङ्ग पुनर्गृहस्थान्? अप्रणीतो हि मात्स्यन्यायमुद्भावयति बलीयानबलं हि ग्रसते दण्डधराभावे॥ अर्थशास्त्र, अधि० १ अ० ४

कहते हैं। दम दण्ड कहाता है, इसलिये राजा दण्डरूप है और उसकी नीति दण्डनीति है। नयके कारण इसे नीति कहते हैं।[१] जिस मानुषकर्मसे योग क्षेमकी सिद्धि होती है, वह नय कहाता है।[२] अप्राप्त धनादिका सम्पादन योग और प्राप्तका रक्षण क्षेम है तथा योगसहित क्षेम योगक्षेम है।[३] महाभारतका कहना है कि दण्डनीतिका सुप्रयोग चातुर्वर्ण्यको अपने-अपने कार्यका अवलम्बी बनाता और अधर्मसे निवृत्त करता है। इससे चारों वर्ण अपने अपने कर्म करते हैं और मर्यादाका उल्लंघन नहीं करते तथा प्रजा सुखस्वच्छन्दतासे निर्भय रहती है।[४]

अब स्पष्ट हो गया कि धर्मकी जिस ग्लानि और अधर्मके जिस अभ्युत्थान को नष्ट करनेके लिये भगवान्‌का अवतार होता है, उसका कारण मात्स्य-न्याय है, जिसमें दण्डधरके अभावसे सबल निर्बलको खाते हैं। जो दण्डका सुप्रयोग करके इस अवस्थाको दूर करता है, वह परमेश्वरका अवतार समझा जाता है। दण्डनीतिके अनुसार जो राजा आचरण करता था, वह ईश्वरांश समझा जाता था। इसीलिये राजाओंको परमेश्वरका अंश माननेकी परम्परा चल पड़ी। दण्डनीति राजाका कर्त्तव्याकर्त्तव्य शास्त्र हुआ। राजाके लिये तो इसका ज्ञान आवश्यक है ही, परन्तु जो धर्मपथपर चलना और दूसरोंको चलाना चाहते हैं, उनके लिये भी इसके ज्ञानकी परमावश्यकता है।

---

१ दमो दण्ड इति ख्यातस्तस्माद्दण्डो महीपतिः।
तस्य नीतिर्दण्डनीतिर्नयनान्नीतिरुच्यते ॥ १५६॥ शु० स० अ० १

२ दृष्टकारितं मानुषं तस्मिन्योगक्षेमनिष्पत्तिर्नयः। विपत्तिरपनयः।
अर्थशास्त्र अधि० ६, अ० २

३ अप्राप्तस्य धनादेः सम्पादनं योगः प्राप्तस्य रक्षणं क्षेमः।
योगसहितक्षेमो योगक्षेमः।

४ दण्डनीतिः स्वधर्मेभ्यो चातुर्वर्ण्यं नियच्छति।
प्रयुक्ता स्वामिना सम्यगधर्मेभ्यो नियच्छति ॥७६॥
चातुर्वर्ण्ये स्वकर्मस्थे मर्यादानामसङ्करे।
दण्डनीतिकृते क्षेमे प्रजानामकुतो भये ॥७७॥ शा० अ० ७०

यहाँ एक बात ध्यानमें रखनी चाहिये और वह यह है कि राजा क्रम और विक्रमसे होते हैं अर्थात् राज्यके उत्तराधिकारी रूपसे जो राजा होते हैं, वे क्रमानुसार राजा हैं और जो अपने पराक्रमसे राज्याधिकार प्राप्त कर लेते हैं, वे विक्रमसे राजा बनते हैं। इसलिये क्षत्रियोंका ही राजा होना अनिवार्य न था। इस कारण क्षत्रिय राजा तो राजन्य कहलाते थे। पर अन्य वर्णोंके राजा राजा कहाते थे। राजन्य क्षत्रियका पर्यायवाची शब्द था और वेदोंमें[1] भी क्षत्रिय अर्थमें आया है। अमरकोशमें राजक और राजन्यक क्रमसे राजाओं और क्षत्रियोंके गण बताये गये हैं।[2] इससे स्पष्ट है कि क्षत्रियोंके अतिरिक्त क्षत्रियेतर राजा अमरसिंहके समयमें भी होतें थे। यही नहीं, कुमारिल भट्टका भी कहना है कि जब चारों वर्ण राज्य करते दिखायी देते हों, तब क्षत्रियको ही कैसे राजा कह सकते हैं ?[3] शबरने अपने भाष्यमें जो यह लिखा है कि दाक्षिणात्य—आन्ध्र में राज्य पदारूढ़को ही नहीं, सामान्य क्षत्रियको भी राजा कहते हैं, उससे यही जाना जाता है कि क्षत्रियोंका ही राजा होना निश्चित समझकर सामान्य क्षत्रियको भी लोग राजा कहने लगते थे। परन्तु हर्षके सययमें क्षत्रियेतर भी राथा थें, जैसे उज्जैन, महेश्वरपुर और चिचिटीके राजा ब्राह्मण थे और सिन्धका राजा शूद्र था। इसीलिये दण्डनीति वा राजनीति राज्यनीति थी, क्षत्रियोंकी ही हस्तपुस्तिका नहीं। परन्तु क्षत्रिय राजा अधिक होते थे, इसलिये क्षत्रिय शब्द राजा शब्दका पर्यायवाची समझा जाने लगा।

यहाँ यह प्रश्न उत्पन्न होता है कि धर्मका नियामक तो धर्मशास्त्र है, दण्डनीति अथवा राज्यशास्त्र वा नीतिशास्त्र उसका अधिकारी कैसे माना जा

---

१ ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद् बाहू राजन्यः कृतः।
ऊरू तदस्य यद्वैश्यः पद्भ्यां शूद्रो अजायत ॥ ११ ॥ शु० यजुर्वेद अ० ३१
यथेमां वाचं कल्याणीमावदानि जनेभ्यः।
ब्रह्मराजन्याभ्यां शूद्राय चार्याय स्वाय चारणाय च ॥ शु० यजुर्वेद, २६।२

२ अथ राजकम्। राजन्यकं च ॥ नृपक्षत्रियाणां गणे क्रमात्।

३ तच्च राज्यमविशेषेण चत्वारोऽपिवर्णाः कुर्वाणा दृश्यन्ते।

सकता है ? इसका उत्तर यह है कि निःसन्देह धर्मशास्त्र व्यावहारिक शास्त्र है और कर्त्तव्याकर्त्तव्यका उपदेश देता है। धर्म और व्यवहारका विवेचन नीतिशास्त्रके समान ही धर्मशास्त्रमें भी है। दुर्व्यसनियों और दुराचारियोंके तथा कारीगरों, कर्मचारियों और व्यापारियोंके रक्षणावेक्षणकी व्यवस्था दोनोंमें है। परन्तु फिर भी दोनोंमें महदन्तर है। पहले तो धर्मशास्त्र ब्राह्मणशास्त्र और नीतिशास्त्र क्षत्रियशास्त्र है अर्थात् धर्मशास्त्र केवल विधिनिषेधका उपदेशक है, परन्तु नीतिशास्त्र बलपूर्वक अन्यायको रोकनेके साधनोंका उपयोग करता है। दूसरे, धर्मशास्त्र शान्तिके समय काममें लाया जा सकता है, परन्तु नीतिशास्त्र सब समय काम करता है। धर्मशास्त्र व्यवस्थित राज्य वा समाजके अधीन रहता है, परन्तु नीतिशास्त्र वा दण्डनीति अव्यवस्थित समाज वा राज्यको सुव्यवस्थित करनेमें समर्थ है। मनुस्मृतिमें दण्ड धर्मका प्रतिभू या जामिन बताया गया है। कोई किसीका प्रतिभू तभी हो सकता है, जब उससे अधिक सामर्थ्यवान् हो। दण्डनीति धर्मशास्त्रसे अधिक शक्तिसम्पन्न है, क्योंकि धर्मशास्त्र विचारा हेगकी अन्तरराष्ट्रिय पंचायत अथवा जेनेवाके राष्ट्रसंघकी[1] भाँति अपनी आज्ञाओंका पालन करानेमें समर्थ नहीं है। तीसरे, शस्त्र और शास्त्रमें जितना सम्बन्ध है, उतना ही दण्डनीति और धर्मशास्त्रमें भी है। नीतिमें कहा भी है कि शस्त्रविद्या स्वभावसे ही सब

---

१ पाश्चात्य राष्ट्रोंने अन्तरराष्ट्रिय झगड़े निपटानेके लिये हालैंडकी राजधानी हेगमें पंचायत स्थापित कर रखी है। यह छोटे छोटे बहुत मामूली झगड़े ही तय कर सकी, १९१४ का महायुद्ध रोकनेमें असमर्थ रही। ऐसी ही दूसरी अन्तरराष्ट्रिय सस्था राष्ट्रसंघ स्वीटजलैंडके जेनेवा नगरमें वर्साईकी तथोक्त सन्धिके बाद युद्ध रोकनेके लिये बनी, पर यह भी निकम्मी निकली। व्यवहारमें दोनो ही क्लीव सिद्ध हुई हैं, क्योंकि दोषीको दण्ड नहीं दे सकीं। दूसरे महायुद्धने राष्ट्रसंघका भी अन्त कर दिया। इसकी जगह अमेरिका के लेकसकसेस नगरमें संयुक्त राष्ट्रसंघ United Nations Organigzation की स्थापना की गयी है। पर यह भी विशेष कार्यकर नहीं है

विद्याओंसे बड़ी है, क्योंकि शस्त्रसे राष्ट्रके रक्षित होनेपर ही शास्त्रोंका पढ़ना पढ़ाना होता है।[1]

धर्मसे दण्ड वा बलकी श्रेष्ठता महाभारतने भी मानी है। उसमें कहा गया है कि अतिधर्मसे हम बलकी उत्पत्ति मानते हैं, क्योंकि धर्मसे बलका प्रवर्त्तन होता है। जिस प्रकार पृथ्वीपर चर प्राणी प्रतिष्ठित हैं, उसी प्रकार बलमें धर्म प्रतिष्ठित है। जैसे वायुके वशमें धुआं रहता है, वैसे ही बलके पीछे धर्म चलता है। जैसे लताका आश्रय वृक्ष होता है, वैसे ही प्रभुहीन धर्मका आश्रय बल है।[2] इसी लिये कहा गया है कि जब दण्डनीतिकी उपेक्षा होती है, तब वेदत्रयी तथा सब धर्म चाहे जितने ही उन्नत क्यों न हों, नष्ट हो जाते हैं।[3]

अबतक जो कुछ लिखा गया है, उससे पूर्णरूपसे दण्डनीतिका महत्त्व प्रमाणित हो गया। हिन्दुओंने दण्डनीतिकी बड़ी उपेक्षा की, जिसका फल उन्हें हाथों हाथ मिल गया। कौटिल्यने अपने अर्थशास्त्रके अन्तमें बहुत ही ठीक कहा है कि इस शास्त्रके ज्ञानसे मनुष्य केवल धर्म, अर्थ और कामका प्रवर्त्तन और रक्षण ही नहीं कर सकता, वरञ्च अधर्म और अप्रिय कार्य बन्द भी करा सकता है।[4] इसका अभिप्राय यह है कि राजा यदि दण्डनीतिका

---

१ शस्त्रविद्या स्वभावेन सर्वाभ्योऽस्ति महीयसी।
शस्त्रेण रक्षिते राष्ट्रे शास्त्रचिन्ता प्रवर्तते॥

२ अतिधर्माद्बलं मन्ये बलाद्धर्मः प्रवर्त्तते।
बले प्रतिष्ठितो धर्मो धरण्यामिव जङ्गमम्॥
धूमो वायोरिव वशे बलं धर्मोऽनुवर्त्तते।
अनीश्वरो बले धर्मो द्रुमे वल्लीव संश्रिता॥७॥ शा० अ० १३४

३ मज्जेत्त्रयी दण्डनीतौ हतायां सर्वेधर्माः प्रक्षयेयुर्विवृद्धाः॥२८॥ शान्ति पर्व अ० ६३

४ धर्मार्थं च कामं च प्रवर्त्तयति पाति च।
अधर्मानर्थविद्वेषानिदं शास्त्रं निहन्ति च॥७६॥ अधि० १५, अ० १

अध्ययन करे और उसके अनुसार चले, तो वह धार्मिक राजा होकर धर्मार्थ कामका प्रवर्त्तन और रक्षण कर सकता है और यदि प्रजा उसका अध्ययन करे, तो राजाद्वारा अधर्म और अप्रिय कार्य न होने पावे और दोनो धर्मपूर्वक चल कर सच्चे भगवद्भक्त बन जायं, क्योंकि फिर भगवान्को धर्मसंस्थापनार्थ अवतार लेनेका कष्ट न उठाना पड़े। कौटिल्यने स्वयं नन्दोंसे पृथ्वी, शास्त्रों और शस्त्रोंका उद्धार किया था, जिससे 'साधुओंकी रक्षा और असाधुओंका दमन हुआ। इसी गुणके कारण कामन्दकने अपने नीतिसारके आरम्भमें कौटिल्य विष्णुगुप्तको ब्रह्मस्वरूप कहकर उनकी वन्दना की है। अब तो प्रजासत्ताका युग है, इसलिये राष्ट्रके प्रत्येक मनुष्यके लिये दण्डनीति का अध्ययन ही आवश्यक नहीं रहा, उसे राज्यकार्यसे अनुराग रखनेका भी प्रयोजन है, क्योंकि राष्ट्रके बनने बिगड़नेका कारण प्रजाका अनुरागवा उपेक्षा है।

दण्डनीतिका आदि ग्रन्थ कमलयोनि ब्रह्मदेवकृत नीतिशास्त्र बताया जाता है। जिस समय पृथ्वीपर अव्यवस्था होनेसे देवताओंने ब्रह्मासे पुकार मचायी थी कि यज्ञयागादि बन्द हो गये और वेद लुप्त हो गये तथा मर्त्यलोक के मनुष्योंकी नाईं हमारी भी कहीं पूछ नहीं होती, इसलिये हमारी रक्षा कीजिये, उस समय उनको अभय देकर चतुराननने सामाजिक व्यवस्था ठीक करनेके लिये एक लाख अध्यायोंका नीतिशास्त्र बनाया। इसमें धर्म, अर्थ और काम इस त्रिवर्ग तथा चतुर्थ वर्ग मोक्ष और इसके त्रिवर्ग—सत्त्व, रज और तमका वर्णन किया। साथ ही दण्डज त्रिवर्ग—स्थान, वृद्धि और क्षय तथा नीतिज षड्वर्ग—चित्त, देश, काल, उपाय, कार्य और सहायके सिवा आन्वीक्षिकी, त्रयी, वार्त्ता और दण्डनीति इन चारों विद्याओं और इनके अवान्तर विषयोंका व्याख्यान किया।

ब्रह्माका यह नीतिशास्त्र मनुष्यकी आयुके देखते बहुत बड़ा था, इसलिये विशालाक्ष महेश्वरने इसे दस हजार अध्यायोंमें संक्षिप्त किया। महादेव दूरदर्शी थे, इसलिये विशालाक्ष कहाये और उनके इस ग्रन्थका नाम वैशालाक्ष

पड़ा। अनन्तर इन्द्रने इसका सार निकालकर पाँच हजार अध्यायोंमें रख दिया, इसलिये यह इन्द्रकृत ग्रन्थ बाहुदन्तक प्रसिद्ध हुआ, क्योंकि इन्द्रका एक नाम बाहुदन्तीपुत्र भी है। फिर बृहस्पतिने इसे भी संक्षिप्त किया, तो इस संक्षिप्त संस्करणका नाम बार्हस्पत्य हुआ। इसके उपरान्त दैत्यगुरु शुक्राचार्यने एक हजार अध्यायोंमें इसका सारांश निकालकर रखा और इस प्रकार यह शुक्रनीति कहलाया। महाभारत शान्तिपर्वके ५८वें अध्यायमें राज्यशास्त्र प्रणेताओं वा दण्डनीतिके आचार्योंकी जो नामावली दी हुई है, उसमें विशालाक्ष, इन्द्र, बृहस्पति और शुक्रके सिवा प्रचेतस् मनु, भरद्वाज, और गौरशिरा मुनि ये तीन नाम और पाये जाते हैं।

परन्तु बम्बईके गुजराती प्रेससे जो कामन्दकीय नीतिसार गुजराती टीकासहित प्रकाशित हुआ है, उसमें किसी पुराणसे उद्धृत वचनोंके अनुसार ब्रह्माने एक लाख अध्यायका नीतिशास्त्र चा और उसे नारद, इन्द्र, बृहस्पति, शुक्र, भारद्वाज, विशालाक्ष, भीष्म, पराशर और मनु तथा अन्य महर्षियोंने संक्षिप्त किया। फिर लोगोंकी आयुका ह्रास देखकर राजाओंकी कार्यसिद्धिके लिये विष्णुगुप्तने इसका संक्षिप्त संस्करण किया।[1] परन्तु कौटिलीय अर्थशास्त्रसे जाना जाता है कि इनके सिवा और भी कई आचार्य हो चुके हैं। महाभारतकी नामावली और उल्लिखित नामावलीमें नारद और भीष्म दो ही नामोंका अन्तर है। नारदका नाम दण्डनीतिके आचार्यों में केवल नीतिवाक्यामृतकी टीकामें मिलता है, परन्तु उसमें इनके सिवा अत्रि, अंगिरा, ऋषिपुत्रक, कणिक, राजपुत्र, कौशिक, गर्ग, गौतम, जैमिनि,

---

१ ब्रह्माध्यायसहस्राणां शतं चक्रे स्वबुद्धिजं।
तन्नारदेन शक्रेण गुरुणा भार्गवेण च॥
भारद्वाजविशालाक्षभीष्मपाराशरैस्तथा।
संक्षिप्तं मनुना चैव तथा चान्यैर्महर्षिभिः॥
प्रजानामायुषो ह्रासं विज्ञाय च महात्मना।
संक्षिप्तं विष्णुगुप्तेन नृपाणामर्थसिद्धये॥

देवल, याज्ञवल्क्य, भागुरि, वशिष्ठ, हारीत, वादरायण, विदुर, चारायण, रैभ्य, वराहमिहिर, वल्लभदेव और शौनक आदि और भी कितने ही आचार्योंके वचन उद्धृत देखे जाते हैं। इनमें अधिकतर तो स्मृतिकार हैं और जान पड़ता है कि बहुतसे वचनोंके अवतरण स्मृतियोंसे ही लिये गये हैं। भीष्म का नाम आचार्योंमें इसी लिये आया है कि शान्तिपर्वमें राजधर्मका वर्णन इन्हींने किया है।[1]

दण्डनीतिके ग्रन्थोंमें न तो ब्रह्माका नीतिशास्त्र मिलता है और न विशालाक्ष, इन्द्र, बृहस्पति और शुक्रके ही ग्रन्थ उपलब्ध हैं। बृहस्पतिके बार्हस्पत्य शास्त्रके बदले, कुछ सूत्र "बार्हस्पत्य" नाम से प्रकाशित किये गये हैं। ये कहाँसे मिले इस विषयमें इसके अनुवादक लाला कन्नोमलने एक अक्षर भी नहीं लिखा और लोगोंका भ्रम बढ़ानेके लिये अथवा स्वयं भ्रांत होनेके कारण इस 'बार्हस्पत्य' सूत्रको बार्हस्पत्य नीतिशास्त्र सिद्ध करनेकी चेष्टा की। इस बार्हस्पत्य सूत्रमें केवल ६ अध्याय और कुल ४३० सूत्र हैं। सूत्र केवल २२ पृष्ठोंमें हैं; परन्तु अनुवादक महाशयने अनुवाद तथा कुछ और मसाला मिलाकर इस पुस्तकको १०५ पृष्ठोंतक पहुँचा दिया है। लण्डन इण्डिया आफिसके पुस्तकालयके डा० एफ० डबल्यू० टामसके हाथ कहींसे "बृहस्पतिसूत्र" की एक प्रति पड़ गयी थी, जिसे उन्होंने सम्पादित और भाषान्तरित किया था। डा० टामसका संस्करण हमारे पास नहीं है, परन्तु लाला कन्नोमलकी पुस्तक उसीका रूपान्तर जान पड़ती है। खेद है कि लाला साहबने इस विषयकी कोई चर्चा नहीं की है। जो हो, बार्हस्पत्य नामकी पोथी चाहे कुछ पुरानी ही क्यों न हो, पर यह निर्विवाद है कि यह बार्हस्पत्य शास्त्र नहीं है। एक तो महाभारत के अनुसार इसमें तीन हजार

---

१ डा० काशीप्रसाद जायसवालने "हिन्दू पॉलिटी" ग्रंथमें लिखा है गौरशिराका उल्लेख प्राचीन लेखकोंके वर्गमें हुआ है। सम्भव है कि भरद्वाजके समकालीन हों। जायसवालजीका कहना है कि आश्वलायन गृह्यसूत्र ३।१२।१६ में राजनीतिके एक आचार्य आदित्यका भी उल्लेख है।

अध्याय होने चाहियें, पर इसमें छ ही हैं और दूसरे वह पद्यमें चाहिये और यह गद्यमें है। तीसरे सोमदेव सूरिके नीतिवाक्यामृतके टीकाकारने बृहस्पति और शुक्रके जो वचन उद्धृत किये हैं, वे पद्यमें हैं, गद्यमें नहीं। इससे स्पष्ट है कि यह बृहस्पतिकृत नीतिशास्त्र नहीं है।

यही बात शुक्रनीतिके विषयमें भी कही जा सकती है। इस नामकी जो पुस्तक मिलती है, वह शुक्रनीतिसार है, शुक्रनीति नहीं। इससे इसमें सन्देह नहीं रह जाता कि किसीने शुक्रनीतिका यह सार निकाला है। और भी, महाभारतके अनुसार शुक्रनीति हजार अध्यायोंका ग्रन्थ होना चाहिये और इसमें कुल चार ही अध्याय हैं। इसके सिवा इसमें चार विद्याएँ मानी गयी हैं, पर कौटिल्यका कहना है कि शुक्रके मतसे विद्या एक ही है और वह दण्डनीति है। फिर सोमदेव सूरिके ग्रन्थमें उद्धृत श्लोकोंमें कोई इस पुस्तकके श्लोकोंसे नहीं मिलता। शुक्रनीतिसारकी हमारी पुस्तकमें २४५४ श्लोक हैं। परन्तु चौथे अध्यायके १२४१वें श्लोकमें बताया गया है कि इसमें २२०० ही श्लोकहैं।[१] इससे यह निश्चय होता है कि पीछेसे किसीने २५४ श्लोक इसमें मिला दिये हैं जिनमें बहुतसे कामन्दकीय नीतिसारके हैं। परन्तु नीतिवाक्यामृत के टीकाकारने शुक्रादि आचार्योंके जो श्लोक दिये हैं, उनके विषयमें भी निश्चित रूपसे कहना कठिन है कि वे उन्हीके हैं या नहीं। बृहस्पति और शुक्र कौटिल्यसे पहलेके हैं इसमें तो कोई विवाद ही नहीं है, क्योंकि अर्थशास्त्रके प्रारम्भमें कौटिल्यने 'ॐ श्रीगणेशाय नमः' के बदले 'ॐ नमश्शुक्रबृहस्पतिभ्याम्' लिखा है। परन्तु नीतिवाक्यामृतकी टीका में उद्धृत 'महामात्यं वरो राजा निर्विकल्पं करोति यः। एकशोऽपि महीं लेभे हीनोऽपि वृषलो यथा॥' श्लोक सन्देह उत्पन्न करता है, क्योंकि शुक्रके समय

---

१ मन्वाद्यैराहृतो योऽर्थस्तदर्थो भार्गवेण वै।
द्वाविंशतिशतश्लोका नीतिसारे प्रकीर्त्तिताः॥

अर्थात् जिसे मनु आदिने अर्थ कहा है, उसीको शुक्रने भी अर्थ माना है। इस नीतिसारमें २२०० श्लोक कहे गये हैं।

तो वृषल चन्द्रगुप्तका कहीं पता ही न था, उसका उल्लेख वे कैसे कर सकते थे ? इसलिये कमसे कम यह श्लोक तो किसी प्रकार शुक्रका नहीं हो सकता।

इस समय उक्त बृहस्पतिसूत्र तथा शुक्रनीतिसारके अतिरिक्त चाणक्यसूत्र, चाणक्यनीति, विदुरनीति, विष्णुशर्माकृत पंचतंत्र और नारायण पण्डित कृत उसका रूपान्तर हितोपदेश, कौटिलीय अर्थशास्त्र, कामन्दकीय नीतिसार, नीतिप्रकाशिका, भर्तृहरि नीतिशतक तथा नीतिवाक्यामृत ही प्राप्य हैं। प्रो० जालीने जिस ग्रहं नीतिका उल्लेख कौटिलीय अर्थशास्त्रकी अपनी भूमिकामें किया है, उसमें राजनीतिकी अपेक्षा व्यवहार और दायभागकी ही चर्चा अधिक है। चाणक्यनीति और विदुरनीतिकी पुस्तकोंमें व्यावहारिक नीति बहुत है और उनके श्लोकोंको बच्चोंको कंठ करा देनेसे बड़ा लाभ होता है, परन्तु वे दण्डनीति के शास्त्रीय ग्रन्थ नहीं हैं। इसी प्रकार हितोपदेश भी बड़े काम की पोथी है और इसे अच्छी तरह समझकर याद रखनेवाला कभी धोखा नहीं खा सकता। और पंचतंत्रका तो कहना ही क्या है ? परन्तु फिर भी उसे हम शास्त्रका नाम नहीं दे सकते। इससे हम उसका महत्त्व कम नहीं करते। वह विश्वसाहित्यका समुज्ज्वल रत्न है। भारतको जगद्गुरु बनानेमें पंचतंत्रका कितना हाथ है यह जानकर किस हिन्दूका मस्तक ऊँचा नहीं हो जाता ?

पंचतंत्रकी कहानियां भारत और पड़ोसी देशोंकी सीमाओंका उल्लंघन करके सारे संसारको राजनीति सिखानेमें समर्थ हुई हैं। यूरोप और एशियाके राष्ट्रोंमें ही नहीं, अफ्रिकाके सोमाली और स्वाहाली लोगोंमें भी उनका प्रचार है। सन् १८५९ ईस्वीमें प्रोफेसर बेनफीने पचतंत्रका जो जर्मन भाषान्तर प्रकाशित किया था, उसमें उसके प्रसारका इतिहास बताया था। इसके अनुसार ईस्वी छठी शताब्दीमें पंचतंत्रकी कीर्त्तिकौमुदी ईरानमें फैली, क्योंकि पश्चिमोत्तर भारतमें इसका जो संस्करण प्रचलित था, ईरानके शाह खुसरो नौशेरवाँने उसका भाषान्तर हकीम बरज़ोरसे पहलवी भाषामें कराया था। नौशेरवाँका शासनकाल सन् ५३१ से ५७९ तक था। पंचतंत्र

का यह पहलवी संस्करण अब अप्राप्य है। परन्तु इसका उल्था शाम और अरबकी भाषाओंमें हो चुका था। ५७० ईस्वीमें शामके ईसाई महन्त बडने पंचतंत्रका जो अनुवाद प्रकाशित किया था, उसका नाम 'कालीलग और दमनग' रखा था। यह भी पूरा पूरा नहीं मिलता। परन्तु सन् ७५० ईस्वीमें अब्दुल्ला इब्नउल मुक्कफ्फाने पहलवीसे तर्जुमा कर उसका नाम 'कलीला और दिमना' रखा। 'कलीला और दिमना' उर्फ 'कालीलग और दमनग' पंचतंत्रके करटक और दमनक नामोंके रूपान्तर हैं। ये उन स्यारोंके नाम हैं, जिनका पंचतंत्रके 'मित्रलाभ' प्रकरणमें उल्लेख है। इस अरबी पंचतंत्रका ही भाषान्तर यूरोप और एशियाकी इतनी भाषाओंमें हुआ है कि उसके जर्मन भाषान्तरकार उल्फका कहना है कि बाइबिलके बाद इसी पुस्तकका बहुत अधिक भाषाओंमें उल्था हुआ है।[1] ईस्वी ११ वीं शताब्दी में इसका अनुवाद ग्रीक या यवन या यूनानी भाषामें हुआ और इससे इटालियन, लैटिन, जर्मन और स्लैवोनिक[2] भाषाओंमें कर लिया गया। ईस्वी १२वीं शताब्दी में रब्बी जोएलने हिब्रू (इब्रानी) भाषामें और सन् १२६६ से १२७८ ईस्वीके बीच ईसाई मत अङ्गीकार करनेवाले कपुआके यहूदी जान वा यहुन्नाने हिब्रूसे लैटिनमें इसका उल्था किया। इस लैटिन भाषान्तरका ही अनुवाद जर्मन भाषामें है।

राज्यशास्त्रके जो ग्रन्थ इस समय प्राप्य हैं, उनमें नीतिप्रकाशिका और कौटिलीय अर्थशास्त्र विशेष उल्लेखनीय हैं। नीतिप्रकाशिकाके रचयिता कृष्ण-द्वैपायन वेदव्यासके शिष्य वैशम्पायन बताये जाते हैं, जिन्होंने वेदोंका

---

१ बाइबिलसे इसके अनुवादमें यह विशेषता है कि इसका उल्था ज्ञान-लाभके लिये अन्य देशवालोंने अपनी ओरसे किया था, पर बाइबिलके उल्थे विभिन्न देशोंकी भाषाओंमें ईसाइयोंने स्वमतप्रचारार्थ निज व्ययसे कराये हैं।

२ वर्त्तमान जूगोस्लैविया और रूसकी भाषाएँ स्लैवोनिक वर्गमें रखी जाती हैं।

संस्करण करनेमें व्यासजीको सहायता ही नहीं दी थी, प्रत्युत स्वयं यजुर्वेदका सम्पादन भी किया था। वैशम्पायनने तक्षशिलामें पारीक्षित जनमेजयको धनुर्वेदका उपदेश दिया था, शस्त्रास्त्रोंका चमत्कार बतलाया था और राज्य की व्यवस्था समझायी थी। इसके पहले पाँच अध्यायोंमें धनुर्वेद और शस्त्रास्त्रों का, छठे और सातवेंमें सेनाके विभाग तथा संगठनका और आठवेंमें विविध विषयोंका वर्णन है, जिनमें राजाके अधिकारों और प्रजाके कर्त्तव्योंका भी समावेश है। यह बहुत ही छोटी पोथी है और अधिकसे अधिक धनुर्वेद की हस्तपुस्तिका कही जा सकती है।

कौटिलीय अर्थशास्त्र ही राज्यशास्त्र कहानेका अधिकारी है। इसीके आधारपर कामन्दकने अपने 'नीतिसार' और सोमदेव सूरिने अपने 'नीति वाक्यामृत' की रचना की है। कामन्दकने तो अपने ग्रन्थके आरम्भके कई श्लोकोंमें कौटिल्यका ऋण भी स्वीकार किया है। कहा है 'जिसने प्रतिग्रह (दान) न लेनेवाले विशाल वंशमें जन्म लिया और ऋषियोंकी भाँति पृथ्वी पर विख्यात हुआ, जो अग्निके समान कान्तिवाला था और जिसने एक वेदके समान चारों वेद पढ़े थे, जो जलती हुई आगके समान तेजस्वी था और जिसके अभिचार[1] रूपी वज्रद्वारा अच्छे पर्ववाला श्रीमान् नन्दवंश समूल नष्ट हुआ, जो पराक्रममें कार्तिकेयके समान था और जिसने अकेले

---

१ अथर्ववेदोक्त यंत्रतंत्रादिनिष्पादित मारणोच्चाटनादि हिंसात्मक कर्मको अभिचार कहते हैं। तंत्रसारमें इसकी यह विधि बतायो गयी है—'ओं विरुद्धरूपिणि चण्डिके वैरिणममुकं देहि देहि स्वाहा' इस मंत्रसे खड्गको अभि-मंत्रित करके तथा खड्गमंत्र पढ़कर खड्गको पूजा कर बकरे आदिको शत्रुका नाम देकर 'अमुकोऽसि' इस प्रकार वैरीके नामसे अभिमंत्रित करके लाल सूतसे तीन बार उसका मुँह बांधकर वैरीके नामसे प्राणप्रतिष्ठा करके 'ओं अयं सवैरी यो द्वेष्टि तमिम पशुरूपिणम्। विनाशाय महादेवि स्फें स्फें खादय खादय॥' पढ़कर बलिपशु के सिरपर फूल रखकर और बलिमंत्र पढ़कर बलिकी सम्यक् पूजा कर 'आश्विने मासि महानवम्यां अमुक गोत्रोऽमुक देवशर्मा अमुक

ही अपनी मंत्र-शक्तिसे मनुष्योंमें चन्द्रसदृश चन्द्रगुप्तको पृथ्वीका राज्य दिलाया जिसने अर्थशास्त्ररूपी महासागरसे नीतिशास्त्ररूपी अमृत निकाला, उस विष्णु-स्वरूप विष्णुगुप्तको मैं नमस्कार करता हूँ। राजविद्या प्रियतमा होनेके कारण मैंने सब विद्याओंके उस पारदर्शी विशुद्धज्ञानसम्पन्न विष्णुगुप्तके दर्शन—अर्थशास्त्रसे यह ग्रन्थ रचा है।[1]

नीतिशास्त्रके रचयिता कामन्दक कब हुए यह तो निश्चित रूपसे ज्ञात नहीं, परन्तु डा० फ्रेड्रिकने बताया है कि बौद्धोंके भयसे हिन्दू लोग अपनी बहुतसी संस्कृत पुस्तकें लेकर बाली द्वीप[2] चले गये थे और फिर उन्हें भारत लौटनेका अवसर नहीं मिला था। इन्हीं पुस्तकोंमें यह 'नीतिसार' ग्रन्थ भी था। इससे स्पष्ट है कि चौथे शतकमें 'नीतिसार' महत्त्वपूर्ण ग्रन्थोंमें समझा जाता था, नही तो लोग इसे बाली क्यों ले जाते? कामन्दकने नीतिसारमें जगह जगह कहा है कि यह हमारे गुरुका दर्शन वा सिद्धान्त

शत्रुनाशाय इमं छागं महिषं वा अमुक दैवतं भगवत्यै दुर्गायै तुभ्यमहं सम्प्रददे।' इस प्रकार उत्सर्ग करके 'आं कूं फट्' कहकर काटकर 'एत-द्रुधिरं दुर्गायै नमः' कहकर रक्त और शिर देकर मूल मंत्रसे अष्टांग मांसका हवन करे।

१ वंशे विशालवंशानामृषीणामिव भूयसाम्।
अप्रतिग्राह्यकाणां यो बभूव भुविविश्रुतः ॥२॥
जातवेदा इवार्चिष्मान् वेदान् वेदविदांवरः।
योऽधीतवान् सुचतुरश्चतुरोऽप्येकवेदवत् ॥३॥
यस्याभिचारवज्रेण वज्रज्वलनतेजसः।
पपात मूलतः श्रीमान् सुपर्वानन्दपर्वतः ॥४॥
एकाकी मंत्रशक्त्या यः शक्तया शक्तिधरोपमः।
आजहार नृचन्द्राय चन्द्रगुप्ताय मेदिनीम् ॥५॥
नीतिशास्त्रामृतं श्रीमानर्थशास्त्रमहोदधेः।
य उद्दध्रे नमस्तस्मै विष्णुगुप्ताय वेधसे ॥६॥

२ बालीद्वीप हिन्देशियामें है।

है। पर इससे यह नहीं जाना जाता कि कौटिल्यके अनुयायी होनेके कारण कामन्दकने उन्हें अपना गुरु कहा है अथवा वे वास्तवमें गुरु ही थे। कामन्दक नाम महाभारतके शान्तिपर्वके १२३ वें अध्यायमें आया ही नहीं है, अपितु वहाँ राजा आंगरिष्ठ और कामन्दक ऋषिका संवाद भी है। राजाने पूछा है कि मूर्खता और लोभके वश हो यदि राजा पाप करे और फिर पश्चात्ताप करे, तो हे ऋषि! उसके पाप कैसे नष्ट होंगे? फिर, यदि अज्ञानके कारण कोई मनुष्य पापकर्मको इस विश्वासपर करे कि मैं धर्मका आचरण करता हूँ, तो राजा उस प्रचलित पाप कर्मका दमन कैसे करे?

इन दोनो प्रश्नोंका उत्तर कामन्दकने ११ श्लोकोंमें दिया है जिसका सार है कि यदि राजा पापकर्मी दुष्टोंका दमन नहीं करता तो सब सुप्रजा उनसे वैसे ही डरा करती है, जैसे किसी कमरेमें छिपे हुए सर्पसे मनुष्य डरता है। प्रजा ऐसे राजाका अनुसरण नहीं करती। ब्राह्मण और अन्य धार्मिक मनुष्य भी ऐसा ही करते हैं। इसके परिणाम स्वरूप राजा बड़े संकट में रहता है और अन्तमें उसका जीवन भी संकटमय हो जाता है। अस्तु, इस वर्णनसे हम यह परिणाम भर निकाल सकते हैं कि ऋषि कामन्दक भी राजनीतिज्ञ थे, परन्तु यह नहीं कह सकते कि नीतिसारवाले कामन्दक भी यही थे या नहीं। तो भी यह निर्विवाद है कि ईस्वी. छठे शतकमें कामन्दक प्रसिद्ध थे, क्योंकि इसी समयमें रचित दशकुमारचरितमें कवि दण्डीने और सातवें शतकके उत्तरार्द्धमें कान्यकुब्जके राजा यशोवर्मकी राजसभाके पण्डित भवभूतिने अपने मालतीमाधव नाटकमें माधवकी नीतिनिपुणताको 'कामन्दकी' नाम दिया है। नीतिसारपर 'उपाध्यायनिरपेक्षा' और 'जय-मङ्गला' नामकी टीकाएं भी हैं। टीकाकार जयमङ्गलको कोई कोई ईस्वी सन् ६४४ से पहले हुआ बताते हैं। इससे नीतिसारकी प्राचीनतामें किसी प्रकार का सन्देह नहीं किया जा सकता।

नीतिवाक्यामृतके कर्त्ता जैनाचार्य सोमदेवसूरि थे। यह मार्केकी बात है कि आचार्य सोमदेवने अपने इस ग्रन्थमें कहीं साम्प्रदायिकताकी गन्धतक

नहीं आने दी है और कौटिल्यकी वैदिक परम्पराको बड़े ही सुन्दर ढंगसे अपना लिया है। इस ग्रन्थकी टीका जिस विद्वान्‌ने की है, उसने तो इसमें चार चांद लगा दिये हैं। टीकाकारका कहना है कि कान्यकुब्जके राजा महेन्द्रपालदेवने पूर्वाचार्यकृत अर्थशास्त्रकी दुर्बोधतासे खिन्न होकर ग्रन्थकर्त्ता को इस सुबोध, सुन्दर और लघुनीतिवाक्यामृतकी रचनामें प्रवृत्त किया। यह वैसा ही कारण है जैसा कामन्दकके सामने नीतिसार लिखनेके लिये था। इससे जाना जाता है कि महेन्द्रपालदेवके समय अर्थात् विक्रम संवत् ९६० और ९६४ के बीचमें नीतिसार या तो लुप्त हो गया था या दुर्बोध हो रहा था, जिससे नीतिवाक्यामृतके प्रणयनका प्रयोजन हुआ। टीकाकारने इस ग्रन्थकी मर्यादा बहुत अधिक बढ़ायी है, कारण यह कि मूल लेखकके मतके समर्थनमें शालिहोत्र, शिव पुराण, ज्योतिःशास्त्र तथा अज्ञात लेखकोंके अतिरिक्त वृहस्पति, शुक्र अंगिरा, ऋषिपुत्र, कविपुत्र, कामन्दक, गर्ग, गौतम, अत्रि, कौशिक, नारायण, भारवि, माघ, यम, वराहमिहिर वाल्मीकि, भृगु, भार्गव, विश्वकर्मा चाणक्य, विष्णुशर्मा, चारायण, जैमिनि, दक्ष, दन्तिल, देवल, धन्वन्तरि, नारद, पराशर, पालकि, भगवत्पाद, भागुरि, भारद्वाज, मनु, मार्कण्डेय, याज्ञवल्य, राजगुरु, राजपुत्र, रैम्य, वर्ग, वल्लभदेव, वशिष्ठ, वादरायण, व्यास, शौनक और हारीत आदिके श्लोक उद्धृत किये हैं। गुरु और वृहस्पति, शुक्र और भार्गव, वादरायण और व्यास एक ही पुरुषके दो नाम हैं। दो अलग-अलग नामोंसे वचन मिलनेके कारण दोनो नाम दिये गये हैं। बम्बईकी दिगम्बर जैन ग्रन्थमालाके प्रकाशक और इस ग्रन्थके भूमिकालेखक श्री नाथूरामजी प्रेमीके मतसे नीतिवाक्यामृतकी रचना सोमदेवने अपने यशस्तिलक ग्रन्थके बाद की है और यशस्तिलकका समय सं० १०१६ है। यदि नीति वाक्यामृतके प्रणयनका वही कारण हो जो ऊपर बताया गया है तो वह यशस्तिलकके पीछेका नहीं हो सकता। जो हो, इसमें सन्देह नहीं कि वैक्रमीय एकादश शतकमें नीतिवाक्यामृतकी रचना हो चुकी थी।

कौटिलीय अर्थशास्त्रका महत्त्व इसीलिये नहीं है कि वह नीतिसार और नीतिवाक्यामृतका आधार है, प्रत्युत इस कारणसे भी है कि उसका

लेखक व्यावहारिक राजनीतिज्ञ था और उसने उसे वास्तविक शास्त्रका रूप दिया है। उपलब्ध ग्रन्थोंमें अकेला यही राज्यशास्त्रका सर्वश्रेष्ठ ग्रन्थ है और इसीलिये इसकी इतनी महिमा है। ग्रन्थकारने अपना परिचय ग्रन्थके प्रकरणाधिकरण समुद्देशके अन्तमें इस प्रकार दिया है—अनुचित विस्तारसे रहित तथा सहजमें समझमें आजानेवाला यह शास्त्र कौटिल्यने ऐसे पदोंमें रचा है जिनका अर्थ निश्चित है।[1] इससे तथा प्रत्येक अध्यायके अन्तमें दिये हुए समाप्तिसूचक सङ्कल्पसे स्पष्ट है कि इस ग्रन्थका कर्त्ता कौटिल्य ही है। परन्तु ग्रन्थ-समाप्तिके समयका जो श्लोक है, उससे जाना जाता है कि जिसने कुशासन न सह सकनेके कारण शस्त्रों, शास्त्रों और पृथिवीका नन्दोंसे उद्धार किया था, उसीने इस शास्त्रकी रचना की है। १५ वें अधिकरणकी समाप्तिके सङ्कल्पके बाद जो श्लोक है, उसमें बताया गया है कि बहुधा शास्त्रोंमें भाष्यकारोंकी भूलें देखकर विष्णुगुप्तने स्वयं ही सूत्र और भाष्य किया[2]। इससे विष्णुगुप्त और कौटिल्यका एक होना प्रमाणित होता है। यह प्रसिद्ध है कि चाणक्यने चन्द्रगुप्तको मगधके सिंहासनपर बैठाया था और मुद्राराक्षस नाटककी पूर्वपीठिकामें कवि विशाखदत्तने चाणक्य और कौटिल्य दोनो नामोंका प्रयोग चाणक्यके लिये किया भी है। चाणक्य नामका तो यह कारण बताया गया है कि जब नन्दराजाने माता-पिता सहित कौटिल्यको बन्धनागारमें डाल दिया था, तब उन्हें खानेको चने ही दिलाता था। नीतिसारकी जयमङ्गला टीकामें शंकरार्यने लिखा है कि विष्णुगुप्त तो राशिनाम था और चाणक्य तथा कौटिल्य जन्मभूमि और

---

१ सुखग्रहणविज्ञेयं तत्त्वार्थपदनिश्चितम्।
कौटिल्येन कृतं शास्त्रं वियुक्तग्रन्थविस्तरम्॥ १६४॥

२ येन शस्त्रं च शास्त्रं च नन्दराजगता च भूः।
अमर्षेणोद्धृतान्याशु तेन शास्त्रमिदं कृतम्॥
दृष्ट्वा विप्रतिपत्तिं बहुधा शास्त्रेषु भाष्यकाराणाम्।
स्वयमेव विष्णुगुप्तश्चकार सूत्रं च भाष्यञ्च॥ ८०॥ अधि० १५

गोत्रके कारण उनके नाम थे।[1] सिद्ध हेमचन्द्रने अपने अभिधान चिन्तामणि में कौटिल्यके आठ नाम बताये हैं—वात्सायन, मल्लनाग, कौटिल्य, चाणक्य, द्रामिल, पक्षिलस्वामी, विष्णुगुप्त और अङ्गुल।[2] वाचस्पति मिश्रने अपनी तात्पर्यटीकामें न्यायभाष्यके कर्त्ता वात्सायनको पक्षिलस्वामी लिखा है। इससे न्यायभाष्यके कर्त्ता वात्सायन और कामसूत्रके रचयिता वात्सायन एक ही सिद्ध होते हैं। कामसूत्रमें अर्थशास्त्रके अनेक अंश ज्योंके त्यों मिलने से यह अनुमान करना अनुचित नहीं है कि कौटिल्यने ही वात्सायन नामसे कामसूत्रकी रचना की है और शास्त्रोंकेउद्धार करनेका जो अभिमान उन्होंने प्रकट किया है, वह डींग नहीं है। जो कामसूत्र, न्यायभाष्य और अर्थशास्त्र जैसे ग्रन्थ रच सकता है, उसके शास्त्रोंद्धारक होनेमें किसे सन्देह हो सकता है? विष्णु, मत्स्य और ब्रह्माण्ड पुराणोंमें चन्द्रगुप्तको राज्य दिलानेवाला कौटिल्य बताया है, परन्तु भागवतकारने उसे केवल द्विज कहा है।[3] चाणक्य नाम अर्थशास्त्र भरमें कहीं नहीं आया है, परन्तु पिछले दिनों इसी नामसे वे प्रसिद्ध थे। कदाचित् इसीलिये नीतिवाक्यामृत और पंचतंत्रमें भी चाणक्य नामका ही प्रयोग पाया जाता है। वृहज्जातकके मतसे विष्णुगुप्तका ही दूसरा नाम चाणक्य है। पक्षिलस्वामी नामका यह कारण बताया जाता है कि

---

१ विष्णुगुप्तेति सांस्कारिकी संज्ञा चाणक्यः कौटिल्य इति जन्मभूमिगोत्र-निबन्धने॥

२ वात्सायनो मल्लनागः कुटिलाश्चणकात्मजः।
द्रामिलः पक्षिलस्वामी विष्णुगुप्तोऽङ्गुलश्च सः॥

३ महापद्मः। तत्पुत्राश्चैकं वर्षशतमवनीपतयो भविष्यन्ति नवैव। तान्नन्दान् कौटिल्यो ब्राह्मणः समुद्धरिष्यति। तेषामभावे मौर्याश्च पृथिवीं भोक्ष्यन्ति। कौटिल्य एव चन्द्रगुप्तं राज्येऽभिषेक्ष्यति (विष्णु पु०) चन्द्रगुप्तं नृपं राज्ये कौटिल्यः स्थापयिष्यति (वायु और ब्रह्माण्ड पु०) कौटिल्यश्चन्द्रगुप्तन्तु ततो राज्येऽभिषेक्ष्यति (मत्स्य)। स एव चन्द्रगुप्तं वै द्विजो राज्येऽभिषेक्ष्यति (भागवत)।

विद्यार्थी अवस्थामें उनकी स्मरणशक्ति इतनी खर थी कि जो एक बार सुन लेते थे, उसे एक पक्षतक स्मरण रखते थे। द्रामिल नाम देशके कारण था। कदाचित् द्रामिल, द्राविड़ और तमिल पर्यायवाची ही हैं।

अब प्रश्न है कि जो उपलब्ध अर्थशास्त्र है वह क्या सचमुच कौटिल्य-कृत ही है। इस विषयमें यह मार्केकी बात है कि कवि दण्डीने अपने दश-कुमारचरितमें आचार्य विष्णुगुप्तकी दण्डनीतिका जहाँ उल्लेख किया है, वहाँ बताया है कि उन्होंने दण्डनीतिका सार निकालकर ६००० श्लोकोंमें रख दिया है। डा० आर० शामशास्त्रीके प्रयत्नसे जो अर्थशास्त्र मैसूर राज्यसे प्रकाशित हुआ है, उसके प्रकरणाधिकरण समुद्देशके अन्तमें लिखा है कि इसमें १५ अधिकरण, १५० अध्याय, १८० प्रकरण और ६००० श्लोक हैं। इसलिये दण्डीके समयमें जो अर्थशास्त्र प्रचलित था, वह निस्सन्देह यही है। हां, श्लोक और सूत्र शब्दोंके प्रयोगसे जो सन्देह होता है, उसका निराकरण यह है कि यद्यपि साधारणतः पद्यमें रची हुई बातें ही श्लोक और गद्यमें कही हुई सूत्र समझी जाती हैं, तथापि सूत्र और श्लोक दोनो एक ही हैं। एक श्लोकमें ३२ अक्षर होते हैं जिनका समुदाय ग्रन्थ कहाता है। इसप्रकार यह अर्थशास्त्र ६००० ग्रन्थ है। यदि इन अक्षरोंके समुदायको ३२।३२ के थोकोंमें बांट दें, तो ६००० अनुष्टुप् श्लोक बन जाते हैं।

एकायन,[1] दण्डनीति, नीतिशास्त्र, राजधर्म और राज्यशास्त्र प्राचीन नाम हैं। परन्तु कौटिल्यने अपने ग्रन्थको अर्थशास्त्र कहा है। इसके दो कारण जान पड़ते हैं। पहला यह है कि जैसे धर्मका नियामक धर्मशास्त्र, कामका कामशास्त्र और मोक्षका मोक्षशास्त्र है, वैसे ही अर्थका अर्थशास्त्र है। चतुर्वर्गके अनुसार शास्त्रोंका उल्लेख पञ्चतन्त्रमें भी हुआ है जैसे मन्वादिके धर्मशास्त्र,

---

१ एकायन कदाचित् प्राचीनतम नाम है क्योंकि छान्दोग्योपनिषद् ७।१।२ में इसका उल्लेख पाया जाता है, जिसका रचनाकाल प्रायः ५००० वर्ष पूर्व माना जाता है।

चाणक्यादिके अर्थशास्त्र और वात्सायनादिके कामशास्त्र।[1] दूसरा यह है और कौटिल्यने इस नामकरणका कारण भी यही बताया है कि मनुष्योंसे बसी हुई भूमि ही अर्थ है और इसे प्राप्त और रक्षण करनेके उपायोंको बतानेवाला शास्त्र ही अर्थशास्त्र है।[2] शुक्रनीतिसारका मत है कि श्रुतिस्मृतिसे अविरुद्ध राजकार्यका नाम शासन है और सुयुक्तिसे जिसमें अर्थोपार्जन बताया गया हो, वह अर्थशास्त्र है।[3] परन्तु सोमदेवसूरिने कहा है कि जिससे जब प्रयोजन सिद्ध हो, वह अर्थ है। अप्राप्तका प्राप्त करना, प्राप्तका रक्षण और रक्षितका परिवर्द्धन अर्थानुबन्ध है।[4] कौटिल्य दण्डनीतिके कार्योंका इस प्रकार वर्णन करते हैं कि यह 'अप्राप्तको प्राप्त करानेवाली, प्राप्तकी रक्षा करनेवाली, रक्षितको बढ़ानेवाली तथा बढ़ी हुई को तीर्थोंमें[5] लगानेवाली है। इस प्रकार राज्यशास्त्र, दण्डनीति, अर्थानुबन्ध, नीतिशास्त्र और अर्थशास्त्रको पर्यायवाचक ही मानना पड़ता है।[6] कौटिल्यके समयमें बहुतसे अर्थशास्त्र प्रचलित थे जिन्हें देखकर उन्होंने इसकी रचना की है। यह आचार्योंके नामोंसे ही जाना जाता है जिनकी चर्चा स्थान स्थानपर उनके मतोंके खण्डनमें की गयी है।

---

१ ततो धर्मशास्त्राणि मन्वादीनि, अर्थशास्त्राणि चाणक्यादीनि, कामशास्त्राणि वात्सायनादीनि।

२ मनुष्यवती भूमिरित्यर्थः ॥२॥ तस्याः पृथिव्याः लाभपालनोपायः शास्त्रमर्थशास्त्रमिति ॥३॥ अधि० १५ अ० १

३ श्रुतिस्मृत्यविरोधेन राजवृत्तं हि शासनम्।
सुयुक्त्यर्थार्जनं यत्र ह्यर्थशास्त्रं तदुच्यते ॥२९६॥ अ० ४

४ यतः सर्व प्रयोजनसिद्धिः सोऽर्थः ॥१॥
अलब्धलाभो लब्धपरिरक्षणं रक्षितपरिवर्द्धनं 'चार्थानुबन्धः ॥३॥ अर्थ समुद्देश, नीतिकाव्यामृत।

५ अलब्धलाभार्था, लब्धपरिरक्षणी रक्षितविवर्द्धनी वृद्धस्य तीर्थेषु प्रतिपादिनी च ॥ अधि० १ अ० ४

६ धर्मसमवायिनः कार्यसमवायिनश्च तीर्थम्। अर्थसमुद्देश, नीति-

ग्रन्थके आरम्भमें उन्होंने भी कह दिया है कि पृथिवीकी प्राप्ति और पालनमें पूर्वाचार्योंने जितने अर्थशास्त्र लिखे हैं, प्रायः उन सबका संग्रह करके ही अर्थशास्त्र बनाया है ।[1] आज उन अर्थशास्त्रोंका पता भी नहीं है । परमेश्वरको धन्यवाद है कि यह कौटिलीय अर्थशास्त्र ही हाथ आ गया ।

सोमदेव सूरि हिन्दू स्वाधीनताके अन्तिम दिनोंमें हुए थे । उनके बाद विधर्मियों और विदेशियोंद्वारा पादाक्रान्त भारतमें अर्थशास्त्र समझने समझानेका लोगोंको अवकाश भी नहीं मिला ! फिर भी इस शास्त्रकी सर्वथा उपेक्षा नहीं हुई । पुराणों और स्मृतिग्रन्थोंमें तो राजधर्म मुख्यतया वर्णित हुआ ही था, परन्तु १४ वें और १८ वें ईस्वी शतकोंमें भी कई धर्मनिबन्धकारोंने राज्यशास्त्रकी चर्चा अपने निबन्धोंमें की है । यही नहीं, चण्डेश्वर, लक्ष्मीधर, मित्रमिश्र और नीलकण्ठने राजनीतिपर स्वतंत्र ग्रन्थ तक लिखे हैं । चण्डेश्वरके ग्रन्थका नाम राजनीतिरत्नाकर, लक्ष्मीधरकी पुस्तकका नाम राजनीतिकल्पतरु और मित्रमिश्रके ग्रन्थका वीरमित्रोदय है । राजनीतिकामधेनु और राजनीतिमयूख भी इस विषयके ग्रन्थ हैं यद्यपि पुराने आचार्योंके ग्रन्थोंके सामने न इनकी विशेष पूछ हुई और न प्रसिद्धि ही; तथापि जहाँ इनके कर्त्ताओंने पूर्वाचार्योंके मतोंका ही बहुत अंशोंमें समर्थन किया है, वहाँ कहीं कहीं परिवर्त्तित स्थितिको स्वीकार करते हुए पूर्वाचार्योंसे भिन्न मत भी प्रकट किया है । उदाहरण स्वरुप चण्डेश्वरने राजाकी परिभाषाके विषयमें लिखा है कि "कुल्लूक भट्टकी यह परिभाषा ठीक नहीं है कि राजा

वाक्यामृत । अर्थात् जो पुरुष धर्मकार्यमें सहाय होते हैं और जिनके द्वारा धर्मकार्य निरूपित होते हैं, वे धर्मसमवायी हैं और जो सब कार्योंमें सहाय होते हैं और जिनसे बड़े कार्य सिद्ध होते हैं, वे कार्यसमवायी हैं और ये ही दोनों तीर्थ कहाते हैं । यहाँ धर्म शब्द प्रथम पुरुषार्थ अर्थमें आया है, वर्त्तमान रेलिजन वा मजहब अर्थमें नहीं ।

१ पृथिव्या लाभे पालने च यावन्त्यर्थशास्त्राणि पूर्वाचार्यैः प्रस्थापितानि प्रायशस्तानि संहृत्यैकमिदमर्थशास्त्रं कृतम् ।

शब्द क्षत्रियवाचक नहीं, किन्तु अभिषिक्त जनपदपालक पुरुष-वाचक है', क्योंकि प्रजारक्षक ही राजा है।" लक्ष्मीधर तो कान्यकुब्जके अन्तिम राजा जयचन्द्रके पितामह गोविन्दचन्द्रके महासान्धिविग्रहिक (परराष्ट्रसचिव) थे। इनके मतसे अर्थशास्त्र छठा वेद है।[1] परन्तु पाँच वेदोंकी उपेक्षासे चाहे हिन्दू जातिकी विशेष हानि न हुई हो, इस छठे वेदकी अवहेलनासे उसकी जो दुर्दशा हुई है, वह अकथनीय है। यह नहीं कहा जा सकता कि अभी इसकी कोई गति और होनी है या नहीं। परन्तु अब तक जो कुछ हुआ, उसे देखते हुए कहना पड़ता है कि यही होना था। क्या यह आश्चर्यकी बात न होती कि जो विद्या सब विद्याओंका आधार हो, उसकी उपेक्षा करके भी कोई जाति संसारमें अपना सिर ऊँचा किये रहे? शुक्रनीतिसारके आरम्भमें ही नीतिशास्त्र वा दण्डनीतिकी महिमा बतायी गयी है। कहा गया है कि नीतिशास्त्र सबका उपजीवक है और धर्म, अर्थ, काम तथा मोक्षका दाता है। अन्य शास्त्र, तथा व्याकरण, न्याय, मीमांसा और वेदान्त बुद्धिकी चतुराई दिखानेवाले हैं, किन्तु केवल नीतिशास्त्र ही व्यावहारिक शास्त्र है।[2] वास्तवमें बात भी यही है। व्याकरण, न्याय, मीमांसा और वेदान्तसे हमारे जीवनके दैनिक प्रश्न हल

---

१ महाभारत पाचवाँ वेद कहाता है, इसलिये अर्थशास्त्र छठा वेद है।

२—सर्वोपजीवकं लोकस्थितिकृन्नीतिशास्त्रकम्।
धर्मार्थकाममूलं हि स्मृतं मोक्षप्रदं यतः ॥५॥
सुनीतिकुशला नित्यं प्रभवन्ति च भूमिपाः।
शब्दार्थानां न किं ज्ञानं विना व्याकरणाद्भवेत् ॥७॥
प्राकृतानां पदार्थानां न्यायतर्कैर्विना न किम्।
विधिक्रियाव्यवस्थानां न किं मीमांसया विना ॥८॥
देहावधि नश्वरत्वं वेदान्तैर्न विना हि किम्।
स्वस्वाभिमतबोधीनि शास्त्राण्येतानि सन्ति हि ॥९॥
तत्तन्मतानुगैः सर्वैर्विधृतानि जनैः सदा।
बुद्धिकौशलमेतद्धि तैः किं स्याद व्यवहारिणाम् ॥१०॥

नहीं होते और न उनके न जाननेवाले की कोई वास्तविक हानि ही होती है। परन्तु नीतिशास्त्र वा अर्थशास्त्रके न जानने से राज्य चौपट हो गये और दण्डके अप्रयोग वा दुष्प्रयोगसे राज्यों और राजाओंका नाश हुआ। महाभारतमें दण्डनीतिका एक नाम राजधर्म भी बताया गया है। उसमें कहा गया है कि जब दण्डनीति निर्जीव हो जाती है, तब वेदत्रयी डूब जाते और बढ़े हुए अन्य धर्म भी नष्ट हो जाते हैं। प्राचीन राजधर्म वा दण्डनीति का जब त्याग कर दिया जाता है, तब सब धर्म और आश्रम मिट जाते हैं। राजधर्ममें ही सब त्याग देखे जाते हैं और सब दीक्षा राजधर्ममें ही मिली हुई हैं, सब विद्याएँ राजधर्ममें ही कही गयी हैं और सब लोक राजधर्ममें ही केन्द्रीभूत हैं।[1] सचमुच इससे बढ़कर राजधर्मकी महिमा का वर्णन नहीं हो सकता। क्या अश्चर्य कि इसी महिमा के कारण शुक्राचार्यने दण्डनीति ही एक मात्र विद्या मानी है। परन्तु भारतका दुर्भाग्य कि उसके राजाओं और प्रजाने दण्डनीति का मूल्य नहीं समझा और इसकी उपेक्षा करके देशको परतंत्रता के गहरे गढ़ेमें गिरनेसे नहीं रोका। इधर कुछ समयसे लोगोंका ध्यान इस ओर गया है यह देशके उज्ज्वल भविष्यका सूचक है।

—(:*:)—

सर्वलोकव्यवहारस्थितिर्नीत्या विना न हि।
यथाशनैर्विना देहस्थितिर्न स्याद्धि देहिनाम् ॥११॥ अ० १

१ मज्जेत्त्रयी दण्डनीतौ हतायां सर्वे धर्माः प्रक्षयेयुर्विवृद्धाः।
सर्वे धर्माश्चाश्रमाणां हताः स्युःक्षात्रे त्यक्ते राजधर्मे पुराणे ॥२८॥
सर्वे त्यागा राजधर्मेषु दृष्टाः सर्वा दीक्षा राजधर्मेषु चोक्ताः।
सर्वा विद्या राजधर्मेषु युक्ताः सर्वे लोका राजधर्मे प्रविष्टाः ॥२९॥
शान्तिपर्व, अ० ६३

१ विद्या और कला

विद्या और कला की परिभाषाएँ

विद्या ज्ञानका नाम है। जिसे जानकर मनुष्य आत्माका हितसाधन करता है और अहितका नाश करता है, उसे विद्या कहते हैं। परन्तु यह ज्ञान अध्ययन और मननद्वारा प्राप्त होता है, इसलिये वाणीके बिना असम्भव है। आजकल गूंगोंको पढ़ाने की नयी प्रक्रिया निकली है और उससे काम भी लिया जाता है, पर उससे उन्हें साधारण लिखना पढ़ना ही आता है। कोई कोई गूंगे विद्यावान् भी निकले हैं। इसलिये विद्याको वाणीकी अपेक्षा रहती है, परन्तु कलामें गूंगा भी निपुण हो सकता है, क्योंकि इसमें हाथ-पैरका ही काम पड़ता है। यह शुक्रनीतिसारका मत है। परन्तु गवैयोंको भी कलावँत (कलावन्त) कहते हैं। वात्स्यायन तथा जैनाचार्योंने 'कार्य करनेके कौशल' को ही कला माना है, क्योंकि गीत और छन्दो-विज्ञानको भी उन्होंने कलाओंके अन्तर्गत अपने विद्या समुद्देशमें रखा है।

छान्दोग्य और बृहदारण्यक उपनिषदों के अनुसार विद्याएँ

प्राचीन कालमें अध्ययन योग्य विद्याएँ कौन कौन थीं इसका कुछ पता छान्दोग्योपनिषद्के ७वें अध्यायके पहले खंडसे जाना जाता है। कहते हैं कि एक बार नारदजी भगवान् सनत्कुमारके पास विद्याकी भिक्षा माँगने गये। उस समय इन्होंने नारदसे पूछा कि तुमने क्या क्या पढ़ा है, क्योंकि बिना यह जाने कुछ पढ़ानेसे सम्भव था कि उनकी पढ़ी विद्याका ही उपदेश नारदजीको सनत्कुमार कर देते। इसपर नारदजी कहने लगे, 'भगवान्! मैंने ऋग्वेद पढ़ा है, यजुर्वेद और सामवेद पढ़ा है, चौथा अथर्ववेद भी पढ़ा है। पाँचवा इतिहास पुराण पढ़ा है; पित्र्य (पितृविद्या), राशि (गणित), दैव (सगुन असगुन वा science of portents),

निधि (ज्योतिष), वाकोवाक्य (तर्कशास्त्र), एकायन (नीतिशास्त्र), देवविद्या, ब्रह्म-विद्या, भूतविद्या, क्षत्रविद्या (धनुर्वेद), नक्षत्रविद्या, देवजन-विद्या (नृत्यगीतवाद्यशिल्पादि विज्ञान), ये सब विद्याएं पढ़ी हैं।[1] वृहदारण्यक उपनिषद्में विद्याओंकी यह सूची मिलती है—ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, अथर्ववेद, इतिहास, पुराण, विद्या (ललित कला), उपनिषद्, श्लोक, सूत्र, अनुव्याख्यान और व्याख्यान।[2]

विष्णु पुराणके अनुसार

विष्णुपुराणमें १८ विद्याओंका उल्लेख इस प्रकार पाया जाता है—४ वेद, ६ वेदाङ्ग (शिक्षा,कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्द और ज्योतिष), मीमांसा, न्याय, धर्मशास्त्र,पुराण,आयुर्वेद, धनुर्वेद, गान्धर्ववेद और अर्थशास्त्र, ।[3]

शुक्रनीतिसारके अनुसार विद्याएं ३२ और कलाएं ६४ हैं। ३२ विद्याओंमें प्रथम १४ विद्याएं तो विष्णुपुराणोक्त ही हैं, केवल इतना अन्तर है कि उपवेदोंमें जहां शुक्रनीतिसारने तंत्रवेद रखा है, वहाँ विष्णुपुराण अर्थशास्त्र लिखता है। ३२ विद्याएं ये हैं—१ ऋग्वेद, २ यजुर्वेद ३ सामवेद, ४ अथर्ववेद, ५ आयुर्वेद,

---

१ ऋग्वेदं भगवोऽध्येमि यजुर्वेदं सामवेदमाथर्वणं चतुर्थमितिहासपुराणं पञ्चम वेदानां वेदं पित्र्यं राशिं दैवं निधिं वाकोवाक्यमेकायनं देवविद्यां ब्रह्मविद्यां भूतविद्यां क्षत्रविद्यां सर्पदेवजनविद्यामेतद् भगवोऽध्येमि। छान्दोग्य ७। १।२

२ ऋग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्वाङ्गिरस इतिहासः पुराण विद्या उपनिषदः श्लोकाः सूत्राण्यनुव्याख्यानानि व्याख्यानान्यस्यैवैतानि सर्वाणि निःश्वसितानि। वृहदारण्यक २।४।१०

३ अङ्गानि वेदाश्चत्वारो मीमांसा न्यायविस्तरः।
धर्मशास्त्रं पुराणञ्च विद्याह्योताश्चतुर्दश॥
आयुर्वेदो धनुर्वेदो गान्धर्वश्चेति ते त्रयः।
अर्थशास्त्र चतुर्थञ्च विद्या ह्यष्टादशैव ताः॥

शुक्रनीतिसार-की ३२ विद्याएं धनुर्वेद, ७ गान्धर्ववेद, ८ तंत्रवेद, ९ शिक्षा १० कल्प, ११ व्याकरण, १२ निरुक्त, १३ छन्द, १४ ज्योतिष, १५ मीमांसा, १६ न्याय (तर्क), १७ सांख्य, १८ वेदान्त, १९ योग, २० इतिहास, २१ पुराण, २२ स्मृति, २३ नास्तिक मत, २४ अर्थ-शास्त्र, २५ कामशास्त्र, २६ शिल्पशास्त्र, २७ अलंकार, २८ काव्य, २९ देश-भाषा, ३० अवसरोक्ति, ३१ यवन मत और ३२ देशादिके धर्म।

गान्धर्ववेद की ७ हावभावयुक्त नृत्य, वाद्योंका ज्ञान और वादन, अनेक रूपोंके आवि-र्भावसे कार्योंका ज्ञान, स्त्रीपुरुषोंका वस्त्रालङ्कारधारण, सेजमें फूल बिछाना, अनेक आसनोंसे रतिके सन्धानका ज्ञान और जुआ खेलना ये गान्धर्व विद्याकी सात कलाएं हैं। मकरन्द

और आयुर्वेदकी १०कलाएं और आसव आदि बनाना, छिपे हुए घावको निकालना हीन और अधिक रसके संयोगसे अन्नादिका पचाना, वृक्ष आदिके कलम लगाना और उन्हें तैयार करना, पत्थर तथा धातु आदिको गलाना और भस्म करना, ऊखसे गुड़ आदि बनाना, धातुओं और औषधियोंका संयोग करना, मिली हुई धातुओंको अलग अलग करना, धातु आदिके अपूर्व संयोगका ज्ञान और क्षार निकालना ये आयुर्वेदकी दस कलाएं हैं।

धनुर्वेदकी कलाएं निशाना लगाना और पैर आदिके सहारेसे शस्त्र चलाना, मल्लयुद्ध (कुश्ती), अस्त्रनिपातन (हथियार फेंकना), बाजेके संकेतसे व्यूह रचना और गज, अश्व, रथ आदिकी गतिसे युद्ध संचालन ये धनुर्वेदकी पांच कलाएं हैं।

विविध ४२ कलाएं अनेक प्रकारके विविध आसनों और मुद्राओंसे देवताओं को प्रसन्न करना, गज अश्व आदिकी चालकी शिक्षा, सारथीका काम, मिट्टी काठ, पत्थर आदिके पात्र बनाना, चित्र खींचना, तालाब बावली और महल आदि भूमि बराबर करना, घड़ी आदि अनेक यंत्र और बाजे बनाना, हल्के गहरे और मामूली रंगसे रंगना, जल, वायु और अग्निका संयोग और निरोध

नाव, रथ आदि यान बनानेकी रीति, सूत आदिसे रस्सी बनाना, अनेक तन्तुओंके योगसे पाट बुनना, रत्न वेध करनेमें अच्छे बुरेकी परख, सोना आदि धातुओंका यथार्थ स्वरूप ज्ञान, नकली सोने आदिकी क्रिया का ज्ञान, सोने आदके गहने बनाना और जिला करना, चमड़े आद-की कोमलताका ज्ञान, पशुके चर्म और अंगको स्वच्छ करनेका ज्ञान, दूध दुहना और घी निकालना, कपड़ा सीना, तैरना, वर्तन मलना, कपड़े धोना, बाल बनाना, तिल आदिसे तेल निकालना, हल चलाना, पेड़पर चढ़ना स्वामीके मनोऽनूकूल सेवा करना, बांससे और फूस के पात्र बनानेकी विधि, कांचके वर्तन बनाना, जल भरना और सींचना, लोहेके शस्त्रास्त्र बनना, हाथी घोड़े ऊंट और बैलकी पालनविधि, बच्चोंका संरक्षण (संगोपन), गोद लेना और खिलाना, अपराधीको मारनेमें उचित ताड़नाका ज्ञान, नाना देशोंके अक्षर लिखनेका ज्ञान पानीकी रक्षाका ज्ञान, सीखना जल्दी काम करना, सिखलाना और विलम्ब से काम करना।[1]

जैनोंकी ७२ कलाएं

जैन ग्रथोंमें स्त्रियों से ६४ कलाओंके सिवा पुरुषोंकी ये ७२ कलाएं भी बतायी गयी हैं—लेह (लेख), गणिय (गणित), रूव (रुपाङ्क), नत्त (नाच), गीय (गीत), वाइय (यंत्र वाद्य) सरगम (मुखवाद्य), पोक्खोर गय (ढोल बजाना), समताल (ताल बजाना) जूय (जुआ खेलना), जणवाय (एक प्रकारका पासा खेलना), पासय (पाँसा फेंकना) अट्ठावय (शतरंज खेलना), पोर कव्व (आशु कवित्व), उगमत्तिय (अन्तर्गत वा सम्मलित वस्तुओंका ज्ञान), अन्नविह (भोजन विधि) पानविहि (मद्यपानकी विधि), वत्थविह (वस्त्रविधि), विलेवणविहि (विलेपनविधि), सयणविह (शयनविधि), अज्जे (आर्या छन्द रचना), पहेलिय (पहेलियां) मागहिय (मागधि प्राकृतमें रचना करना), गाहा (गाथा रचना), गीय (गीतिकाव्य या आल्हा रचना), सिलोय

१ शुक्रनीतिसार श्लोक २६४—३३८ अध्याय ४

(श्लोक बनाना), हिरण्णजुति (हिरण्ययुक्ति वा सोना साफ करनेकी युक्ति), सुवण्ण जुति (साफ सोना बनानेकी युक्ति), चुण्णजुति (चूर्ण करनेकी युक्ति), आभरणविहि (आभूषण पहननेकी विधि), तरुणी-परिकम्म (तरुणियोंको सजाने या रंग बदलनेकी रीति), इत्थिलक्खण (स्त्री-लक्षण), पुरिसलक्खण (पुरुषलक्षण), हयलक्खण (हयलक्षण), गयलक्खण (गजलक्षण), गोणलक्खण (बैलके लक्षण), कुक्कुड़ लक्खण (कुक्कुटलक्षण), छत्तलक्खण (छत्रलक्षण), डण्डलक्खण (डंडोंके लक्षण), असिलक्खण (तलवारके लक्षण), मणिलक्खण, कागनीलक्खण (काकिणीलक्षण), वत्थुविज्जा (वास्तु विद्या= गृहनिर्माण कला), खम धम्माण (छावनियोंका मापन), नगरमाण (नगरमापन), वूह (व्यूह रचना), पडि-वूह (प्रतिव्यूह अर्थात् व्यूह-के जवाबमें व्यूह रचना), चर (भेद लेना), पडिचर (प्रतिचर), चक्क-वूह (चक्र व्यूह), सगडवूह (शकटव्यूह), गरुडवूह, जुड्ढ (युद्ध), निजुड्ढ (नियुद्ध=कुश्ती), जुड्ढातिजुड्ढ (गहरी लड़ाई), डिट्ठि जुड्ढ (दृष्टियुद्ध), मुट्ठिजुड्ढ (मुष्टि युद्ध), बाहुजुड्ढ, गदाजुड्ढ, ईसत्थ (बाणों का ज्ञान), चारुप्प वाय (तलवार चलाना), धणुव्वेय (धनुर्वेद), हिरण्ण पाग (सोनेका ढालना), सुवण्ण पाग (सुवर्णका ढालना), सुत्त खेड़ (डोरीका खेल), कडच्छेज्ज (परस्पर दूर रखी हुई चीजोंका एक साथ छेदना), वत्थ खेड़ (वस्त्रका खेल), नाडिका खेड़ (नलका खेल), पत्त छेज्ज (एक ही साथ कई पत्तोंको छेदना), सज्जीव (जीवन-दान करना) निज्जीव (जीवन हरण करना) और सउणरुत (चिड़ियोंकी बोलियोंसे शुभा शुभका ज्ञान)।[1] यह सूची आवश्यकतासे अधिक बढ़ायी गयी है और विद्या और कलाएँ एक ही साथ कर दी गयी हैं। धनुर्वेदके अन्तर्गत ही ईसत्थ है तथा अज्जे, पहेलिय, मागहिय, गाहा और गीय नामकी कलाएँ एकमें ही की जा सकती हैं। इसी प्रकार जुड्ढ में जुड्ढातिजुड्ढ डिट्ठिजुड्ढ

१ यह सूची समवायांगसे (पृ० ७२) ली गयी है। पर अन्य ग्रन्थोंमें भी पायी जाती है।

और गदाजुद्ध और वूहमें पडिवूह, चक्कवूह, सगडवूह और गरुडवूह नाम की कलाएँ आ सकती हैं। सोना पकाने और बाजीगरीके खेलोंकी संख्याएँ भी घट सकती हैं। इस तरह कलाओंकी संख्या ३२के लगभग लायी जा सकती है।

परन्तु राज्यशास्त्रके आचार्योंने न ३२ विद्याएँ मानी हैं और न ६४ या ३२ कलाँएँ। उनके मतसे तो चार ही विद्याएँ हैं और उन्हींमें सबका समावेश हो जाता है। वे चार विद्याएँ हैं—आन्वीक्षिकी,

विद्याएँ चार ही हैं। त्रयी, वार्त्ता और दण्डनीति। जिस शुक्रनीतिसारमें ३२ विद्याएँ और ६४ कलाएँ बतायी गयी हैं, उसीमें कामन्दक के नीतिसारसे एक श्लोक उद्धृत है जिसमें उक्त चार विद्याएँ मानी गयी हैं। परन्तु शुक्राचार्यके अनुयायी तो केवल एकही विद्या मानते हैं और वह है दण्डनीति, क्योंकि सब विद्याओंका आदि और अंत इसीमें होता है। वृहस्पतिके अनुयायियोंको यह मत मान्य नहीं है और ये दो विद्याएँ मानते हैं—वार्त्ता और दण्डनीति। मनुके अनुयायी तीन विद्याएँ मानते हैं—त्रयी वार्त्ता और दण्डनीति। परंतु कौटिल्यका कहना है कि विद्या चार ही हैं—आन्वीक्षिकी, त्रयी, वार्त्ता और दण्डनीति, क्योंकि इन्हींसे धर्मार्थका ज्ञान होता है। बादके सभी आचार्य कौटिल्यके अनुयायी जान पड़ते हैं, क्योंकि चार विद्याएँ हैं इसका किसीने खंडन नहीं किया।

कौटिल्यका कहना है कि आन्वीक्षिकीमें सांख्य, योग दर्शन और लोकायत[1] हैं और यह विद्या सुख-दुःखमें बुद्धिको ठीक रखती है तथा सोचने, विचारने, बोलने और काम करनेकी चतुरता उत्पन्न करती है।

---

१ महाभारतके आदि पर्वमें इसका उल्लेख है। कालीप्रसन्न सिंहके महाभारतके बंगला भाषांतरमें इसका अर्थ बौद्धमत किया गया है। परन्तु महाभारतके टीकाकार नीलकंठका कहना है कि संसारको ही सब कुछ समझनेवाला लोकायत है। इसलिये यह चार्वाक मत है।

कौटिल्यके अनुसार चारों विद्याओंकी व्याख्या

यह सब विद्याओंका प्रदीप, सब कार्योंका साधन और सब वर्णों का आश्रय है। त्रयीमें ऋग्वेद, यजुर्वेद और सामवेद हैं तथा अथर्ववेद और इतिहास वेद ये सब मिलकर वेद कहलाते हैं। त्रयी अत्यन्त उपयोगी है, क्योंकि इसमें वर्णों और आश्रमोंके धर्मोंका निरूपण किया गया है और यह सबको अपने अपने धर्मोंपर अटल रखनेमें अत्यन्त उपकारी है। कृषि, पशुपालन और वाणिज्यका नाम वार्त्ता है। यह अन्न, पशु, सोना, ताँबा आदि धातुओं, ज़ंगली चीजों तथा नौकर चाकर देनेके कारण बहुत उपकारिणी है तथा कोश और दण्डकी सहायतासे अपने तथा परायेको वशमें कर लेती है। परन्तु इन तीनोंके योग और क्षेमका साधन दण्ड है और उसकी नीति दण्डनीति है। इसीसे न मिली हुई वस्तु मिलती है, मिलीकी रक्षा और रक्षितकी वृद्धि होती है तथा यह तीर्थोंमें[1] बाँटी जाती है। संसारका निर्वाह इसीके सहारे होता है।

कौटिल्यकी वर्णाश्रमव्यवस्था

त्रयीके प्रसंगमें कौटिल्यने वर्णाश्रमधर्मकी भी चर्चा की है। कहा है कि ब्राह्मणका धर्म वेद पढ़ना पढ़ाना, यज्ञ करना, कराना और दान देना, लेना है। क्षत्रियका धर्म वेद पढ़ना, यज्ञ करना, दान देना तथा क्षात्रजीविका करना और प्राणियोंका संरक्षण है तथा वैश्यका भी वेद पढ़ना, यज्ञ करना, दान देना और कृषि, गोरक्षा और व्यापार करना है। शूद्रका धर्म द्विजातियोंकी सेवा, कृषि, गोरक्षा, व्यापार, शिल्प तथा मागधका[2] कार्य करना है। शूद्रोंके विषयमें कौटिल्यने स्मृतिकारोंकी अपेक्षा अधिक उदारता दिखलायी है, क्योंकि जहाँ औरोंने उन्हें केवल सेवक बनाकर छोड़ दिया था,

---

१ तीर्थ का अर्थ वह नहीं है जिसकी यात्रा लोग किया करते हैं, वरञ्च उन्हें तीर्थ कहते हैं जिनके द्वारा धर्म तथा अन्यान्य अच्छे काम होते हैं, अथवा जिनसे उनमें सहायता मिलती है।

२ मागध एक प्रकारके भाट हैं, जो राजाओंकी विरुदावली और

वहाँ इन्होंने उनके लिये कृषि, गोरक्षा और शिल्प-वाणिज्यका द्वार भी खोल दिया तथा मागधका काम विशेष रूपसे उनको बता दिया है। आश्रमोंमें सबसे पहले कौटिल्यने गृहस्थका स्मरण किया, क्योंकि सभी आश्रमोंका आधारभूत वही है। गृहस्थका धर्म है कि अपने धर्मानुसार जीविका करे, अपने समान लोगोंके भिन्न-भिन्न गोत्रोंमें विवाह करे, ऋतुस्नानके बाद स्त्रीसहवास करे तथा देव, पितृ, अतिथियों और नौकरोंको भोजन देकर आप भोजन करे। ब्रह्मचारीका धर्म है वेदा-ध्ययन, अग्निहोत्र, नित्य-स्नान करना, भिक्षावृत्तिसे रहना और अपने गुरु तथा उसके अभावमें गुरुपुत्र और इसके अभावमें बड़े गुरु-भाईकी सेवा करना। वानप्रस्थका धर्म है जितेन्द्रिय रहना, पृथ्वीपर सोना, जटा रखना, मृगचर्म पहनना, अग्निहोत्र, नित्यस्नान करना, देव, पितृ और अतिथिपूजन करना तथा कन्द फल मूल खाना। परिव्राजक वा संन्यासीका धर्म है इन्द्रियोंका पूर्ण निग्रह करना, कामना रहित होना, किसी वस्तुपर अधिकार न रखना, कई जगहोंसे भिक्षा करके खाना, वनमें रहना तथा भीतरी और बाहरी शुद्धता रखना। अहिंसा, सत्य, शौच, अद्वेष अनिष्ठुरता और क्षमा ये सबके धर्म हैं।

वार्त्तामें खेती, पशुपालन और वाणिज्य हैं। इससे अन्न, पशु, हिरण्य (सोना) आदि, कुप्य (जंगली चीजें), नौकर चाकर वा बारबरदार मिलते हैं, इसलिये यह बड़े उपकारकी विद्या है और

वार्त्ताकी विशेषता

राजा इसीकी बदौलत कोश और दण्डसे अपनों और

वंशावली पढ़ा करते हैं। वे कड़खैत भी होते हैं। मनुस्मृतिके अनुसार वे क्षत्रिय मातासे उत्पन्न हुए हैं और उनकी जातिकी जीविका वाणिज्य है। पर बृहद्विष्णुके मतसे मागध शूद्र और क्षत्रियका तथा गौतमके मतसे वैश्य और ब्राह्मणीका और बौधायनके अनुसार शूद्र और वैश्याका पुत्र है। भाट क्षत्रिया और ब्राह्मणकी सन्तान समझा जाता है।

परायोंको वशमें कर लेता है।[1] इस वर्णनसे जाना जाता है कि वैश्यकर्म राज्य संचालनके लिये अत्यन्त आवश्यक कार्य है। यही नहीं हम यूरोपियनोंके उदाहरणसे जान भी रहे हैं कि उन्होंने वार्त्ता विद्यामें नैपुण्य प्राप्त करनेके कारण ही संसारपर अपना प्रभुत्व प्रस्थापित किया है।

परन्तु आन्वीक्षिकी, त्रयी और वार्त्ताके योगक्षेम अर्थात् सम्पादन और रक्षणका साधन दण्ड है। उसकी नीति दण्डनीति है। इसीसे अप्राप्त वस्तुकी प्राप्ति, प्राप्तकी रक्षा, रक्षितकी वृद्धि होती है और बढ़ी हुई वस्तु तीर्थों वा उपयुक्त पात्रोंमें बाँटी जाती है। संसारका निर्वाह इसीपर अवलम्बित है।[2] महाभारतमें भी बताया गया है कि राजाद्वारा दण्डनीतिका सुप्रयोग चातुर्वर्ण्यको अपने अपने धर्मका अवलम्बी बनाता और अधर्मसे निवृत्त करता है। इससे चारो वर्ण अपने अपने कर्म करते और मर्यादाका उल्लंघन नहीं करते और दण्डनीतिसे रक्षित होनेपर प्रजा निर्भय तथा सुख-स्वच्छन्दतासे रहती है।[3] अभिप्राय यह कि दण्डनीतिके अनुसार जो राजा दण्डविधान करता है, उसके राज्यमें किसी प्रकारकी गड़बड़ नहीं

दंडनीतिकी महिमा

---

१ कृषिपशुपाल्ये वाणिज्या च वार्त्ता ॥१॥ धान्यपशुहिरण्यकुप्यविष्ठिप्रदानादौपकारिकी ॥२॥ तया स्वपक्षं परपक्षं च वशीकरोति कोशदण्डाभ्याम् ॥३॥ अर्थ० अधि० १, अ०४।

२ आन्वीक्षिकीत्रयीवार्त्तानाम् योगक्षेमसाधनो दण्डः ॥४॥ तस्य नीतिर्दण्डनीतिः ॥५॥ अलब्धलाभार्था, लब्धपरिरक्षणी, रक्षितविवर्द्धनी, वृद्धस्य तीर्थेषु प्रतिपादनी च ॥६॥ तस्यामायत्ता लोकयात्रा ॥७॥ अर्थशास्त्र, अधि० १, अ० ४।

३ दण्डनीतिः स्वधर्मेभ्यश्चातुर्वर्ण्यं नियच्छति।
प्रयुक्ता स्वामिना सम्यगधर्मेभ्यो नियच्छति ॥७६॥
चातुर्वर्ण्ये स्वकर्मस्थे मर्यादानामसङ्करे।
दण्डनीतिकृते क्षेमे प्रजानामकुतोभये ॥७७॥ शान्तिपर्व अ० ६९।

होती, प्रजा सुखी रहती है, जिससे शत्रुके आक्रमण करनेका साहस नहीं होता। परन्तु जो राजा क्रोध वा अज्ञानसे दण्ड व्यवस्था करता है अथवा दण्डनीयको दण्ड नहीं देता, वह सबको विद्वेषी बना लेता है, उसके राज्यमें दण्डधरके अभावमें मात्स्यन्याय होता है, जिसमें सबल निर्बलको खाते हैं। गुरुका यह वचन इसीकी पुष्टिमें है कि जो दण्ड्यको दण्डित नहीं करता अथवा अनुचित दण्ड देता है, उसके राष्ट्रमें निस्सन्देह मात्स्यन्याय होता है।[1] इसलिये जिस राजाको अपने राज्यमें शान्ति और सुव्यवस्था रखनी हो, उसे दण्डनीतिका अध्ययन और उसके अनुसार आचरण करना चाहिये।

---

१ दण्ड्यं दण्डयति नो यः पापदण्डसमन्वितः।
तस्य राष्ट्रे न सन्देहो मात्स्यो न्यायः प्रकीर्त्तितः ॥गुरुः॥

२ राज्य

किसी देश वा भूभागपर प्रभुत्व और उसके निवासियोंका शासन राज्य कहाता है। राज्यका मूल क्रम वा विक्रम है। किसी वंशमें पुरुषानुक्रमसे राज्यका चला आना और किसीको उत्तराधिकार रुपसे मिलना क्रम है। विक्रमका अर्थ शौर्य है। जो राज्य किसीकी वीरताके कारण आक्रमण द्वारा वा अन्य प्रकारसे कोई राजा प्राप्त करता है, वह विक्रम-मूलक राज्य होता है। ब्रिटेनमें राजत्वका मूल क्रम है, क्योंकि ब्रिटिश नरेश विक्टोरियाके उत्तराधिकारी होनेके कारण राज्यके अधिकारी हैं। परन्तु ईरानके शाह रजाशाह पहलवीने अपने पराक्रमसे राज्य प्राप्त किया था, इसलिये इनके राज्यका मूल विक्रम था। कहीं क्रम और विक्रम दोनोंके अभावमें भी राज्यकी प्राप्त होती है, जैसे अँगरेजोंका भारतपर अधिकार। इसका कारण था उनमें नीतिशास्त्रका यथेष्ट ज्ञान।

राज्य और उसका मूल क्रम और विक्रम

लोकव्यवहारसे क्रम सम्पत्ति होती है, अर्थात् जिस राज्यमें राजाका आचार-व्यवहार नीति-शास्त्रानुसार होता है, उसके राज्यकी नींव दृढ़ होती है। अभिमानशून्यता विक्रमकी शोभा बढ़ाती है। गुरुका कहना है कि जो घमण्डसे मन्त्रियों, गुरुओं और बान्धवोंकी अवमानना करता है और समझता है कि मैं शूरवीर हूँ, वह रावणकी भाँति मरता है।[1] पराक्रम-रहित और युद्धभीरु राजाका क्रमागत राज्य भी नष्ट हो जाता है। यदि बल से दूसरेका राज्य न भी लिया जा सके, तो भी उसके लिये प्रयत्न करना ही

क्रमका कारण और उसका नाश

---

१ योऽमात्यानवमन्यते गर्वान्न गुरून्न च बान्धवान्।
शूरोऽहमिति विज्ञेयो म्रियते रावणो यथा ॥ गुरुः ॥

चाहिये। परन्तु राजामें यदि शूरता हो और उसका राज्य भी क्रममूलक हो पर उसमें बुद्धिमत्ता न हो, तो उसका राज्य नहीं रह सकता। इसलिये गुरुका बचन है कि जिस राजाकी बुद्धि शास्त्रानुगामी होती है, वह बुद्धिमान् होता है। शास्त्रबुद्धिसे हीन शूर राजा भी नाशको प्राप्त होता है। नीतिशास्त्रविहीन बुद्धिमान भी शत्रुओंद्वारा मारा जाता है, जैसे शस्त्रविहीन शूर वीरको चोर-डाकू मार गिराते हैं।[1]

राज्य वृक्षका रूपक

राज्यसे धर्म, अर्थ और कामकी प्राप्ति होती है। इसीलिये शुक्राचार्यने अपनी दण्डनीतिके आरम्भमें ही राज्य रूपी उस वृक्षको नमस्कार किया है, जिसकी शाखाएँ षाड्गुण्य (सन्धि, विग्रह, यान, आसन, संश्रय और द्वैधीभाव) हैं और जिसके फूल (साम, दाम, भेद और दण्ड) तथा फल त्रिवर्ग धर्म, (अर्थ और काम) हैं।[2]

राज्यके सात अंग

राज्यके सात अङ्ग वा प्रकृतियाँ मनु, वृहस्पति, भीष्म, कौटिल्य प्रभृति सभी आचार्योंने मानी हैं। ये राज्याङ्ग स्वामी वा राजा, अमात्य वा मंत्री, पुर वा दुर्ग अथवा राजधानी, कोश, दण्ड वा बल और सुहृत् वा मित्र हैं।[3] कौटिल्यका कहना है कि ये सात प्रकृतियाँ राज्य रूपी शरीरके अङ्ग वा अवयव हैं। यद्यपि सप्ताङ्ग राज्यके सभी वर्णनोमें स्वामी वा

---

१ पराक्रमच्युतो यस्तु राजा संग्रामकातरः।
अपि क्रमागतं तस्य नाशं राज्यं प्रगच्छति॥
शास्त्रानुगा भवेद्बुद्धिर्यस्य राज्ञः स बुद्धिमान्।
शास्त्रबुद्धया विहीनस्तु शौर्ययुक्तो विनश्यति ॥गुरुः॥

२ नमोऽस्तु राज्यवृक्षाय षाड्गुण्याय प्रशाखिने।
सामादिचारुपुष्पाय त्रिवर्गफलदायिने ॥शुक्रः॥

३ स्वाम्यमात्यौ पुरं राष्ट्रं कोशदण्डौ सुहृत्तथा।
सप्त प्रकृतयो ह्येताः सप्ताङ्गं राज्यमुच्यते ॥२९४॥ मनु० अ० ९

राजाका उल्लेख सर्वप्रथम हुआ है और किसीमें तो राजा शीर्षस्थानीयतक बताया गया है, तथापि वास्तवमें राज्यका सबसे महत्त्वपूर्ण अङ्ग राष्ट्र है, क्योंकि राजाके बिना तो राज्य हो सकता है, पर राष्ट्रके बिना वह असम्भव है। बृहस्पति कहते हैं कि अराजक राष्ट्र तो परस्परकी रक्षा करते भी हैं, परन्तु जिनके राजा मूर्ख होते हैं, वे नाशको प्राप्त होते हैं।[1]

सप्ताङ्ग राज्यके विषयमें शुक्रनीतिसारका यह रूपक बड़ा ही चमत्कार-पूर्ण है कि राज्याङ्गोंमें मन्त्री तो नेत्र हैं, मित्र कान हैं, कोश मुख, बल मन, दुर्ग हाथ और पैर राष्ट्र हैं।[2] राष्ट्र इसलिये नहीं पैर कहा गया है कि सबसे नीचा या छोटा है, वरंच इसलिये कि वह राज्यका मूलाधार है—उसीके सहारे राज्य-रूपी शरीर खड़ा होता है। इसीलिये राज्याङ्गोंमें राष्ट्रका प्रथम और मुख्य स्थान है। राजासे राष्ट्र नहीं होता, राष्ट्रसे राजा होता है।

सप्ताङ्गमें राष्ट्र की महत्ता

दूसरा स्थान बलका है, क्योंकि बल मनके समान बताया गया है। शरीरमें इन्द्रियोंका राजा मन है, क्योंकि उन्हें किसी काममें प्रवृत्त अथवा उससे निवृत्त यही करता है। राज्यमें भी यदि बल वा सेना न हुई, तो वह कुछ नहीं कर सकता। और तो क्या, अपने अङ्गोंसे अपनी आज्ञाका पालन भी नहीं

रूपककी व्याख्या

आत्मामात्याश्च कोशाश्च दण्डो मित्राणि चैव हि ॥६४॥
तथा जनपदाश्चैव पुरञ्च कुरुनन्दन।
एतत्सप्तात्मकं राज्यं परिपाल्यं प्रयत्नतः ॥६५॥
महाभारत, शान्ति पर्व, ६६ वां अध्याय।

१ अराजकानि राष्ट्राणि रक्षन्तीह परस्परम्।
मूर्खो राजा भवेद्येषां तानि गच्छन्ति संक्षयम् ॥बृहस्पतिः॥

२ दृगममात्या सुहृच्छ्रोत्रं मुखं कोशो बलं मनः।
हस्तपादौ दुर्गराष्ट्रौ राज्याङ्गानि स्मृतानिह ॥६२॥ अ० १॥

करा सकता। कोशकी उपमा मुखसे दी गयी है और इसलिये इसका तीसरा स्थान है। जैसे मुंह खाता है और सारा शरीर उससे पुष्ट होता है, वैसे ही राज्यकोशमें धन सञ्चित होनेसे सभी कार्योंकी पुष्टि साधित होती है। कौटिल्यने ठीक ही कहा है कि कोश और बल ही राजाकी शक्ति हैं।[1] महाभारतमें कहा गया है कि राजाका मूल कोश बल है और फिर कोषका मूल बल है। वही सब धर्मों का मूल है और फिर धर्मका मूल प्रजा है।[2] इससे भी ऊपरके रूपकका समर्थन होता है। मंत्री आँखें इसलिये बताया गया है कि राज्यका प्रायः समस्त व्यवहार मन्त्रियोंके परामर्शसे और तत्वाधावनमें होता है। जैसे अपने ऊपर किसीका प्रहार होनेसे हाथ ही सबसे पहले उसे रोकते हैं—"ओड़िय हाथ असनिके घाये", वैसे ही राज्यपर अन्य राजाके आक्रमण दुर्गको ही सहने पड़ते हैं। यही पहला मोर्चा लेता है। गत पूर्व महासमरमें वेलजियमके लीज और नामूर दुर्गोंने ही जर्मनीके उच्चा भिलाषको विफल किया था। कोश, बल और दुर्गके विना राजा शत्रुके अधीन हो जाता है।

---

१ कोशदण्डबलंहि प्रभुशक्तिः॥ अर्थशास्त्र अधि० ६ अ० २।

२ राज्ञः कोशबलं मूलं कोशमूलं पुनर्बलम्।
तन्मूलं सर्वधर्माणां धर्ममूलाः पुनः प्रजाः ॥३५॥ शां० अ० १३०

३ राष्ट्र

जिस भूभागपर चारो वर्णों और चारो आश्रमोंके लोग रहते हों तथा जो अन्न, द्रव्य, पशु, कुप्य, (जंगली चीजें लकड़ी आदि), विष्टि (बारवरदारी के लिये मनुष्य और नौकर चाकर), चांदी, सोना आदि पदार्थ देती हो, वह पृथ्वी है। राजाको जो कोश और सोना देता है, वह देश कहाता है। वर्णाश्रमी मनुष्योंकी द्रव्योत्पत्तिका स्थान जनपद है। जिस भूभाग-पर पशु अन्न सोना आदि सम्पदा शोभायमान हो, उसका नाम राष्ट्र है।[1] राज्याङ्गोंमें राष्ट्रको छोड़ सबकी उत्पत्ति राष्ट्रसे होती है यह कामन्दकका मत है।[2]

पृथ्वी, जनपद और राष्ट्र

राष्ट्र राज्यका मूलाधार है, क्योंकि राज्यकी सब प्रकृतियोंमें सबसे पहले राष्ट्र ही उत्पन्न हुआ था। इसके बाद बलकी उत्पत्ति हुई। अथर्ववेदमें बताया गया है कि कल्याणकी कामना करते हुए ऋषियोंने दीक्षा स्वीकार की और तप किया, जिससे राष्ट्र, बल और ओज उत्पन्न हुए।[3]

राष्ट्र अग्रजन्मा है

---

१ वर्णाश्रमवती धान्यहिरण्यपशुकुप्यविष्टिप्रदानफला च पृथ्वी ॥ ५ ॥ विद्यावृद्धिसमुद्देश ॥ भर्तुर्दण्ड कोशवृद्धिं दिशति ददातीति देशः ॥ १२ ॥ जनस्य वर्णाश्रमलक्षणस्य द्रव्योत्पत्तेर्वा पदं स्थानमिति जनपदः ॥ ५ ॥ पशुधान्यहिरण्यसम्पदा राजते शोभते इति राष्ट्रम् । १ ॥ जनपदसमुद्देश, नीतिवाक्यामृत ॥

२ नीतिसार श्लो० ३ सर्ग ८

३ भद्रामिच्छन्त ऋषयः स्वर्विदः तपोदीक्षामुपसेदुरग्रे ।
ततो राष्ट्रम्बलमोजश्च जातं तदस्मै देवा उपसं नमन्तु ॥४१॥ काण्ड १६

राष्ट्र कई प्रकारके होते हैं कोई छोटे, कोई बड़े और कोई मंझोले। छोटे राष्ट्र एक नगरतकके होते हैं। प्राचीन ग्रीस वा यूनानमें अनेक नगर राज्य थे। भारतमें भी प्राचीन कालमें छोटे बड़े बहुतसे राज्य थे। इनमें कुछ प्रजातंत्र और कुछ राजतंत्र थे। राष्ट्रोत्पत्तिके पहले लोग जंगलोंमें घूमते थे। अनन्तर बहुतसे लोगोंके एक साथ रहने लगनेके कारण उनके समूह वा समाज उत्पन्न हुए और बस्तियाँ बसनेसे ग्राम बने। इन ग्रामोंकी व्यवस्था लोकशक्तिसे होती थी। उस समय वन्य पशुओंसे अपनी कृषि-सम्पत्ति और बाल-बच्चोंकी रक्षा करनेके लिये पारस्परिक सहयोग प्रारम्भ हुआ जिसके फलस्वरूप रक्षक वर्ग वा बल और पञ्चायतकीसृष्टि हुई। यही ग्राम पञ्चायत राष्ट्रशक्ति हुई। तत्पश्चात् कई छोटे राष्ट्र आपसमें मिलकर बड़े राष्ट्र बन गये।

राष्ट्रके आदि रूपकी कल्पना

छोटे राष्ट्रोंकी सीमा किसी नदी जंगल अथवा बड़, पाकड़, सेमल, शमी आदि वृक्षसे निर्धारित होती थी अर्थात् छोटे राष्ट्रोंकी सीमा बहुधा काल्पनिक होती थी और है। बड़े राष्ट्रोंकी सीमा बहुधा प्राकृतिक होती थी और है तथा पर्वत, नदी वा समुद्रसे बनती थी तथा है। कहीं कहीं बड़े राष्ट्रोंकी सीमा भी काल्पनिक देखी जाती है, जैसे भारतकी और पकिस्तानकी सीमा। यहफ्रान्स और बेलजियमकी सीमासी ही है। भारत और नैपालकी सीमाकी भाँति सभी समझौतेसे स्थिर हुई हैं।

राष्ट्रोंकी सीमाएं

वर्तमान समयमें वह देश वा भूभाग एक राष्ट्र समझा जाता है, जिसमें एकसी राज्यव्यवस्था प्रचलित हो। धर्म, जाति और भाषा राष्ट्रकी एकताके लक्षण माने जाते हैं सही, पर इनके अभावमें भी राष्ट्रीयताकी हानि नहीं होती। अमेरिकन संयुक्त राज्योंमें अनेक जातियों और धर्मसम्प्रदायोंका निवास है। फिर भी वे एक राष्ट्र हैं। इसी प्रकार छोटेसे स्वीटजलैंण्डमें तीन भाषाएँ बोली जाती हैं और उनमें राजकाज चलता है, पर वह एक राष्ट्र है। ऐसे ही

राष्ट्रके रूप

जर्मनी और आस्ट्रिया दोनो ट्यूटन जातिके होनेपर भी दो स्वतंत्र राष्ट्र थे। ऐसे ही भारत और नैपालके धर्म, संस्कृति और जाति एक हैं पर राष्ट्र दो हैं यह ध्यान में रखना चाहिये कि राष्ट्र के दो रूप हैं। एक रूप तो यह है कि वह सप्ताङ्ग राज्यका अंग है और यहां राजधानी, पुर वा दुर्गसे भिन्न है। दूसरा यह है कि वह समस्त राज्य वा जनपदका वाचक है, जिस अर्थमें अंगरेजी नेशन शब्द प्रयुक्त होता है।

---

४ दण्ड

जिस उपायसे मनुष्य असदाचारसे निवृत्त और सदाचारमें प्रवृत्त किया जाता है, उसे दण्ड कहते हैं और जिससे जन्तुका दमन किया जाता है, उस उपाय अथवा साधनका नाम भी दण्ड ही है।[1]

दण्ड क्या है ? शुक्रनीतिसारकी दण्डकी यह परिभाषा व्यापक है, क्योंकि इसके अन्तर्गत दण्डके सभी रूप आ जाते हैं। जिस डंडे या लाठीसे किसीको मारते हैं, वह तो दण्ड है ही; परन्तु जिस उपायसे अप्रिय कार्य रोका जाता है, वह भी दण्ड है। यह दो प्रकारक है। एक किसी पूर्वकृत अपराधके लिये शास्ति देता है और दूसरा भविष्यमें कोई अपराध होनेकी रोक करता है। किसीको दण्डनीय ठहरानेमें निर्णायकको कोई आनन्द नहीं मिलता, क्योंकि वह तो रोगकी चिकित्साकी भांति दोष दूर करनेके लिये होता है।[2] गर्गने ठीक ही कहा है कि अपराधियोंको जो दण्ड दिया जाता है, वह राष्ट्रकी विशुद्धिके लिये है, क्योंकि उसके बिना मात्स्य न्याय होता है।[3] परन्तु दण्डकी सामर्थ्य बहुत अधिक है और भीष्मका यह कहना बावन तोले पाव रत्ती ठीक है कि जिसके अधीन सब कुछ है, वह केवल दण्ड ही है।[4]

---

१ निवृत्तिरसादाचाराद्दमनं दण्डतश्च यत्।
येन सन्दम्यते जन्तुरुपायो दण्ड एव सः ॥४०॥ अ० ४

२ चिकित्सागम इव दोषविशुद्धिहेतुर्दण्डः ॥१॥ दण्डनीतिसमुद्देश, नीतिवाक्यामृत।

३ अपराधिषु यो दण्डः स राष्ट्रस्य विशुद्धये।
विना येन न सन्देहो मात्स्यन्योायः प्रवर्त्तते ॥ गर्गः

४ यस्मिन् हि सर्वमायत्तं स दण्ड इह केवलः ॥८॥
शान्तिपर्व, अ० १२१

महाभारतमें दण्डका अलंकार रूपसे बहुत अर्थगर्भ वर्णन हुआ है। उसके दो रूप बताये गये हैं एक भीतरी और दूसरा बाहरी। भीतरी रूप यह है कि दण्ड परमेश्वर है[1] और अग्निसे उत्पन्नके समान उसका रूप है। अर्थात् दुष्टको सन्तप्त करनेके लिये क्रूरतामें वह अग्निके सदृश है। बाहरी रूप यह है कि नील कमलके समान वह श्याम है। उसकी चार दाढ़ें, चार भुजाएं, आठ पैर, अनेक नेत्र, सशंक कान और खड़े रोम हैं। वह जटाधारी और दो जीभोंवाला है; उसका चेहरा तांबेसा है और वह बाघम्बर पहने है। दुराधर दण्ड नित्य इस प्रकार उग्रमूर्ति धारण किये रहता है। असि (तलवार) धनुष, गदा, शक्ति, त्रिशूल, मुद्गर, शर, मुशल, परशु, चक्र, पाश, दण्ड और तोमर रूपोंसे दण्ड किसीको छिन्न किसीको भिन्न, किसीको मार और किसीकी धाड़ करता रहता है। अनन्तर दण्डके असि, विशसन (खांडा), धर्म, तीक्ष्णवर्म, दुराधर, श्रीगर्भ, विजय, शास्ता, व्यवहार, सनातन, मंत्र, धर्मपाल, अक्षरदेव, सत्यग, नित्यग, अग्रज, असंग, रुद्रतनय, ज्येष्ठमनु और शिवङ्कर नाम बताये हैं।

महाभारतमें दण्ड का रूपक

दण्डके इस बाहरी रूपके अलंकारको टीकाकार नीलकण्ठ यों समझाते हैं कि चार दाढ़ोंका अर्थ चार प्रकारका दण्ड, मानभंग (अपमान), धनहरण (जुर्माना), मार (शारीरिक दण्ड) और वध वा प्राण दण्ड है। चार

---

१ दैवं हि परमो दण्डो रूपतोऽग्निरिवोत्थितः ॥१४॥
नीलोत्पलदलश्यामश्चतुर्दंष्ट्रश्चतुर्भुजः।
अष्टपान्नैकनयनः शङ्कुकर्णोर्ध्वरोमवान् ॥१५॥
जटी द्विजिह्वस्ताम्रास्यो मृगराजतनुच्छदः।
एतद्रूपं बिभर्त्युग्रं दण्डो नित्यो दुराधरः ॥१६॥
दण्डो हि भगवान् विष्णुर्दण्डो नारायणः प्रभुः।
शश्वद्रूपं महद्बिभ्रन्महान् पुरुष उच्यते ॥२३॥ शान्तिपर्व अ० १२१

टीकाकारकी व्याख्या

भुजाओंका अभिप्राय चार प्रकारसे धन ग्रहण है, यथा प्रजा और सामन्तोंसे कर लेना, अर्थीकी भाषा (बयान), द्रव्यसे दूना अर्थ दान (जमानत), प्रत्यर्थीसे भाषाके द्रव्यके बराबर द्रव्य दान और सम्पत्तिका हरण। आठ पैरोंसे मामलेकी आठ सीढ़ियोंका प्रयोजन है; जैसे, अर्थी वा वादीका आवेदन (अर्जीदावा), भाषा (प्रत्यर्थीके सामने अर्थीका बयान), सम्प्रतिपत्ति (प्रत्यर्थीका ऋण लेना स्वीकार करना), मिथ्योत्तर (जवाबदावा कि दावा झूठा है), कारणोत्तर (जवाबदावा कि ऋण लिया था, पर चुका दिया), प्राङ्न्यायोत्तर (जवाबदावा कि यही मामला खारिज हो चुका है), प्रतिभूःक्रिया (अर्थी या प्रत्यर्थीके जामिनोंका यह कहकर रुपया देना कि इस मामलेमें हम हार गये) और फलसिद्धि वा निर्णय। अनेक नयनोंका अर्थ राजा, मन्त्री, पुरोहित, पार्षद आदि हैं। शङ्कुकर्णका अर्थ तीक्ष्ण कान हैं, अर्थात् उसे अवश्य ही सुनायी देगा। खड़े रोमका अभिप्राय सर्वदा उत्साहपूर्ण रहना है। जटाधारीका अर्थ मामलेके पंच हैं। दो जीभों का कारण अर्थीप्रत्यर्थीके वचनोंका वैषम्य है तथा ताम्रास्यका अर्थ है अग्निके समान चेहरा तथा बाघम्बर पहने हुए है अर्थात् बाघकी भाँति भयप्रद है। इस वर्णनके बाद भीष्मने बताया है कि दण्ड ही भगवान् विष्णु तथा दण्डही नारायण और प्रभु है और नियत महत् रूप धरनेके कारण वह महापुरुष कहाता है। शुक्रनीतिसारके अनुसार निर्भर्त्सन (झिड़कना), द्रव्यहरण, नाशन, बन्धन, ताड़न, निर्वासन, उलटी हजामत बनवा देना, असत् यान (गधेपर सवार कर घुमाना), अङ्ग काटना, वध करना, अंकन (दागना) और युद्ध दण्डके भेद हैं।

मनुस्मृतिके अनुसार राजाकी सहायताके लिये परमेश्वरने पहले ही अर्थात् राजाके जन्मके पहले ही अपनी आत्मासे ब्रह्मतेजोमय धर्म वा दण्डको उत्पन्न किया, जिसपर सब कुछ अवलम्बित है। इसी दण्डके

मनुस्मृतिके अनुसार दण्डोत्पत्ति

भयसे चराचर प्राणिमात्र अपने धर्म से नहीं डिगते। देश, काल, शक्ति और विद्याका विचार करके राजा उसको (दण्डको) अन्यायियोंपर चलावे। वह दण्ड ही वस्तुतः राजा है, वही नेता है, वही पुरुष है और वही मनुष्यों के

चारों आश्रमोंको ठीक रखनेवाला धर्मका प्रतिभू (जामिन) है। दंड ही समस्त प्रजाको आज्ञा देता है और वही रक्षा करता है। जब सब सोते हैं, तब दण्ड ही जागता है। दंडको ही बुद्धिमान् लोग धर्म कहते हैं। जब समझ-बूझकर अच्छी तरह दंड ग्रहण किया जाता है, तब प्रजामें प्रसन्नता होती है। परन्तु जब विना विचारके ही दंड ग्रहण किया जाता है, तब सबका नाश होता है। जहां श्यामवर्ण, रक्तनेत्र, पापनाशक दंड विचरता है, वहां प्रजा व्याकुल नहीं होती। दंड ही महत्तेज है, जिसका प्रयोग करना नीति शास्त्रानभिज्ञ मनुष्यके लिये कठिन है, क्योंकि धर्मसे विचलित राजाको भी वह बान्धवों सहित मार डालता है।[1]

कौटिल्यका भी कहना है कि पुत्र और शत्रुको उनके अपराधके अनुसार जो राजा ठीक दंड देता है, वही इस लोक और परलोककी रक्षा करता है।[2]

---

१ तस्यार्थे सर्वभूतानां गोप्तारं धर्ममात्मजम्।
ब्रह्मतेजोमयं दंडमसृजत्पूर्वमीश्वरः ॥१४॥
तस्य सर्वाणि भूतानि स्थावराणि चराणिच।
भयाद् भोगाय कल्पन्ते स्वधर्मान्न चलन्ति च ॥ १५ ॥
तं देशकालौ शक्तिञ्च विद्याञ्चावेक्ष्य तत्त्वतः।
यथार्हतः सम्प्रयेन्नरेष्वन्यायवर्त्तिषु ॥ १६ ॥
स राजा पुरुषो दण्डः स नेता शासिता च सः।
चतुर्णामाश्रमाणां च धर्मस्य प्रतिभूः स्मृतः ॥१७॥
दण्डः शास्ति प्रजा सर्वाः दण्ड एवाभिरक्षति।
दण्डः सुप्तेषु जागर्त्ति दण्ड धर्मं विदुर्बुधाः ॥ १८ ॥
समीक्ष्य स धृतः सम्यक् सर्वा रञ्जयति प्रजाः।
असमीक्ष्य प्रणीतस्तु विनाशयति सर्वतः ॥ १९ ॥

२ दण्डो हि केवलो लोकं परं क्षेमं च रक्षति।
राज्ञा पुत्रे च शत्रौ च यथादोषं समं धृतः ॥अर्थ० अधि० ३ अ० १

दण्डके विषयमें कौटिल्यका मत

दंडके द्वारा राजा चारो वर्णों और चारो आश्रमोंके लोगोंको अपने अपने धर्म कर्ममें ठीक रखकर उचित मार्गसे चलाता है।[1] कौटिल्यने दंडके तीन भेद करके उनके फल भी बताये हैं। एक सुविज्ञातप्रणीत अर्थात् नीतिशास्त्रके ज्ञाताका दिया हुआ दंड है, जिसका फल प्रजाको धर्म, अर्थ और काममें लगाना है। दूसरा दुष्प्रणीत अर्थात् काम, क्रोध और अज्ञानसे दिया हुआ दंड है, जिससे वानप्रस्थ और संन्यासी भी कुपित होते हैं, गृहस्थोंकी ता बात ही क्या है? तीसरा अप्रणीत अर्थात् जहाँ दंड देना चाहिये वहाँ न देना है। इसका फल मात्स्यन्याय है; दंडधरके अभावमें सबल निर्बलको खाते हैं।[2] परन्तु जब दंडद्वारा सबलसे निर्बलकी रक्षा की जाती है, तो वह भी सबल हो जाता है।

अबतक जो बताया गया है, उससे दंडके तीन रूप सामने आते हैं. एक केवल दंड, दूसरा बल और तीसरा व्यवहार। बलका प्रयोग कामन्दकने दंड अर्थमें किया भी है।[3] महाभारतके अनुसार दंडका ही नाम धर्म और

यत्र श्यामो लोहिताक्षश्च दण्डश्चरति पापहा।
प्रजास्तत्र न मुह्यन्ति नेता चेत्साधु पश्यति ॥२५॥
दण्डो हि सुमहत्तेजो दुर्धरश्चाकृतात्मभिः।
धर्माद्विचलितं हन्ति नृपमेव सबान्धवम् ॥२८॥ मनुस्मृति अ० ७

१ चतुर्वर्णाश्रमो लोको राज्ञा दण्डेन पालितः।
स्वधर्मकर्माभिरतो वर्त्तते स्वेषु वर्त्मसु ॥१६॥ अर्थ०, अधि० १ अध्याय४

२ सुविज्ञातप्रणीता हि दंडः प्रजां धर्मार्थकामैर्योजयति ॥१४॥दुष्प्रणीतः कामक्रोधाभ्यामज्ञानाद्वानप्रस्थपरिव्राजकानपि कोपयति किमङ्ग पुनर्गृहस्थान् ॥१५॥ अप्रणीतो हि मात्स्यन्यायमुद्भावयति ॥१६॥ बलीयानबलं हि ग्रसते दण्डधराभावे ॥१७॥ तेन गुप्तः प्रभवतीति ॥१८॥ अर्थ० अधि० १ अध्याय ४

३ स्वाम्यमात्यश्च राष्ट्रं च दुर्गं कोशो बलं सुहृत्।
परस्परोपकारीदं सप्ताङ्गं राज्यमुच्यते ॥१॥ नीतिसार सर्ग ४ अ० ७

दण्डके तीन रूप

व्यवहार है। इसलिये दंडके तीन अर्थ हुए (अ) बल वा सेना, (आ) व्यवहार वा धर्मव्यवस्था और (इ) दुष्टोंका नियंत्रण, निग्रह वा दमन। बलके बिना मनुष्य कुछ नहीं कर सकता, इसीलिये महाभारतमें इन्द्र मान्धातासे कहते हैं कि दुर्बलकी रक्षाके लिये ही ब्रह्माने बलकी सृष्टि की है, क्योंकि बलहीनकी रक्षामें बड़ा पुण्य है।[1] शुक्रनीतिसारकी यह बात अक्षरशः सत्य है कि बलियोंके वशमें सभी रहते हैं और दुर्बलके सभी शत्रु होते हैं। छोटे लोगोंकी जब यह बात है, तब राजाओंका तो कहना ही क्या है?[2] शुक्राचार्यका वचन है कि धन और प्रिय वचनोंसे पहलेका अपनाया हुआ आपत्कालमें जो राजाकी रक्षा करता है, वह बल कहाता है।[3] यह परिभाषा अवश्य ही किसी प्रकारकी सेनाकी ओर संकेत कर रही है।

बल दो प्रकारका होता है एक स्वराष्ट्रमें प्रजाकी त्रुटियों वा अपराधोंके लिये दण्ड देनेकी शक्ति और दूसरा परराष्ट्रसे युद्ध करनेका बल वा सेना। सैन्य बलके दो रूप होते हैं एक चतुरंग बल और दूसरा अष्टांग बल[4]।

बलके दो भेद

और सैन्य बलके दो प्रकार

गज, रथ, अश्व और पत्ति (पदाति वा पैदल) चतुरङ्ग बल है और इसके सहित नाव, विष्टि, दैशिक और चर मिलकर अष्टांग बल कहाते हैं। नावसे जहाजी या नावोंके बेड़ेका अर्थ समझना चाहिये, जिसे वर्तमान

१ दुर्बलार्थं बलं सृष्टं धात्रा मान्धातरुच्यते।
अबलन्तु महद्भूते यस्मिन् सर्वं प्रतिष्ठितम् ॥१२॥ शा० प०. अ० ९१

२ बलिनो वशगास्सर्वे दुर्बलस्य च शत्रवः।
भवन्त्यल्पजनस्यापि नृपस्य तु न किं पुनः ॥८६७॥ अ० ४

३ धनेन प्रियसम्भाषैर्यतश्चैव पुरार्जितम्।
आपद्भ्यः स्वामिनं रक्षेत्ततो बलमिति स्मृतम् ॥शुक्रः

४ रथा नागा हयाश्चैव पदाश्चैव पाण्डव।
विष्टिर्नावचराश्चैव दैशिका इतिचाष्टमम् ॥ ४१ ॥ श० अ० ५९

समयमें नौवल कहते हैं। दैशिक योद्धाओंके शौर्य को उत्तेजन और उन्हें कर्तव्य पालनका उपदेश देते है। विष्टिमाल ढोनेवाले या बारबरदार होते हैं। चर तो भेदिये होते ही हैं। आधुनिक शब्दावलीमें विष्टि को ट्रैन्सपोर्ट कोर, दैशिकको उपदेशक और चरको सीक्रेट सर्विस कहना उपयुक्त होगा। दैशिकको नीलकंठने उपदेष्टा वा गुरु कहा है। सम्भवतः आजकल गोरी सेनामें जैसे धर्मोपदेशके लिये पादरी रहते हैं, वैसे ही ये भी हों अथवा उनसे भिन्न सैनिकोंको कर्तव्य परायणताका उपदेश देनेके लिये रखे जाते हों।

चतुरंगिनी सेना और उसके भेद

शुक्रनीतिके अनुसार शास्त्रास्त्रसे युक्त मनुष्योंका समूह सेना कहाता है और स्वगमा तथा अन्यगमा उसके दो भेद हैं। जो सेना सवारियोंपर चलती है जैसे हाथी, रथ और घोड़ावाली सेना वह तो अन्यगमा और जो अपने पैरों चलती है, वह स्वगमा है। सेनाके विना न राज्य है न धन और न पराक्रम है। दैवी, आसुरी और मानवी भेदसे उसके तीन और प्रकार हैं और पिछली सेनासे उत्तरोत्तर पहली बलसम्पन्न होती है।[1]

---

१ सेनाशस्त्रास्त्रसंयुक्ता मनुष्यादिगणात्मिका।
स्वमान्यगमा चेति द्विधा सैव पृथक् त्रिधा ॥ ८६४ ॥
दैव्यासुरी मानवी च पूर्वं पूर्वं बलाधिका
स्वगमा या स्वयं गंत्री यानगाऽन्यगमा स्मृता ॥ ८६५ ॥
पादातं स्वगमं वान्यद्रथाश्वगजगं त्रिधा।
सैन्याद्विना नैव राज्यं न धनं न पराक्रमः ॥ ८६६ ॥ अ० ४

५. राजा

राज्यव्यवस्था सुचारु रूपसे चलानेके लिये प्रजा जिसे अपना मुखिया वा नेता निर्वाचित करती है, वह राजा वा स्वामी कहाता है। आजकल क्रमागत राजा ही अधिक देखे जाते हैं, परन्तु कोई राजपरिवार, 'यावच्चन्द्रदिवाकरौ' शासन नहीं करता। इतिहास बता रहा है कि बड़े बड़े प्रतापी राजघरानोंको तबाह ही नहीं होना पड़ा, वरञ्च राजाओंको सामान्य मनुष्यकी भांति और कभी कभी उससे भी गयी बीती दशामें दिन काटने पड़े हैं और पड़ते हैं। दिल्लीके मुगल बादशाह बहादुरशाह तथा लखनऊके आखिरी बादशाह वाजिदअलीशाहको भारत सरकारसे प्राप्त वृत्तिपर निर्वाह करना पड़ा है। रूसके प्रबल प्रतापी जार निकोलयको राजा वेनकी भाँति देहत्याग करना पड़ा। जर्मनीके कैसर दूसरे विल्हेल्मको तथा तुर्कीके सुल्तान छठे मुहम्मदको और अफगानिस्तानके शाह अमानुल्लाह खांको तथा हालहीमें रूमानियाके बादशाह कैरोलको जान लेकर स्वदेशसे भागना पड़ा। इसके विपरीत ईरानके प्रधान सेनापति रजाखां पहलवी शाह रजाशाह पहलवी प्रसिद्ध होकर ईरानके सिंहासनपर विराज चुके हैं। इसलिये राजाओंकी न तो खान होती है और न कारखाना।

राजा किसे कहते हैं?

प्रारम्भमें सैकड़ों हजारों वर्षों तक लोगोंने बिना राजाके काम चलाया होगा। पहले राजा न था, पर पीछे लोगोंने अपनी कठिनाइयां दूर करनेके लिये अपने ही एक आदमीको अपनी शक्ति देकर राजा बना दिया। अथर्ववेदमें लिखा है कि प्रारम्भमें यह (समस्त जनपद वा राष्ट्र) विराट् (राजासे रहित) था।

पहले राजा न था

उसे देखकर लोग भयभीत हुए कि क्या यह ऐसा ही रहेगा।[१] ऐतरेय ब्राह्मणमें बताया गया है कि जब असुरों और देवताओंकी लड़ाइयोंमें देवता हार गये, तब इन्होंने सोचा कि हमारा कोई राजा न होनेसे हम असुर हरा देते हैं। अब आओ, हम (सब मिलकर) एक राजा निर्वाचित करें। सबने इसे स्वीकार किया और सोमको राजा बनाया।[२] मनुस्मृतिमें अराजक अवस्था की चर्चा इस प्रकार की गयी है कि इस अराजक लोकमें (देशमें) सबलोग भयसे चारों ओर भागने लगे, तब इसकी रक्षाके लिये परमेश्वरने इन्द्र, वायु, यम, सूर्य, अग्नि, वरुण चन्द्र और कुबेरके अंश लेकर राजाकी सृष्टि की[३]। महाभारतमें जब युधिष्ठिरने भीष्मसे पूछा कि सब मनुष्योंके हाथ, पैर, नाक, गर्दन, भुजाएं और बुद्धि होती है और सभी समानभावसे सुख-दुख भोगते हैं, तब उस एक मनुष्यमें ऐसी क्या विशेषता होती है जो औरोंका शासन करता है? उत्तरमें भीष्मने कहा कि हे नरशार्दूल! सुनो, जिस प्रकार सत्युगमें राज्य उत्पन्न हुआ। पहले न राज्य था न राजा था, न दण्ड था न

---

१ विराड् वा इदमग्र आसीत्।

तस्या जातायाः सर्वमबिभेदियमेवेदं भविष्यति ॥१॥ सू० १० कांड ८

२ देवासुरा वा एषु लोकेषु समयतन्तत एतस्यां प्राच्यां दिश्ययतन्त। तांस्ततोऽसुरा अजयंस्ते दक्षिणस्यां दिश्ययतन्त तांस्ततोऽसुरा अजयंस्ते प्रतीच्यां दिश्ययतन्त तांस्ततोऽसुरा अजयंस्त उदीच्यां दिश्ययतन्त ते ततो न पराजयन्त सैषा दिगपराजिता तस्मादेतस्यां दिशि यतेत या तदेश्वरा हो नृणा कर्त्तास्ते देवा अब्रुवन्न राजतया वै नो जयन्ति राजानं करवामहा इति तथेति ते सोमं राजानमकुर्वस्ते सोमेन राजा सर्वादिशो जयन्नेष सोम राजा ॥ १।३ ॥ (१४)

३ अराजके हि लोकेऽस्मिन् सर्वतो विद्रुतो भयात्।
रक्षार्थमस्य सर्वस्य राजानमसृजत् प्रभुः ॥ ३ ॥
इन्द्रानिलयमार्काणामग्नेश्च वरुणस्य च ।
चन्द्रवित्तेशयोश्चैव मात्रा निर्हृत्य शाश्वतीः ॥ ४ ॥ अ० ७

दाण्डिक (दंड देनेवाला), धर्मसे ही सब प्रजा परस्परकी रक्षा करती थी।[1]

पहले राजा नहीं था, पीछेसे बनाया गया इस विषयमें तो कोई मतभेद नहीं है। परन्तु जहां मनुस्मृति कहती है कि परमेश्वरने राजाकी सृष्टि की वहाँ ऐतरेय ब्राह्मण बताता है कि लोगोंने आप राजा चुना। ऐतरेय ब्राह्मण सनातनमतानुसार वेद ही है, इसलिये श्रुति स्मृतिके विरोधमें श्रुति ही प्रमाण है। परन्तु यह कहा जा सकता है कि ऐतरेयब्राह्मणमें देवताओंके राजा चुननेकी बात कही गयी है, मनुष्योंके नहीं। इस लिये महाभारतके शान्तिपर्वके ५९ वें अध्यायका वर्णन देखना चाहिये।

महभारत के अनुसार राजत्व का विकास

उसमें लिखा है कि धर्मसे परस्परकी रक्षा करते करते जब लोग थक गये और मोहमें फँस गये, तो पहले ज्ञान फिर धर्मने उनका साथ छोड़ दिया। मोहके कारण वे लोभी, विषयाभिलाषी और कामी हो गये। विषयानुरक्त होनेके कारण उन्हें कर्तव्याकर्त्तव्यका ज्ञान नहीं रहा। अगम्यागमन और भक्ष्याभक्ष्यका ज्ञान न रहनेसे यज्ञ और वेद लुप्त हो गये। देवताओंको यज्ञका भाग न मिलनेसे उन्होंने ब्रह्मासे पुकार मचायी। ब्रह्माने उन्हें आश्वासन देकर एक लाख अध्यायका नीतिशास्त्र बना दिया, जिसमें धर्मार्थकाममोक्षका वर्णन किया। बाद देवता प्रजापति विष्णुके पास जाकर बोले कि मनुष्योंमें कौन एक मनुष्य श्रेष्ठ होगा यह बताइये। विष्णुने विचार कर विरजा नामक मानस पुत्र उत्पन्न किया। परन्तु यह संन्यासी हो गया, क्योंकि पृथ्वीका राज्य नहीं चाहता था। इसका पुत्र कीर्तिमान् मर गया और इसका पुत्र

---

१ नियतस्त्वं नरव्याघ्र शृणु सर्वमशेषतः।
यथा राज्यं समुत्पन्नमादौ कृतयुगेऽभवत् ॥ १३ ॥
नैवं राज्यन्नराजासीन्न च दण्डो न दाण्डिकः।
धर्मेणैव प्रजास्सर्वा रक्षन्तिस्म परस्परम् ॥ १४ ॥ शां० अ० ५९

कर्दम तपस्वी हो गया। कर्दमका पुत्र अनंग साधु, प्रजारक्षक और दण्डनीति-विशारद हुआ। अनंगके पुत्र अतिबलने महाराज्य पाया, पर वह इन्द्रियपरायण हुआ। उसने मृत्युकी मानसी पुत्री तीनो लोकोंमें प्रसिद्ध सुनीथासे वेन को उत्पन्न किया। वेन अधर्म और रागद्वेषवर्ती हुआ, इसलिये ऋषियोंने उसे मन्त्रपूत कुशोंसे मार डाला। फिर ऋषियोंने मंत्र पढ़कर उसकी दाहनी जांघ मथी, तो लाल आंखोंवाला कोयलेकी नाई काला कलूटा और नाटा मनुष्य उत्पन्न हुआ। ब्रह्मवादी ऋषियोंने इससे कहा कि 'निषीद' (बैठ)। इससे वन पर्वतोंमें रहनेवाले क्रूर स्वाभावके निषाद और जो विन्ध्य पर्वतमें रहे, वे एक लाख म्लेच्छ हुए। अनन्तर महर्षियोंने दाहना हाथ मथा तो दूसरे, इन्द्रकी भाँति स्वरूपवान् कवचसे युक्त, धनुषबाणधारी, वेदवेदाङ्गका ज्ञाता और धनुर्वेदका पारदर्शी पुरुष उत्पन्न हुआ। उस नरश्रेष्ठको समग्र दण्डनीतिका ज्ञान था। अनन्तर उस पृथुने हाथ जोड़कर ऋषियोंसे कहा कि धर्मार्थदर्शिनी मेरी सुसूक्ष्मा बुद्धि उत्पन्न हुई है। मुझे आप संक्षेपसे बतावें कि मैं क्या करूँ। इसमें सन्देह नहीं कि आप जो अर्थयुक्त कार्य मुझे बतावेंगे, वह मैं निश्चय ही करूँगा। तब वहाँ उन देवताओं और परमर्षियोंने कहा कि जो धर्मयुक्त हो, वही कार्य तुम निःशंक हो करो। कौन प्रिय है और कौन अप्रिय है इसका विचार छोड़कर तुम सब प्राणियोंसे समान व्यवहार करो। काम, क्रोध, लोभ और मानका विचार दूरसे ही त्याग दो। जो मनुष्य संसारमें (राष्ट्रमें) धर्मसे विचलित हो, शाश्वत धर्मका विचार करके तुम उसे अपने बाहुबलसे रोको। मन, वाणी और कर्मसे यह प्रतिज्ञा करो कि ब्रह्म समझकर मैं इस पृथ्वीका पालन करूँगा। जो नित्य धर्म दण्डनीतिमें कहा गया है, निःशङ्क हो उसका पालन करूँगा। हे विभो! यह तुम जानो कि ब्राह्मण अदण्ड्य हैं और वर्णसंकरतासे मैं लोककी रक्षा करनेवाला हूँ। तब वैन्य पृथुने देवताओं, ऋषियों और पुरोहितोंसे कहा कि महाभाग ब्राह्मण मेरे नमस्कारके योग्य हैं। इसपर उन ब्रह्मवादी ऋषियोंने 'एवमस्तु' कहा। और शुक्र पृथुके पुरोहित हुए।[1]

---

१ ममन्थुर्दक्षिणं चोरुमृषयस्तस्य मंत्रतः।

राजाके निर्वाचनके विषयमें दूसरी आख्यायिका शान्ति पर्वके ६७ वें अध्यायमें है । इसमें भी युधिष्ठिरके प्रश्नके उत्तरमें भीष्मने सुना हुआ इतिहास बताया है । वे कहते हैं कि अराजक राज्यकी प्रजा वैसे ही नष्ट हुई थी, जैसे जलमें बड़ी मछली छोटोंको खा जाती है । जब इस प्रकार लोगोंका नाश होने लगा, तब सबने मिलकर समय वा निश्चय किया कि हम लोगोंमें जो कटुभाषी, उद्दण्ड, परस्त्रीगामी और परधनहारी होगा,

राजाका ऐतिहासिक निर्वाचन

ततोऽस्य विकृतो जज्ञे ह्रस्वांगः पुरुषो भुवि ॥ ९५ ॥
दग्धस्थूणा प्रतीकाशो रक्ताक्षः कृष्णमूर्द्धजः ।
निषीदेत्येमूचुस्तमृषयो ब्रह्मवादिनः ॥ ९६ ॥
तस्मान्निषादाः सम्भूताः क्रूराः शैलवनाश्रयाः ।
ये चान्ये विन्ध्यनिलया म्लेच्छाः शतसहस्रशः ॥ ९७ ॥
भूयोऽस्य दक्षिणं पाणिं ममन्थुस्ते महर्षयः ।
ततः पुरुष उत्पन्नो रूपेणेन्द्र इवापरः ॥ ९८ ॥
कवची बद्धनिस्त्रिंशः सशरः सशरासनः ।
वेदवेदाङ्गविच्चैव धनुर्वेद च पारगः ॥ ९९ ॥
तं दण्डनीतिः सकलाश्रिता राजन् नरोत्तमम् ।
ततश्च प्राञ्जलिर्वैन्यो महर्षीं स्तानुवाच हि ॥ १०० ॥
सुसूक्ष्मा मे समुत्पन्ना बुद्धिर्धर्मार्थदर्शिनी ।
अनया किं मया कार्यं तन्मे तत्वेन शंसत ॥ १०१ ॥
यन्मां भवन्तो वक्ष्यन्ति कार्यमर्थसमन्वितम् ।
तदहं वै करिष्यामि नात्र कार्या विचारणा ॥ १०२ ॥
तमूचुस्तत्र देवास्ते ते चैव परमर्षयः ।
नियतो यत्र धर्मो वै तमशङ्कः समाचर ॥ १०३ ॥
प्रियाप्रिये परित्यज्य समः सर्वेषु जन्तुषु ।
कामं क्रोधञ्च लोभञ्च मानं चोत्सृज्य दूरतः ॥ १०४ ॥

वह त्याज्य या बहिष्कृत समझा जायगा। इस प्रकार सब वर्णोंमें विश्वास स्थापन करनेके लिये ऐसी प्रतिज्ञा करके वे ब्रह्माके पास जाकर बोले कि हम लोगोंमें राजा न रहनेसे हमारा दुःख बढ़ रहा है, इसलिये आप हमें राजा दीजिये, जिसकी हम पूजा करें और जो हमारा प्रतिपालन करे। इसपर उन्होंने मनुको आज्ञा दी और सब लोगोंने मनुका अभिनन्दन किया। मनुने कहा कि मैं पापसे डरता हूँ और राजकार्य बड़ा कठिन है, विशेषकर मनुष्यों में जो नित्य मिथ्याचार करते हैं। भीष्म बोले 'अनन्तर प्रजाने उनसे कहा कि आप न डरिये। पापाचरण करनेवाला ही उनका फल भोगेगा। हम लोग आपकी कोशवृद्धिके लिये अपने पशुओं और सुवर्णका पचासवाँ भाग और धान्यका दसवां भाग देंगे। जिस कन्याका सबसे अधिक यौतुक निर्दिष्ट होगा, उस सुन्दरीसे आपका विवाह कर दिया जायगा। जैसे इन्द्रके पीछे सब देवता चलते हैं, वैसे ही उत्तम बाहनोंपर चढ़े हुए शस्त्रधारियोंमें श्रेष्ठ पुरुष आपके पीछे चलेंगे। जैसे कुवेर यक्षोंकी रक्षा करते हैं, वैसे ही वली, प्रतापी और दुराधर्ष आप हमारी रक्षा करें। राजासे रक्षित

यश्च धर्मात्प्रविचलेल्लोके कश्चन मानवः।
निग्राह्यस्ते स्वबाहुभ्यां शश्वद्धर्ममवेक्षता॥ १०५॥
प्रतिज्ञाञ्चाधिरोहस्व मनसा कर्मणा गिरा।
पालयिष्याम्यहं भौमं ब्रह्म इत्येव चासकृत॥ १०६॥
यश्चात्र धर्मो नित्योक्तो दण्डनीतिव्यपाश्रयः।
तमशङ्कः करिष्यामि स्ववशो न कदाचन॥ १०७॥
अदण्ड्या मे द्विजाश्चेति प्रतिजानीहि हे विभो।
लोकञ्च सङ्करात्कृत्स्नं त्रातास्मीति परन्तप॥ १०८॥
वैन्यस्ततस्तानुवाच देवानृषिपुरोगमान्।
ब्राह्मणा मे महाभागा नमस्याः पुरुषर्षभाः॥ १०९॥
एवमस्त्विति वैन्यस्तु तैरुक्तो ब्रह्मवदिभिः।
पुरोधाश्चाभवत्तस्य शुक्रो ब्रह्ममयो निधिः॥११०॥ शान्तिपर्व, अ० ५९

होकर प्रजा जो धर्माचरण करेगी, उसका चतुर्थांश फल आपको मिलेगा। उसी धर्मसे बलवान् होकर आप हम लोगोंकी रक्षा करें, जैसे इन्द्र देवताओं की रक्षा करते हैं। आप सूर्यकी भाँति शत्रुओंको तपाते हुए विजयके निमित्त यात्रा कीजिये और शत्रुओंका अभिमान नष्ट कीजिये। आपकी सदा जय हो।[1]

इस आख्यायिकासे स्पष्ट होता है कि मात्स्यन्यायसे दुखी होकर लोगोंने राजाकी खोज की। आपसके व्यवहारके लिये नियम तो उन्होंने बना लिये थे, परन्तु लोगोंको नियम पालन करनेके बाध्य कराने वाले नियमके अभावमें इनसे लाभ नहीं हुआ। इसलिये उन्होंने ब्रह्मासे परामर्श किया कि हमें कोई राजा होने योग्य मनुष्य बताइये। ब्रह्माने मनुको आज्ञा दी कि तुम राजा बन जाओ। मनुने जब इनकार किया, तब प्रजाने

कौटिल्यका समर्थन

---

१ अराजकः प्रजाः पूर्वं विनेशुरिति नः श्रुतम्।
परस्परं भक्षयन्तो मत्स्या इव जले कृशान्॥ १७॥
समेत्य तास्ततश्चक्रुः समयानिति नः श्रुतम्।
वाकशूरो दण्डपरूषा यश्च स्यात् पारजायिकः॥ १८॥
यः परस्वमथादद्यात्त्याज्या नस्तादृशा इति।
विश्वासार्थञ्च सर्वेषां वर्णानामविशेषतः॥ १९॥
तास्तथा समयं कृत्वा समयेनावतस्थिरे।
सहितास्तस्तदा जग्मुरसुखार्त्ताः पितामहम्॥ २०॥
अनीश्वरा विनश्यामो भगवन्नीश्वरं दिश।
यं पूजयेम सम्भूय यश्च नः प्रतिपालयेत्॥ २१॥
ततो मनुं व्यादिदेश मनुर्नाभिनन्द ताः।
मनुरुवाच।
बिभेमि कर्मणः पापाद्राज्यं हि भृशदुस्तरम्।
विशेषतो मनुष्येषु मिथ्यावृत्तेषु नित्यदा॥ २२॥

कहा कि आप हमारे योगक्षेमवाह बनिये । इसके बदलेमें हम आपको अपने पशुओं और धान्यका दशमांश देंगे । इस समय राजा और प्रजाके कर्त्तव्योंका स्पष्ट उल्लेख हुआ । राजा प्रजाकी रक्षा करे और इसके बदले प्रजा उसे कर दिया करे । राजाका काम हुआ प्रजाकी रक्षा करना और प्रजाका काम हुआ इसके लिये कररूपसे उसे वेतन देना । परन्तु कौटिल्यने मनुके निर्वाचनके विषयमें ब्रह्माको बीचमें नहीं डाला । उन्होंने स्पष्ट लिख दिया है कि जब प्रजा मात्स्यन्यायसे अभिभूत थी, तब उसने वैवस्वत मनुको राजा बनाया और उसके लिये अन्नका छठा तथा पण्य और सोनेका दसवां भाग कर रूपसे देनेकी व्यवस्था की । इसके बदले वे प्रजाके योगक्षेमवाह और सुप्रयुक्त दण्डके अभावमें पापोंके लिये उत्तरदाता बने ।[1]

भीष्मउवाच ।

तमब्रुवन् प्रजा माभैः कर्तृ नेनो गमिष्यति ।
पशूनामधि पञ्चाशद्धिरण्यस्य तथैव च ॥ २३ ॥
धान्यस्य दशमं भागं दास्यामः कोशवर्द्धनम् ।
कन्यां शुल्के चारुरूपां विवाहेषूद्यतासु च ॥ २४ ॥
मुखेन शस्त्रपत्रेण ये मनुष्याः प्रधानतः ।
भवन्तं तेऽनुयास्यन्ति महेन्द्रमिव देवताः ॥ २५ ॥
सत्वं जातबलो राजा दुष्प्रधर्षः प्रतापवान् ।
सुखे धास्यसि नः सर्वान् कुवेर इव नैर्ऋतान् ॥ २६ ॥
यञ्च धर्म्मं चरिष्यन्ति प्रजा राज्ञा सुरक्षिताः ।
चतुर्थं तस्य धर्मस्य त्वत्संस्थं वै भविष्यति ॥ २७ ॥
तेन धर्म्मेण महता सुखं लब्धेन भावितः ।
पाह्यस्मान् सर्वतो राजन् देवानिव शतक्रतुः ॥ २८ ॥
विजयाय हि निर्याहि प्रतपन् रश्मिवानिव ।
मानं विधम शत्रूणां जयोऽस्तु तव सर्वदा ॥ २९ ॥ शा० प० अ० ६७

१ मात्स्यन्यायाभिभूताः प्रजा मनुं वैवस्वतं राजानं चक्रिरे ॥ ६ ॥ धान्य

अब यह विचारना चाहिये कि ईश्वरद्वारा राजाकी सृष्टिकी जो बात मनुस्मृतिमें कही गयी है, उसका रहस्य क्या है। मुख्य कारण राजाको बहुत अधिक महत्त्व देना और गौण राजा के कर्त्तव्योंका निर्देश करना है। मनुस्मृतिमें ही बताया गया है कि राजा आठ लोकपालोंका शरीर धारण करता है और इस प्रकार रहस्य खोल दिया गया है कि उक्त लोकपालोंके समान राजाको आचरण करना चाहिये। चार महीने जिस प्रकार इन्द्र वर्षा करते हैं, उसी प्रकार इन्द्रका सा आचरण करता हुआ राजा अपनी प्रजामें उसके अभिलषित पदार्थोंकी वर्षा करे। जिस प्रकार आठ महीने सूर्य अपनी किरणोंसे जल सोखता है, उसी प्रकार राजा राष्ट्रसे कर लिया करे। जिस प्रकार वायु सब प्राणियोंमें प्रवेश कर संचार करता है, उसी प्रकार दूतों द्वारा सबमें प्रवेश करना चाहिये। जिस तरह प्रिय अप्रियका विचार न कर यम यथासमय सबको ले ही जाता है, उसी तरह राजा अपराध करनेवाली प्रजाका नियंत्रण करे। जिस तरह वरुणके पाशसे बँधा हुआ यह जगत् दिखता है, उसी तरह राजा पापियोंको बाँधकर वरुणका काम करे। जैसे पूर्णचन्द्र देखकर मनुष्य प्रसन्न होते हैं, वैसे ही यदि राजाको देख प्रजा प्रसन्न हो, तो वह राजा चन्द्रमाका सा आचरण करता है। पापियोंके लिये नित्य ही प्रतापयुक्त और तेजस्वी होना और दुष्ट सामन्तोंका भी दमन करना अग्निका काम है। पृथ्वी जैसे सब प्राणियोंको समान रूपसे धारण करती है, वैसे ही राजा सबका पालन करता है।[1]

मनुस्मृतिके रूपक की व्याख्या

षड्भागं पण्यदशभागं हिरण्यं चास्य भागधेयं प्रकल्पयामासुः ॥ ७ ॥
अर्थशास्त्र अधि० १ अ० १३।

१ वार्षिकांश्चतुरो मासान् यथेन्द्रोऽभिप्रवर्षति।
तथाभिवर्षेत् स्वं राष्ट्रं कामैरिन्द्रव्रतं चरन् ॥ ३०४ ॥
अष्टौ मासान् यथादित्यस्तोयं हरति रश्मिभिः।
तथा हरेत्करं राष्ट्रान्नित्यमर्कव्रतं हि तत् ॥ ३०५ ॥

महाभारत और शुक्रनीतिसारमें भी राजाके कई देवताओंके रूप धारण करनेकी चर्चा है। महाभारतमें कोशलाधिपति राजा वसुमनासे बृहस्पतिने कहा है कि जब झूठसे धोखा खाकर अति प्रचण्ड तेजके प्रभावसे राजा मिथ्यावादीको जलाता है, तब वह अग्निरूप होता है। जब भेदियोंके द्वारा लोगोंका आचरण देखता और क्षेम करता हुआ घूमता है, तब वह सूर्य होता है। जब सैकड़ों पापी जनोंको क्रोध करके पुत्र पौत्र और परिवार सहित नष्ट करता है, तब वह मृत्यु होता है। जब वह अधर्मियोंको दण्ड देता और धार्मिकोंपर कृपा करता है, तब वह यम होता है। जब उपकारियोंको धन और स्त्री देकर प्रसन्न करता है और अपराधियोंके विविध रत्न छीनता है, तब वह कुवेरका काम करता है।[1] शुक्रनीतिसारमें इन्द्र, वायु, रवि, यम, अग्नि, वरुण, चन्द्र और कुवेरके समान

महाभारत और शुक्रनीतिसार में रूपक का समर्थन

प्रविश्य सर्वभूतानि यथा चरति मारुतः।
तथा चारैः प्रवेष्टव्यं व्रतमेतद्धि मारुतम् ॥३०६॥
यथा यमः प्रियद्वेष्यौ प्राप्ते काले नियच्छति।
तथा राज्ञा नियन्तव्याः प्रजास्तद्धि यमव्रतम् ॥३०७॥ मनुस्मृति अ० ९

१ कुरुते पञ्चरूपाणि कालयुक्तानि यः सदा।
भवत्यग्निस्तथादित्यो मृत्युर्वैश्रवणो यमः ॥४१॥
यदा ह्यासीदतः पापान् दहत्युग्रेण तेजसा।
मिथ्योपचरितो राजा तदा भवति पावकः ॥४२॥
यदा पश्यति चारेण सर्वभूतानि भूमिपः।
क्षेमञ्च कृत्वा व्रजति तदा भवति भास्करः ॥४३॥
अशुचींश्च यदा क्रुद्धः क्षिणोति शतशो नरान्।
सपुत्रपौत्रान् सामात्यांस्तदा भवति सोऽन्तकः ॥४४॥
यदा त्वधार्मिकान् सर्वांस्तीक्ष्णदण्डैर्निगच्छति।
धार्मिकांश्चानुगृह्णाति भवत्यथ यमस्तदा ॥४५॥

राजाका आचरण बताया गया है। उसका कहना है कि वायु गन्धका प्रेरक है, वैसे ही राजा सत् और असत् कर्मका प्रेरक होता है। जैसे सूर्य अन्धकारका नाशकर प्रकाश करता है, वैसे ही राजा धर्मका प्रवर्त्तक और अधर्मका नाशक है। दुष्कर्मके लिये दण्डदाता होनेके कारण राजा यमके समान दण्डकारक है। अग्निके समान राजा पवित्र है और रक्षाके लिये सबसे भाग वा कर लेता है। जैसे वरुण जलसे सब रसोंका पोषण करता है, वैसे ही राजा अपने धनसे प्रजाका पोषण करता है। अपनी किरणोंसे जैसे चन्द्रमा लोगोंको आनन्द देता है, वैसे ही राजा अपने गुणकर्मोंसे प्रजाको आनन्द देता है।[1] इस प्रकार मनुस्मृति और महाभारत तथा शुक्रनीतिसारमें कोई भेद नहीं परिलक्षित होता। जो वर्णन है, वह सर्वथा आलंकारिक है। वस्तुतः ईश्वरने किसीको राजा नहीं बनाया, प्रजाने ही उक्त देवकर्मोंकी आवश्यकता समझी और इसलिये उसके देवांश होनेकी कल्पना कर ली। कौटिल्यने भी चारोंसे राजाको यम और इन्द्र कहलवाया है, क्योंकि यह निग्रह और अनुग्रह करता है। क्या आश्चर्य है कि ऐसी ही बातोंसे राजाके ईश्वरकृत वा देवांश होनेकी कल्पना दृढ़ हो गयी हो!

यह तो निर्विवाद है कि पृथु और वैवस्वत मनुको प्रजाने ही राजा बनाया था। अथर्ववेदमें भी राजा बनानेवालोंका उल्लेख है। एक मंत्रमें कहा गया है कि 'हे पर्ण राजाओं, राजकर्ताओं, सूतों और ग्रामणियों वा गाँवके

यदा तु धनधाराभिस्तर्पयत्युपकारिणः।
आच्छिनत्ति च रत्नानि विविधान्यपकारिणाम् ॥४६॥
श्रियं ददाति कस्मैचित् कस्माच्चिदपकर्षति।
तदा वैश्रवणो राजा लोके भवति भूमिपः ॥४७॥ शान्तिपर्व, अ० ६८

१ इन्द्रानिलयमार्काणामग्नेश्च वरुणस्यच।
चन्द्रवित्तेशयोश्चापि मात्रा निर्हृत्य शाश्वतीः ॥७१॥
वायुर्गन्धस्य सदसत्कर्मणः प्रेरको नृपः।
धर्मप्रवर्त्तकोऽधर्मनाशस् तमसो रविः ॥७२॥

मुखियों तथा सब लोगोंको तू मेरे अनुकूल कर ।[1] रामायणमें भी 'राजकर्तारः' पद आया है, जिसका अर्थ 'राजा बनानेवाले' है । जब राजा दशरथ मर चुके थे और अयोध्यामें कोई राजा न रह गया था, तब दूसरे दिन राजा बनानेवाले द्विजाति एकत्र होकर सभामें गये थे ।[2] यह निःसंशय है कि बहुत कालतक अथर्ववेदके समयसे लेकर रामायणकी रचनाके समयतक लोगोंके मनपर यह अंकित था कि राजा बनाये जाते हैं और उनके बनानेवाले मनुष्य ही होते हैं ।

वेद और रामायण-में भी राजकर्त्ताओं-का उल्लेख

आरंभमें न तो राजा था और न राज्यकी ऐसी व्यवस्था ही थी; परस्परकी सहायतासे लोगोंका काम चलता था । समाजकी यह व्यवस्था बहुत दिनोंतक नहीं चल सकी । नियमभंगकारी पैदा हो गये । दुर्बलको सबल सताने लगे । मात्स्यन्याय हो गया । इस अवस्थाको दूर करनेके लिये एक दांडिक वा दंडधरका प्रयोजन हुआ । तब सज्जनोने मिलकर अपने ही एक साथीको राजा निर्वाचित कर उसके शासनाधीन रहना स्वीकार

राजाको प्रजा चुनती थी ।

दुष्कर्मदंडको राजा यमः स्याद्दंडकृद्यमः ।
अग्निश्शुचिस्तथा राजा रक्षार्थं सर्वभागभुक् ॥ ७३ ॥
पुष्यत्यपां रसैः सर्वं वरुणः स्वधनैर्नृपः
करैश्चन्द्रोह्लादयति राजा स्वगुणकर्मभिः ॥ ७४ ॥ शुक्रनीतिसार अ० १ का ७१ संख्यक श्लोक मनुस्मृतिके ७ वें अध्याय के ४ थे श्लोकको हूबहू नकल है ।

१ ये राजानो राजकृतः सूता ग्रामण्यश्च ये ।
उपस्तीन पर्णमह्यं सर्वान् कृण्वभितोजनान् ।३।५।६
राजकृतः पदका अर्थ ग्रिफिथ साहबने भी king-makers किया है ।

२ समेत्य राजकर्तारः सभामीयुः द्विजातयः । अयोध्याकांड सर्ग, ६७

किया। कौटिल्यने स्पष्ट लिखा है कि मात्स्यन्यायसे अभिभूत प्रजाने वैवस्वत मनुको राजा बनाया।[1] सारांश राजाको प्रजा चुनती थी, वह ईश्वरका मनोनीत नहीं होता था।

दक्षिण भारतके केरल देशकी[2] उत्पत्तिके विषयमें 'केरलोत्पत्ति' नामका एक ग्रन्थ मिला है, जो मलयालम भाषामें है। दूसरा ग्रन्थ है 'केरल माहात्म्य' जो ऐक प्रकारकी संस्कृतमें है। केरलोत्पत्तिके अनुसार परशुरामजीने यह देश उत्पन्न करके ६४ गावोंके ब्राह्मणोंको भरण पोषणके लिये दान कर दिया था। अनन्तर इनमें ४ गावोंके ब्राह्मणोंको उन्होंने ६४ गावोंका प्रतिनिधित्व दिया। ये ब्राह्मण शस्त्रकारी थे और क्षत्रियों और ब्राह्मणों दोनोंके कर्म करते थे। केरलकी कर्म भूमिपर इस प्रकारके प्रतिनिधित्वसे राजकाज चलनेमें जब कलह मची और अन्याय हुआ, तब सब गांवोंके ब्राह्मणोंने एकत्र हो यह निश्चय किया कि प्रति चार गाँव मिलकर एक संरक्षक अधिकारी चुनें और उस अधिकारी तथा उसके नीचे काम करनेवाले अधिकारियोंके खर्चके लिये उन चार गाँवोंकी भूमिकी उपजका छठा भाग दिया जाय। परन्तु कालान्तरमें ये अधिकारी जब अत्याचार करने लगे, तब ब्राह्मणोंने फिर सभा की और उन चार गाँवोंके लोगोंको राजा चुनने के लिये कहा। इसके अनुसार उन्होंने केय पेरुमाल नामक एक प्रसिद्ध पहाड़ीको राजा चुना। यह घटना सन् २१६ ईस्वीके लगभगकी है। अपने चुने हुए इस राजाको गद्दीपर बैठानेवाले ब्राह्मणोंने इससे शपथपूर्वक यह प्रतिज्ञा करायी कि 'राज्यके जो काम तुम न कर सकोगे, वे मैं करूँगा। प्रजाकी रक्षा करना तो राजाका काम है ही, वह मैं स्वयं करूँगा।' प्रजाके झगड़े निपटाने-

केरलमें राजाका निर्वाचन

---

१ मात्स्यन्यायाभिभूता प्रजा मनुं वैवस्वतं राजानं चक्रिरे ॥६॥ अधि० १ अध्याय १३

२ प्राचीन केरलमें वर्त्तमान मलबारके सिवा कोचीन और ट्रावंकोर राज्योंके भाग भी थे। वे अब भी अपनेको केरलका अंश समझते हैं।

का काम उन ब्राह्मणोंने अपने हाथमें रखा था और राजासे प्रतिज्ञा करा ली थी कि इनमें उसका हस्तक्षेप न होगा। केय पेरुमालसे १२ वर्षतक राज्य करानेका निश्चय कराया गया था; पर इसने ८ ही वर्ष राज्य किया।

केय पेरुमालके बाद ब्राह्मणोंने चोल मंडलसे चोय (चोल) पेरुमालको राजा चुना और इसे गद्दीपर बैठाया। इसने १० वर्षतक राज्य किया। इसके बाद पांडय पेरुमाल राजा चुना गया और फिर भूतार यार पांडय पेरुमाल नामक राजा और ब्राह्मणोंमें झगड़ा हुआ, तब एक ब्राह्मणने उसका नाश किया। इसके उपरान्त केरलपर कई आक्रमण हुए, तब परशुरामने ब्राह्मणोंको नवीन राजा चुननेकी आज्ञा दी। इसके अनन्तर उन्होंने तिरुणावाई महामख नामक उत्सवके अवसरपर केरलन् नामक मनुष्यको राजा चुना और गद्दीपर बैठाया। इस राजाके लिये प्रजाने राजप्रासाद बनवा दिया, भद्रकाली नामकी तलवार राजदंड स्वरूप इसकी भेंट की और इसके लिये आयके कुछ विभाग और कर अलग कर दिये। लोकनिर्वाचित राजाओंका यह क्रम चलता रहा और अच्छे बुरे राजा भी होते रहे। जिसमें राजा अपने अधिकारोंका दुरुपयोग न करें और अत्याचारी न हो जायं, इसलिये केरलके ब्राह्मणोंने समय समयपर केरलभूमिके विभाग किये और ग्राम-संस्थाओंको राजाके कार्योंकी देखभालका अधिकार दिया है। आर्य पेरुमालके समय राजकीय दृष्टिसे केरल देशकी पुनारचना हुई, क्योंकि यह चार पाँच गाँवोंके लोक-प्रतिनिधियोंकी सम्मतिसे राजकाज चलाता था। निर्वाचित राजाका शासनकाल १२ वर्ष रहता था, पर प्रजा और राजाकी इच्छासे यह अवधि घट बढ़ सकती थी। केरलमाहात्म्यमें लिखा है कि आनागोंदी कृष्णराय नामक राजाको राज करते जब १२ वर्ष बीत गये, तब बारह वर्षोंके लिये उसके शासनकी अवधि फिर बढ़ा दी गयी[1]।

---

१ कन्याकुमारीसे १०० मील उत्तर पूर्व किलालेर प्रदेशके राजाओंका भी शासनकाल १२ वर्ष तक ही रहता था। १२ वर्षपर किसी देवताके

प्रीत्यर्थ एक उत्सव होता था, ब्राह्मणोंको भोजन दिया जाता था और असंख्य लोगोंके सामने—फांसीका तख्ता लगाया जाता था, जिसपर रेशमकी डोरी लटकती रहती थी। उत्सवके दिन राजा तालाबमें नहाकर गाजे बाजेके साथ देवताकी मूर्तिको प्रणाम कर फांसीके तख्तेपर चढ़ जाता था और अपने हाथसे तेज छुरियोंसे अपनी नाक, कान, होठ आदि अंग काट डालता था। जब अधिक रक्त निकल जानेसे वह मूर्छित होने लगता, तब गला काट लेता था। कालीकटके जमोरिनको भी १२ वर्षोंकी समाप्तिपर सरेआम अपना गला काटना पड़ता था। यह उत्सव महामख कहाता था। मि० डब्ल्यू लोगनने 'मलाबार' नामक पुस्तकमें लिखा है कि यह उत्सव पुन्नानी नदीके उत्तर तिरुणावाई मन्दिरमें कुछ संशोधित रूपमें सन् १७४३ तक मनाया जाता था। अंतिम दिन राजा एक टीलेपर खड़ा होता था। ४० हजार सिपाही भाले लेकर खड़े हो जाते थे और राजाकी तलवारका संकेत पाते ही एक हाथी सजा कर उसके पास खड़ा कर दिया जाता था। बस, भीड़से कई खड्गधारी जवान फूलमाला पहने और भस्म लगाये निकल पड़ते थे और भालेवालोंपर टूट पड़ते थे। इससे जाना जाता है कि कालानन्तरमें राजाके बदले कुछ सिपाहियोंके बलिदानका नियम बन गया था। जगन्नाथ पुरीके राजाका चोला प्रति बारहवें वर्ष पर बदलनेकी बात भी बहुत सुनी जाती है, पर यह पता नहीं चलता कि पुराने राजाका अंत किस प्रकार किया जाता था। संम्भवतः पहले केरलमें जैसा होता था, वैसा ही यहाँ भी होता होगा।

---

६ विद्यावृद्धसंयोग और इन्द्रियजय

शुक्राचार्यका जो यह मत है कि विद्या एक ही है और वह दण्डनीति है, वह इस अर्थमें ठीक भी है कि वह आन्वीक्षिकी, त्रयी तथा वार्ताका आश्रय है और इनकी कुशल दण्डपर ही अवलम्बित है। दण्डनीति व्यावहारिक विद्या है और यह तथा अन्य विद्याएं वृद्धोंकी सेवासे प्राप्त होती हैं। मनु और नारदका यह कथन युक्तिसिद्ध है कि वृद्ध वही नहीं है जिसके बाल पके हुए हों, वरञ्च देवता उसे स्थविर कहते हैं, जो जवान होनेपर भी शिक्षित वा विद्वान् हो।[1] ऋषिपुत्र का वचन है कि जो राजा न तो विद्या जानता है और न वृद्धोंका संग करता है, वह निरंकुश हाथीकी भांति शीघ्र ही नष्ट हो जाता है।[2] मूर्ख भी सत्पुरुषोंके संसर्गसे ज्ञानी हो जाता है।[3] इस विषयमें वल्लभदेवने बहुत ही उपयुक्त उपमा दी है। वे कहते हैं कि मूर्ख राजा भी सत्पुरुषके संसर्गसे इस प्रकार शोभाको प्राप्त होता है, जिस प्रकार नदीके किनारेके वृक्षोंकी छाया भी अपूर्व शोभा देने लगती

सज्जनका ही संग करना चाहिये

---

१ न तेन वृद्धो भवति येनास्य पलितं शिरः।
यो वै युवाप्यधीयानस्तं देवाः स्थविरं विदुः ॥१५६॥ मनुस्मृति अ० २
इसी अर्थका धम्मपदमें यह वचन हैः—
न तेन थेरो होति येनस्स पलितं सिरो।
परिपक्को वयो तस्स मोघजिण्णो हि वुच्चति।
शेख सादीने भी कहा है, "बुज़ुर्गी बअक़्लस्त न बसाल।"

२ यो विद्यां वेत्ति नो राजा वृद्धान्नैवोपसेवते।
स शीघ्रं नाशमाप्नोति निरङ्कुश इव द्विपः ॥६२॥ ऋषिपुत्रकः

३ अनधीयानोऽपि विशिष्टजनसंसर्गात्परां व्युत्पत्तिमाप्नोति ॥ ६३ ॥ नीतिवाक्यामृत, विद्यावृद्धसमुद्देश।

है।[1] परन्तु जैसे गधेपर चढ़कर वैकुण्ठ जाना भी अच्छा नहीं समझा जाता, वैसे ही दुर्जनसे पढ़कर विद्वान् होना भी अच्छा नहीं है। हारीत कहते हैं कि जिस अशिष्ट मनुष्यकी सेवासे मनुष्य पापात्मा हो जाता है, उससे पढ़नेकी अपेक्षा मूर्ख रहना ही अच्छा है।[2] इससे सिद्ध होता है कि चरित्रवान् गुरुसे विद्या पढ़नी चाहिये, दुश्चरित्रसे पढ़कर विद्वान् होनेके बदले मूर्ख रहना ही श्रेयस्कर है।

भावी राजाका शिक्षक कौन हों?

अब राजाके शिक्षकका प्रश्न उपस्थित होता है। सोमदेव सूरिका कहना है कि जो चरित्रवान् विद्वान् कुलीन हों, उन्हींको राजाका उपाध्याय बनाना चाहिये।[3] नारदका भी मत है कि जिनके पूर्वज पुराने राजाओंके गुरु रहे हों और जो सच्चरित्र, विद्वान् और कुलीन हों, वे ही राजाओंके शिक्षक बनाये जायं।[4] हारीतका मत है कि जो राजा शिष्ट जनोंसे विद्या पढ़ता है, वह पृथिवीपर बड़ाई पाकर स्वर्ग जानेपर इन्द्रसे पूजित होता है।[5] शिष्ट गुरुसे पढ़वानेका उद्देश्य यही है कि शिष्य बहुधा शिक्षकके गुण दोषोंका अनुकरण करता है। मिट्टीके नये वर्त्तनमें जो संस्कार कर

---

१ अन्यापि जायते शोभा भूपस्यापि जडात्मनः।
साधुसंगाद्धि वृक्षस्य सलिलादूरवर्तिनः ॥वल्लभदेवः

२ वरं जनस्य मूर्खत्वं नाशिष्टजनसेवया।
पाण्डित्यं यस्य संसर्गात् पापत्मा जायते नृपः ॥हारीतः

३ वंशवृत्तविद्याभिजनविशुद्धा हि राज्ञामुपाध्यायाः ॥६५॥ नीति वाक्यामृत, विद्यावृद्ध समुद्देशः।

४ पूर्वेषां पाठका येषां पूर्वजा वृत्तसंयुताः।
विद्याकुलीनतः युक्ता नृपाणां गुरवश्च ते ॥नारदः॥

५ साधुपूजापरो राजा माहात्म्यं प्राप्य भूतले।
स्वर्गं गतस्ततो देवैरिन्द्राद्यैरपि पूज्यते ॥हारीतः॥

दिया जाता है, उसे ब्रह्मा भी नहीं मिटा सकते।[1] सोमदेवजीका यह कथन सर्वथा निर्भ्रान्त है; क्योंकि बचपनके संस्कार अमिट होते हैं। बृहस्पतिने ठीक ही कहा है कि मन्त्रियों और मन्त्रकुशलोंद्वारा जो राजा संचालित होता है, वह कुमार्गसे नहीं जाता; जिसे कम ज्ञान होता है, वही जाता है।[2] इसलिये मन्त्रियोंके कहनेपर चलनेवाला मूर्ख राजा ज्ञानलवदुर्विदग्धसे अच्छा होता है।

द्रव्य और अद्रव्य तथा बुद्धि और उत्साहके गुण

जिस पुरुषमें शिष्टोंके नियोज्यमान गुण स्थिर मिलते हैं, उसे द्रव्य कहते हैं।[3] क्रिया द्रव्यको ही विनीत कर सकती है, अद्रव्यको नहीं।[4] अर्थात् विद्याका फल योग्य शिष्य ही प्राप्त करते हैं। दूसरे शब्दोंमें कहें तो विद्या पढ़नेसे भी दुष्ट स्वभाव नहीं बदलता।[5] जिन शिष्योंमें बुद्धिके आठ गुण शुश्रूषा ग्रहण, धारण, विज्ञान, ऊह, अपोह और तत्त्वाभिनिवेश नहीं होते, उनके पढ़नेपर भी उन्हें विद्याका यथार्थ लाभ

---

१ नवेषु मृद्भाजनेषु लग्नः संस्कारो ब्रह्मणाप्यन्यथाकर्त्तुं न शक्यते ॥ ७१ ॥ नीति वाक्यामृत, विद्यावृद्ध समुद्देश।

२ मंत्रिभिर्मंत्रकुशलैरन्धः संचार्यते नृपः।
कुमार्गेण न स याति स्वल्पज्ञानस्तु गच्छति ॥ बृहस्पतिः
कहते भी हैं—नीम हकीम खतरएजान। नीम मुल्ला खतरए ईमान।

३ यत्र सद्भिराधीयमाना गुणा संक्रामन्ति तद् द्रव्यम् ॥४१॥ नीति-वाक्यामृत वि० वृ० समुद्देश

४ क्रिया हि विनयति द्रव्यं नाद्रव्यम्। अर्थशास्त्र अधि० १ अ० ५
कहा भी है:—हरी लकड़ियाकी छड़ी ज्यों नवाब नाव जाय।
सूखेपर फिर ना नवै कोटिन करौ उपाय ॥

५ न धर्मशास्त्रं पठतीतिकारणं न चापि वेदाध्यनं दुरात्मनः।
स्वभाव एवात्र तथातिरिच्यते यथा प्रकृत्या मधुरं गवां पयः ॥

नहीं होता।[1] सुनने वा जाननेकी इच्छा शुश्रूषा है, यद्यपि हिन्दीमें इसका अर्थ रोगी वा किसीकी सेवा परिचर्या समझा जाता है। जिसे कुछ जाननेकी इच्छा ही नहीं होती, उसे किसी विषयका ज्ञान कैसे हो सकता है ? परन्तु जाननेकी इच्छा ही यथेष्ट नहीं है, उपाध्याय या गुरु जो बतावे, उसे ध्यान देकर सुनना भी आवश्यक है। इसे श्रवण कहते हैं। पर सुनने मात्रसे ही काम नहीं चल सकता। बिना समझे बूझे सुनना जो पशुओंमें भी देखा जाता है। इसलिये समझना आवश्यक है। समझनेका नाम ग्रहण है। परन्तु समझ बूझकर एक कानसे सुना और दूसरे कानसे निकाल दिया, तो सब व्यर्थ हो गया, इसलिये स्मरण भी रखना चाहिये। इसे धारण कहते हैं। मोह, सन्देह और विपर्यासके अभावके ज्ञानको विज्ञान कहते हैं। जाने हुए अर्थका अवलम्बन करके दूसरे पदार्थोंमें व्याप्तिसे उसी प्रकारका वितर्कण ऊह कहाता है। युक्ति और उक्तिके साथ विरुद्ध अर्थसे उद्देश्यनाशकी सम्भावनाके विचारसे उस कामको छोड़ देना अपोह है। अथवा साधारण ज्ञान ऊह और विशेष ज्ञान अपोह है। विज्ञान, ऊह, अपोह और अनुगम (फल) द्वारा विशुद्ध होनेपर जो इदमित्थ निश्चय होता है, उसे तत्त्वाभिनिवेश कहते हैं। जिस पुरुषमें ये सब गुण होते हैं, वह राजद्रव्य समझा जाता है।[2] निर्भीकता, पापको न सहना, जल्दी काम करना और दक्षता ये उत्साहके गुण हैं।

नय वा नीतिका मूल विनय है। व्रत (सदाचार), विद्या और वयस्में जो अधिक हों, उनकी भक्ति करना विनय है।[3] विनय दो प्रकारका

---

१ शुश्रूषा-श्रवण-ग्रहण-धारण-विज्ञानोहापोह तत्त्वाभिनिविष्ट बुद्धिं विद्या-विनयति नेतरम् ॥ ५ ॥ अर्थ० अधि० १ अ० ५ ॥

२ यः स्यात् सर्वगुणोपेतो राजद्रव्यं तदुच्यते ।
सर्वकृत्येषु भूतानां तदर्हं कृत्यसाधनम् ॥ गुरुः ॥

३ व्रतविद्याधिका ये च तथा च वयसाधिकाः
यत्तेषां क्रियते भक्तिर्विनयःस उसाहृतः ॥ गर्गः ॥

है, एक सहज वा स्वाभाविक और दूसरा अभ्यास वा कार्यसे। शास्त्रार्थके निश्चयसे विनय होता है। सब इन्द्रियोंका अनुराग काम कहाता है। कान, आँख, नाक, जीभ और खाल ये पाँच ज्ञानेन्द्रिय और हाथ, पैर, वाणी, गुदा और गुह्येन्द्रिय ये पाँच कर्मेन्द्रिय हैं। ज्ञानेन्द्रियोंसे हम शब्द (सुनते), स्पर्श करते (छूते), रूप (देखते), रस (स्वाद लेते) और गन्ध (सूंघते) हैं, और कर्मेन्द्रियोंसे मल मूत्र त्याग करते, धरते, उठाते, चलते, फिरते और बोलते हैं। मन द्वारा आत्मा विषयोंको जानता है और इसलिये मन अन्तःकरण कहाता है।[1] दसो इन्द्रियाँ बहिःकरण हैं। इन इन्द्रियोंके वशमें न हो जाना, वरञ्च इन्हें अपने वशमें रखना इन्द्रियजय है। इष्ट वस्तुमें अनासक्ति वा संयत अनुराग अथवा अप्रवृत्तिसे इन्द्रियजय होता है। अर्थशास्त्रके अध्ययनसे भी इन्द्रियजय होता है। नीतिशास्त्र जाननेवाले ऐसे राजाको स्वदेश और परदेशमें लक्ष्मी मिलती है।

विनय और इन्द्रियजय

मनुष्यके मनमें अनेक प्रकारके विकार उत्पन्न होते हैं, उनसे वह दूसरोंकी हानि करनेके साथ ही अपनी भी बड़ी हानि कर डालता है। इन मनोविकारोंकी संज्ञा भी आचार्योंके मतानुसार शत्रु ही है। इनके नाम हैं काम, क्रोध, लोभ, मद, मान और हर्ष। इन छओंके गुटको शत्रुषड्वर्ग कहते हैं। जब शरीरके अन्दर इनका प्राबल्य हो जाता है, तब मनुष्य अपने नैसर्गिक रूप पशुत्वको प्राप्त हो जाता है। ये दोष तो साधारण मनुष्यके लिये भी हानिकर हैं, राजाके विषयमें तो कहना ही क्या है ! इसलिये कहा है कि विद्याविनीत और जितेन्द्रिय होने मात्रसे ही राज्य करनेकी योग्यता नहीं आ जाती, राजाको शत्रुषड्वर्गके दमनमें भी यत्नशील रहना चाहिये।

शत्रुषड्वर्ग

कामसे चार दोष वा व्यसन उत्पन्न होते हैं। गुणोंके विपरीत भाव वा अवगुण और गुणोंके अभावका नाम व्यसन है। मृगया (अहेर-शिकार), द्यूत (जुआ), स्त्री (स्त्री-सहवास) और पान (मद्यपान) ये कामज चतुर्वर्ग

१ अन्तःकरणमें मनके सिवा बुद्धि, चित्त, और अहङ्कार भी माने जाते हैं

कौन व्यसन कितना गर्हित है ? प्रसिद्ध हैं। परन्तु कौटिल्यका कहना है कि स्त्री और पानमें पान ही अधिकतर भयंकर है, क्योंकि अन्य कुलीन स्त्रियों वा गणिकादिसे भिन्न अपनी स्त्रीमें आसक्ति हो, तो पुत्रादिकी उत्पत्ति और इनसे अपनी रक्षाका होना बड़ा लाभ है। परन्तु मद्यपानसे विवेकबुद्धि नष्ट हो जाती है तथा बुद्धि, बल, धन और सत्संगका भी नाश हो जाता है। उनके मतसे द्यूत और मद्यमें द्यूत ही अधिकतर भयकर है, क्योंकि द्यूतमें जय पराजयके दो पक्ष हो जाते हैं और राजकुलोंमें इसीसे भेद उत्पन्न हो जाता है। परन्तु अन्य अनेक आचार्य मद्यपानको अत्यन्त पापिष्ट व्यसन समझते हैं। गौतमका कहना है कि परस्त्री, कुमारी वा वेश्यामें ही दुरभिसन्धि अथवा प्रेम निषिद्ध ठहराया गया है, क्योंकि यह मनुष्यको नाना प्रकारकी दुर्गतिमें डालकर कभी कभी यमराजके घर पहुँचा देता है।[1] इस दोपसे दाण्डक्य राजा नष्ट हुआ था।[2] पाण्डुकी आसक्ति मृगयामें[3], युधिष्ठिर और नलकी द्यूतमें तथा यादवोंकी मद्यमें थी।

---

१ अन्याश्रितां च यो नारीं कुमारीं वा निषेवते।
तस्य कामः प्रदुःखाय बन्धाय मरणाय च॥ गौतमः

२ दाण्डक्य राजा भोजवंशमें जन्मा था। एक दिन आखेट करता करता भृगुके आश्रममें पहुँचा और इनकी अनुपस्थितिमें इनकी रूपवती युवती पुत्रीको रथपर बैठाकर अपने प्रासादमें ले गया। जब दर्भ और समिध लेकर ऋषि आश्रममें पहुँचे और पुत्रीको नहीं पाया, तो ध्यान धर कर विचार कर जाना कि यह काम दाण्डक्यका है। इसपर ऋषिने दाण्डक्यको शाप दिया कि तेरे नगरपर सात दिनोंतक धूलकी वृष्टि होगी और तू मर जायगा। ऐसा ही हुआ।

३ पाण्डुने शिकार करते हुए किन्दम नामक मुनिको मृग समझकर मार डाला था। अयोध्याके राजा दशरथने भी ऐसे ही अन्धमुनिके पुत्र श्रवणका काम शब्दवेधी बाणसे समाप्त कर दिया था। युधिष्ठिर द्रौपदीतकको जुएमें हार गये थे, जिसके कारण बड़े संकट झेलने

इन व्यसनोंसे इनको बड़े कष्ट भोगने पड़े। विदुरनीति और भगवद्गीतामें काम, क्रोध और लोभको नरकका द्वार बताकर त्यागनेका उपदेश दिया गया है। परन्तु धर्मसे अविरुद्ध जो काम है, उसको त्यागनेका उपदेश नहीं है। यही नहीं, भगवान् श्रीकृष्ण तो कहते हैं कि धर्मसे अविरुद्ध काम मैं हूँ। यही मनु का भी मत है। ये कहते हैं कि वही अर्थकाम त्यागो, जो धर्म वर्जित है।[1]

दूसरेकी शक्तिका विचार न करके जो क्रोध करता है, उसका क्रोध उसके नाशका कारण होता है।[1] कहते हैं, 'कमजोर गुस्सा ज्यादा मार खानेका इरादा।' कौटिल्यके मतसे क्रोधसे तीन दोष उत्पन्न होते

क्रोधसे उत्पन्न दोष हैं, वाक्पारुष्य, अर्थदूषण और दंडपारुष्य। परन्तु महाभारतने उग्रता, निग्रह और आत्मत्याग ये तीन दोष और बढ़ाकर इसे कोपज षड्वर्ग कहा है। वाक्पारुष्य कठोर वचन कहना है, अर्थदूषण, आर्थिक हानि पहुँचाना वा अपघात करना है तथा दंडपारुष्य कठोर दंड देना है। आचार्योंमें इसपर भी मतभेद है कि कौन दोष कितना अधिक भयंकर है। वाक्पारुष्य और अर्थदूषणमें कौटिल्यके मतसे अर्थदूषण ही अधिक भयावह है, क्योंकि कठोर वचन सुनाकर भी सुननेवालेको अर्थ द्वारा सन्तुष्ट करना सम्भव है और वह अपना अपमान भूल भी सकता है, परन्तु अर्थदूषणका प्रतिकार प्रिय वचनोंसे नहीं हो सकता। अर्थदूषण और

पड़े। नलने भी अपने भाई पुष्करसे जुएमें हार कर नाना प्रकारके कष्ट सहे। मदिरा पान कर यादव प्रभास तीर्थमें आपसमें ही लड़कर मरे थे।

१ त्रिविधं नरकस्येदं द्वारं नाशमात्मनः।
कामः क्रोधस्तथा लाभस्तस्मादेतत् त्रयं त्यजेत ॥२१॥ गीता अध्याय१६
महाभारत उद्योग पर्व ७० अ० ३२

२ अविचार्यात्मनः शक्ति परस्य च समुत्सुकः।
यः कोपं याति भूपालः स विनाशं प्रगच्छति ॥ भागुरिः

धर्माविरुद्धो भूतेषु कामोऽस्मि भरतर्षभ ॥११॥ गीता अ० ७
थौयौपरित्यजे काम स्यातां धर्मवर्जितौ ॥ १७६ ॥ अ० ४ मनुस्मृतिः

दंडपारुष्यमें दंडपारुष्य ही प्रबल है। धनराशिके बदलेमें भी कोई मनुष्य प्राण देना नहीं चाहता, प्रत्युत दंडपारुष्यसे अपनेको बचानेके लिये मनुष्य धन देनेको प्रस्तुत हो जाता है। इसलिये अर्थदूषणसे दंडपारुष्य बली है। इस प्रकार वाक्पारुष्यसे अर्थदूषण और अर्थदूषणसे दंडपारुष्य बलवत्तर है।

दानपात्रको यह सोचकर दान न देना कि धन घट जायगा अथवा दूसरोंका धन यह सोचकर चुरा लेना कि इससे अपना धन बढ़ा लें, लोभ है।[1] पापकर्मका त्याग न करना और आचरणीय कर्मका त्याग करना मान कहाता है, जैसा दुर्योधन राजामें था।[2] कुल, बल, ऐश्वर्य, रूप और विद्याका अहंकार अथवा इनमें एकसे भी किसीका उत्पीड़न वा निबन्धन मद कहाता है।[3] अकारण किसी दूसरेको कष्ट पहुँचाकर प्रसन्न होना हर्ष है।[4] जनमेजय क्रोधसे, ऐल लोभसे, रावण मान वा अभिमानसे, द्रम्भोद्भव मदसे और वातापि हर्षसे नष्ट हुए। इसके विपरीत शत्रुषड्वर्गका त्याग करनेके कारण जामदग्न्य परशुराम और नभगके पुत्र नाभाग अम्बरीषने चिरकालतक पृथ्वीको भोगा।[5] इसलिये सब राजाओंको शत्रुषड्वर्गका दमन करते रहना

अन्य शत्रु

---

१ परस्वहरणं यत्तु तद्धनाढ्यः समाचरेत्।
तृष्णायाहेंषु (?) चादानं स लोभः परिकीर्तितः॥ अत्रिः

२ पापकृत्यापरित्यागो युक्तोक्तपरिवर्जनम्।
यत्तन्मानाभिधानं स्याद्यथा दुर्योधनस्य च॥ व्यासः

३ कुलवीर्यस्वरूपार्थैर्यो गर्वो ज्ञानसम्भवः।
स मदः प्रोच्यतेत्रऽन्यस्य येन वा कर्षणं भवेत्॥ जैमिनिः

४ प्रयोजनं विना दुःखं यो दत्त्वान्यस्य हृष्यति।
आत्मनोऽनर्थसन्देहैः सहर्षः प्रोच्यते बुधैः॥ भारद्वाजः

५ जनमेजय कुरवंशीय परीक्षितका पुत्र था। इसने अश्वमेध किया था। अश्वमेधमें घोड़ेके संज्ञपनके बाद मारे जानेवाले घोड़ेसे यजमान पत्नीका सम्बन्ध होता है। इन्द्रके घोड़ेके शरीरमें प्रवेश करनेके कारण

ही कर्तव्य है। इन्द्रियजयको नीतिशास्त्र में महत्व देनेका कारण यही है कि राजाको शत्रुको जीतना होता है और जो राजा अपनी इन्द्रियोंको नहीं जीत सकता—उन्हें वशमें नहीं रख सकता, वह शत्रुको कैसे जीत सकता है? इसी लिये महाभारतमें कहा है कि राजा पहले अपने चित्तको जीते, फिर शत्रुओं को जीते। जिस राजाने अपने चित्तको नहीं जीता, वह शत्रुको कैसे

ऋत्विजोंने घोड़ेको मारनेसे इनकार किया। इसपर जनमेजयने उनका तिरस्कार किया और उन्हें चाबुकसे मारा। इसपर ऋत्विजोंने शाप दिया कि तूने अकारण हमें मारा है, इसलिये तेरा शिर कटकर गिर पड़े। और उसका शिर कटकर गिर गया।

पुरूरवा राजा ऐल कहाता था। नैमिषारण्यवासी ऋषियोंने यज्ञके रक्षार्थ इसे बुलाया था। उस यज्ञमें सब पात्र सुवर्णके थे, जिन्हें देख पुरूरवाने ले जानेका विचार किया। जब ऋषियोंको उसके लोभका पता लगा, तब उन्होंने वज्र सदृश कुश-शलाकाओंसे उसे मार डाला।

दम्भोद्भव राजा बड़ा वीर था और लड़नेके लिये अपने समान योद्धा खोजता फिरता था। जब कोई नहीं मिला, तब इसने नारदसे कहा कि कोई वीर बताओ। नारदने कहा कि बदरिकाश्रममें नर नारायण तप कर रहें हैं, उनसे जाकर लड़। जब लड़ाई होने लगी, तब नरने इसे सेना सहित ढककर दर्भ-शलाका रूपी अस्त्र प्रहारसे मार डाला।

वातापि और इल्वल दो असुर भाई थे। वातापि इल्वलको बकरा बनाकर उसका मांस मुनियोंको खिला देता था और जब फिर उसे बुलाता कि 'भाई आ,' तो वह पेट फाड़कर निकल आता था। इससे उसे बड़ा हर्ष होता था। इस प्रकार बहुतसे ऋषियोंको मारनेके बाद उसने अगस्त्यको निमंत्रण दिया। अगस्त्यने भोजन करके पेटपर हाथ फेरा कि इल्वल हजम हो गया। वातापि बुलाता ही रह गया।

जीत सकता है ?[1] वास्तवमें इन्द्रियजय विजयकी शिक्षाका पहला पाठ है, जो राजाको दिया जाता है। राजनीतिशास्त्र व्यावहारिक शास्त्र है, इसलिये यह पाठ पढ़नेके लिये नहीं है, कर दिखानेके लिये है।

कौटिल्यने इन्द्रियजयका उपाय भी बताया है। वह इस प्रकार कि शत्रुषड्वर्गके त्यागसे इन्द्रियजय करे। वृद्धोंकी सेवासे बुद्धिको विकसित करे, गुप्तचरोंके द्वारा अपने और पराये राष्ट्रकी व्यवस्था जाने, उद्योगको योगक्षेमका साधन बना, अनुशासनसे प्रजाको स्वधर्ममें स्थापन करे। इस प्रकार इन्द्रियोंको वशमें रखता हुआ परस्त्री, परद्रव्य और परहिंसासे विरत रहे। अनुचित निद्रा, चपलता, मिथ्याभाषण, उद्धत वेष, अनर्थकारी सब कार्यों और इस प्रकारके सब लोगोंका सहवास तथा अधर्म और अनर्थ-युक्त व्यवहार त्याग दे यही वृत्ति रखे।[2]

इन्द्रियजय कैसे करे ?

अनन्तर वातापिको भी अगस्त्य ने मार डाला। इसलिये भोजन पचानेके लिये आज भी पेटपर हाथ फेरते कहते हैं:—'आतापि भक्षितो येन वातापि च महाबलः। अगस्त्यस्य प्रसादे न भोजनं मन जीर्यताम्॥'

१ आत्मा जेयः सदा राजा ततो जेयाश्च शत्रवः।
अजितात्मा नरपति विजयते कथं रिपुम्॥ ४॥ शान्ति पर्व अ० ६६

२ तस्मादरिषड्वर्गत्यागेनेन्द्रियजयं कुर्वीत॥ १॥ वृद्धसंयोगेन प्रज्ञां चारेण चक्षुरुत्थानेन योगक्षेमसाधनं कार्यानुशासनेन स्वधर्मस्थापनं विनयं विद्योपदेशेन लोकप्रियत्वमर्थसंयोगेन हितेन वृत्तिः॥ २॥ एवं वश्येन्द्रियः परस्त्रीद्रव्यहिंसाश्च वर्जयेत्॥ ३॥ स्वप्नलौल्यमनृतमुद्धत वेषत्वमनर्थमसंयुक्तं च व्यवहारम्॥५४॥अर्थशास्त्र अधि० १ अध्याय ७

७ कोश

धन धान्य सुवर्ण रत्नादिके भांडारका नाम कोश है। शुक्रका कहना है कि आपत्काल उपस्थित होनेपर और विशेषतः सम्पत्कालमें जो राजाकी सेना बढ़ाता है, उसे कोश कहते हैं।[1] कोशकी उत्पत्ति राजाके साथ ही हुई है, क्योंकि प्रजाने पशुओं और सुवर्णका पचासवां पण्यका दसवां और धान्यका षष्ठांश वैवस्वत मनुको देनेकी प्रतिज्ञा की थी।

कोषकी व्याख्या
कौटिल्यके अनुसार

प्रजाके कृषि, गोरक्षा और वाणिज्यमें तो राजाका भाग था ही, परन्तु यदि राजा विजिगीषु होता था, तो अन्य राजाओंपर चढ़ाई करके उन्हें करद बना लेता था और इस प्रकार आयका एक और मार्ग निकल आता था। राजा आजकलकी तरह नगद रुपया नहीं लेता था, पर धान्यका भाग धान्यमें, पशुओंका पशुओं में और हिरण्यका हिरण्यमें तथा रत्नादिका रत्नादिमें लिया करता था। धान्य राजकीय कोष्ठागारों वा कोठारोंमें भरा रहता था और पशु राजकीय पशुशालाओंमें रहते थे। राजकीय गोशालाओंके अतिरिक्त राजा बहुतसी गायें जंगलोंमें भी रहती थीं। गोधनका महत्त्व अधिक था। इसी कारण सुशर्मा राजाने कौरवोंके सहयोगसे विराट् राजाके मत्स्य देशपर गोहरणके लिये चढ़ाई की थी। पण्यपर जो राज्यकर होता था, वह अवश्य नगद मिला करता था।

राजभाग लेनेका प्रकार

कोशकी बड़ी महिमा है। नारदने बहुत ही ठीक कहा है कि दाढ़से रहित जैसा सर्प होता है वा जैसा सींगटुट्टा बैल होता है, वैसा ही वैरी

---

१ आपत्काले तु संप्राप्ते सम्पत्काले विशेषतः।
तंत्रं विवर्द्धयते राज्ञां यस्मात् स कोशो परिकीर्त्तितः॥ शुक्रः

समझना चाहिये जिसके पास न अर्थ (द्रव्य) होता है और न सेवक।[1] यहाँ अर्थ शब्दसे कोश समझना चाहिये। सोमदेवका कहना है कि जिससे सब प्रयोजनोंकी सिद्धि हो, वह अर्थ है।[2] धन गाड़ रखनेवालेके विषयमें बल्लभदेवने कहा है कि घरके भीतर गढ़ेमें धन रखनेसे यदि कोई धनी होता है, तो उसी धनसे हम क्यों धनी नहीं हैं ?[3] इसलिये सोमदेव सूरिका कहना है कि राजाओंकी जान कोश ही है, प्राण नहीं।[4] अभिप्राय यह है कि कोश होनेसे राजाको सेवक और सेना सब कुछ सुलभ है, पर कोशके अभावमें कोई पासतक खड़ा नहीं होता। इसलिये कोशहीन राजा नामका भले ही राजा हेर, वास्तवमें राजा नहीं रहता। इसीसे रैभ्यका यह कथन बहुत ही उपयुक्त जान पड़ता है कि यहाँ राजा शब्दसे कोश समझना चाहिये, राजाका शरीर नहीं; क्योंकि कोशहीन राजा शत्रुओंद्वारा परिपीड़ित होता है।[5] यही नहीं, क्षीणकोष राजा अपनी प्रजाको पीड़ित करता है, जिससे वह अन्य देशोंको चली जाती है।[6] और इस प्रकार राष्ट्र लोकशक्तिसे रहित हो जाता है।

कैसा कोश अच्छा होता है इस विषयमें गुरुका कहना है कि विपत्ति आनेपर जिससे बहुत व्यय किया जा सके और जो हिरण्यादि संयुक्त

---

१ दंष्ट्राविरहितः सर्पो भग्नशृंगोऽथवा वृषः।
तथा वैरी परिज्ञेयो यस्य नार्थो न सेवकाः॥ नारदः

२ यतः सर्वप्रयोजनसिद्धिः सोऽर्थः॥१॥ अर्थसमुद्देश, नीति

३ गृहमध्य निखातेन धनेन धनिनो यदि।
भवामः किन्तु तेनैव धनेन धनिनो वयम्॥ वल्लभदेवः

४ कोशो हि भूपतीनां जीवितं न प्राणाः॥ ५॥ कोश समुद्देश, नीति वाक्यामृत।

५ राजा शब्दोऽत्र कोशस्य न शरीरे नृपस्य च।
कोशहीनो नृपो यस्माच्छत्रुभिः परिपीडयते॥ रैभ्यः

६ क्षीणकोशो हि राजा पौर जानपदानन्यायेन ग्रसते ततो राष्ट्र-शून्यता स्यात्।॥ ३॥ कोश समुद्देश, नीति वाक्यामृत।

हो, वह गुणवान् कोश समझा जाता है।[1] इसीकी विशद व्याख्या सोमदेव सूरिने इस प्रकार की है—जिसमें सोना चाँदी बहुत हो और व्यावहारिक नाणकों वा चलनी सिक्कोंकी बहुतायत हो और जो आपत्कालमें बहुत व्यय करनेमें समर्थ हो, वह कोश उत्तम होता है।[2] इस व्याख्यामें अर्थव्यवस्थाका सारांश कूट कूटकर भर दिया गया है। विपत्तिके समय धान्य और पशुओंकी बिक्रीसे यथेष्ट द्रव्य प्राप्त नहीं हो सकता। इसलिये जिन वस्तुओंकी बिक्री तुरत हो सके और थोड़ी वस्तु अधिक मूल्यमें बिके भी, उन्हींका विशेष मात्रामें कोशमें संग्रह होना चाहिये। नाणक वा नाणा चालू, सिक्केको कहते हैं। कोशमें इसकी बड़ी आवश्यकता रहती है, क्योंकि सेवा और राजकर्मचारियोंको वेतनादिमें नाणक ही देना पड़ता है। नाणक दूकानदारको देकर मनुष्य बाजार वा दूकानसे अपनी आवश्यकताकी वस्तुएँ ले सकता है। हरण्य और रजत यथेष्ट मात्रामें राजकोशमें रहनेसे नाणक तैयार किये जा सकते हैं। इसलिये उत्तम कोश वही है जिसमें सोना चांदी बहुत हो। इसके सिवा कोई शत्रु चढ़ाई कर दे और अपने पास युद्ध करनेके लिये यथेष्ट सेना न हो वा जान पड़ता हो कि युद्धमें हमारी हार हो जायगी, तो राजा साम दानसे शत्रुको लौटा सकता है। शत्रु तभी दानसे सन्तुष्ट किया जा सकता है, जब राजाके कोशमें सुवर्ण रजत और रत्नादि हो अथवा राजाका कोश भरा पूरा हो। चढ़ाई करनेसे शत्रु अच्छी तरह लड़ेगा, जिससे विजय असम्भव है यह सोचकर कोई शत्रु यानका साहस भी नहीं कर सकता।

किस कोषकी प्रशंसा है

इसलिये वशिष्ठका कहना है कि सारी आमदनी न खर्च कर देनी चाहिये; कोशमें कुछ अवश्य डालना चाहिये, क्योंकि आपत्कालमें वह

१ आपत्काले तु सम्प्राप्ते बहुव्ययसहत्तमः।
हिरण्यादिभिः संयुक्तः स कोशो गुणवान् स्मृतः॥ गुरुः

२ सातिशय हिरण्यरजतप्राया व्यावहारिक नाणकबहुलोदमहापत्ति व्ययसहश्चेति कोशगुणाः॥ २॥ कोशसमुद्देश, नीतिवाक्यामृत।

राज्यरक्षक होता है।[1] राजाको क्षीणकोश कभी न रहना चाहिये और उसे बराबर भरनेका प्रयत्न करते रहना चाहिये। इसके विषयमें शुक्राचार्यका यह उपदेश है कि देवताओं, ब्राह्मणों, क्षत्रियों, वैश्यों और शूद्रोंके पास उनके उपभोगसे जो अधिक धन हो, उसका विचार करके क्षीणकोश राजा विभाग कर ले। पुरवासियों वा शहरियों और राष्ट्रवासियों वा देहातियोंको समझाकर उनका धन ले ले। खान्दानी अमीरों, पुरोहित, मंत्रियों और श्रोत्रियों, सामन्तों तथा सीमारक्षकोंके घर जाकर उनसे धन मांगे, जिसमें वे प्रसन्न हों।[2] इसी विषयको सोमदेव सूरिके टीकाकारने विस्तारपूर्वक समझाया है। देवद्विज और बनियोंका जो धन धर्मक्रियामें न लगता हो, उसका विभाग करके राजा कहे कि इतनेसे आपका निर्वाह हो जायगा और शेष अपने कोशमें ले ले। ऐसे ही जो धनी हों, जो विधवाएँ हों, जो धर्माधिष्ठानकारी (महन्त आदि) हों, ग्राम-व्यवहारी, वेश्या, पाषंडो हों, उनसे लौटा देनेकी प्रतिज्ञा करके धन लेकर कोशवृद्धि करे। जो समृद्ध नगरनिवासी और ग्रामवासी हों, उनके द्रव्यका विभाग करके और उन्हें समझाकर धन ले। जिन मन्त्री पुरोहित, सेनापति, सामन्त,

राजा कैसे कोश-वृद्धि करे ?

---

१ कोशवृद्धिः सदा कार्या नैव हानिः कथंचन।
आपत्काले हते प्राज्ञैर्यत्कोशो राज्यरक्षकः॥ वशिष्ठः

२ देव द्विजाति शूद्राणामुपभोगाधिकं धनम्।
क्षीणकोशेन संग्राह्यं प्रविचिन्त्य विभागतः॥ शुक्रः
पौराणां राष्ट्रजातानां ग्राह्यं साम्ना न चान्यथा।
दर्शयित्वा तथादायां ग्राह्यं वित्तं ततो नृपैः॥ १॥
तथा शाश्वतलक्ष्मीकान् पुरोहितसमंत्रियाः।
श्रोत्रियांश्चैव सामन्तान् सीमापालांस्तथैव च॥ २॥
गृहं गत्वा प्रयाचेत ते यथातुष्टि माप्नुयुः॥ ३॥ शुक्रः

भूपाल आदिकी लक्ष्मी न गयी हो, उनके घर जाकर विनयपूर्वक उनसे धन मांगकर कोशवृद्धि करे।[1]

---

१ देवद्विजवणिजां धर्माध्वर-परिजनानुपयोगि-द्रव्यभागैराढ्य-विधवानियोगि-ग्रामकूट-गणिका-संघ-पाखण्डि-विभव-प्रत्यादानैः समृद्धपौरजानपद-द्रविण-संविभाग-प्रार्थनैरनुपक्षयश्रीका मंत्रि-पुरोहित-सामन्त-भूपालानुनय गृहागमनाभ्यां क्षीणकोशः कोशं कुर्यात् ॥ १४ ॥

कोशसमुद्देश, नीति वाक्यामृत।

८ दुर्ग वा पुर

जहाँ शत्रु कठिनाईसे पहुँच सके अथवा जो स्थान शत्रुके लिये दुर्गम हो, वह दुर्ग कहाता है। सोमदेव सूरिका कहना है कि जिसके सामने जानेसे शत्रु दुःख प्राप्त करते हैं अथवा जहाँ दुर्जनके उद्योग वा अपने दोषसे आयी हुई आपदा दूर होती है, वह दुर्ग है।[1] शुक्राचार्य इसीको दूसरी तरहसे यों कहते हैं कि जिसको प्राप्त करनेमें शत्रुओंको दुःख उठाना पड़े और जो आपत्कालमें राजाकी रक्षा करे, वही दुर्ग है[2]।

दुर्ग की व्याख्या

प्रत्येक राष्ट्रमें उसका एक मुख्य स्थान होता है, जहाँ राजा और राज्य व्यवस्थासे सम्बन्ध रखनेवाले अधिकारी रहते हैं। इस कारण राष्ट्रके अन्य स्थानोंसे रंग-रूपमें उसकी भिन्नता होती है और उसका महत्त्व भी होता है। कहीं इस स्थानकी रचना दुर्गवत् होती है और कहीं नगरवत्। नगरवत् होती है तो नगरके अन्दर दुर्ग होता है और दुर्गवत् होती है तो दुर्गके अन्दर-नगर होता है। इसलिये दुर्ग और पुर पर्यायवाचक शब्द मानकर राज्य-शास्त्र-प्रणेताओंने इनका प्रयोग किया है। अति प्राचीन कालमें जब राष्ट्र बहुत छोटे होते थे, तब प्रायः दुर्गवत् ही नगर होते थे, जिस कारण ऋग्वेदमें 'आयसी पुरः'[3] अर्थात् लोहनिर्मित पुरकी चर्चा है। शुक्राचार्यने

राजधानी

---

१ यस्याभियोगात् परे दुःखं गच्छन्ति दुर्जनोद्योगविषया वा स्वस्यापदो गमयतीति दुर्गम् ॥१॥ दुर्गसमुद्देश, नीति वाक्यामृत।

२ यस्य दुर्गस्य सम्प्राप्तेः शत्रवो दुःखमाप्नुयुः।
स्वामिनं रक्षयत्येव व्यसने दुर्गमेव तत् ॥ शुक्रः

३ ऋग्वेद मंत्र ८ सू० २० मं० २

दुर्गको अत्यन्त अधिक महत्त्व दिया है और कहा है कि राजा उसके बिना वैसे ही शत्रुके लिये गम्य हो जाता है, जैसे विषकी दाढ़के बिना साँप और मदके बिना हाथी। अर्थात् जैसे विषकी दाढ़के बिना साँप और मदहीन हाथीको जो चाहे पकड़ सकता है, वैसे ही दुर्गहीन राजा सहजहीमें शत्रुके वंशमें हो जाता है।[1]

महाभारतके शान्तिपर्वमें युधिष्ठिरको दुर्गसम्पन्न पुरके विषयमें यह उपदेश दिया गया है कि उसके दृढ़ प्राकार और खाई हों, उसमें धान्य, और आयुध हों तथा हाथी घोड़े और रथ बहुत हों।[2]

दुर्गोंके प्रकार

धन्वदुर्ग, महीदुर्ग, गिरिदुर्ग, मनुष्यदुर्ग, मृद्दुर्ग और वनदुर्ग—ये छ भेद भी दुर्गके बताये गये हैं। शुक्र-नीतिसारमें बताया गया है कि जिस दुर्गमें खाइयों, काँटों और पत्थरोंसे मार्ग कठिन बना दिया गया हो और जो ऊसरमें बना हो, वह दुर्ग ऐरिण और जिसकी चारों ओर गहरी खाइयाँ हों, वह पारिख दुर्ग कहाता है। जिसका प्राकार वा परकोटा ईंट, पत्थर या मिट्टीका हो, वह पारिघ और जो महा-कंटीले वृक्षोंसे घिरा हो, वह वनदुर्ग कहाता है। जो जलके स्थानसे बहुत ऊँचेपर बना हो,[3] वह गिरिदुर्ग और जो अभेद्य हो और जहाँ व्यूहरचना

---

१ दंष्ट्राविरहितः सर्पो यथा नागो मदच्युतः।
दुर्गेण रहितो राजा तथा गम्यो भवद्रिपोः॥ शुक्रः

२ यत्पुरं दुर्गसम्पन्नं धान्यायुधसमन्वितम्।
दृढप्राकारपरिखं हस्त्यश्वरथसंकुलम्॥ ६॥ शान्तिपर्व अ० ८६।

३ खात-कण्टक-पाषाणैर्दुष्पथं दुर्गमैरिणम्।
परितस्तु महाखातं पारिखं दुर्गमेव तत्॥ ८५०॥
इष्टकोपल-मृद्भित्ति-प्राकारं पारिघं स्मृतम्।
महाकण्टकवृक्षौघै र्व्याप्तं तद्वनदुर्गमम्॥ ८५१॥
जलाभावस्तु परितो धन्वदुर्गं प्रकीर्तितम्।
जलदुर्गं स्मृतं तज्ज्ञैरासमन्तान्महाजलम्॥ ८५२॥ अ० ४।

जाननेवाले शूरवीर रहते हों, वह सैन्यदुर्ग तथा जिसमें शूरवीरोंके अनुकूल बन्धुजन रहते हों, वह सहायदुर्ग कहाता है। पारिखसे ऐरिण, ऐरिणसे पारिघ और पारिघसे वनदुर्ग श्रेष्ठ है। सहायदुर्ग और सैन्यदुर्ग सब दुर्गोंके साधन हैं। इनके बिना सब दुर्ग व्यर्थ हैं। सब दुर्गोंसे पंडित लोग सेना दुर्गको ही श्रेष्ठ समझते हैं। इनमें सहाय दुर्ग और सैन्य दुर्गको दुर्गोंके अन्तर्गत मानना ठीक नहीं है। दुर्गमें चाहे वह कैसा ही क्यों न हो, छोटी या बड़ी सेना होती ही है। इसलिये सेनाको पुर अर्थमें कहना युक्तिसंगत नहीं। धन्वदुर्ग, मरुभूमिका दुर्ग, महीदुर्ग कोट और मृद्दुर्ग मिट्टीका होता है। भरतपुरका किला मिट्टीका ही था जिसपर अधिकार करनेमें लार्ड लेकको दांतों पसीना आया था। गोरे इसपर चलते और धम्मसे गिर पड़ते थे।

कौटिल्यके दुर्ग के भेद

कौटिल्यने चार प्रकारके दुर्ग माने हैं, यथा औदक, पार्वत, धान्वन और वनदुर्ग। चारो ओर नदियों व झीलोंसे घिरा हुआ अथवा टापू औदक दुर्ग है। इसी प्रकार बड़े-बड़े पहाड़ी टीलोंसे घिरा हुआ अथवा प्राकृतिक गुफाओंके रूपमें पार्वत दुर्ग होता है। ऊसर या मरुभूमिमें जो दुर्ग होता है, वह धान्वन दुर्ग और चारो ओर दलदल या काँटेदार झाड़ियोंसे घिरा हुआ बन दुर्ग होता है। इनमें औदक और पार्वत दुर्गोंसे तो जनपदकी रक्षा होती है और धान्वन दुर्ग और वनदुर्ग जंगलियोंकी रक्षा के लिये उपयुक्त होते हैं अथवा विशेष आपत्तिके समय राजा भी इनका आश्रय ले सकता है![1] गत यूरोपीय महायुद्धमें ब्रिटेनकी रक्षा इसी कारण हुई कि यह औदक दुर्गके समान है।

मानसारके अनुसार आठ प्रकारके दुर्ग होते हैं, यथा, शिविर, वाहिनी-

---

१ अन्तर्द्वीपं स्थलं वा निम्नावरुद्धमौदकं प्रस्तरं गुहां वा पार्वतं निरुदकस्तम्बमिरिणं वा धान्वनं खञ्जनोदकं स्तम्बगहनं वना वनदुर्गम् ॥२॥ तेषां नदी पर्वत दुर्गं जनपदरक्षास्थानं धान्वनवनदुर्गमटवी स्थानं अपाद्यपसारो वा ॥ ३ ॥ अधि० २ अ० ३

मुख, स्थानीय, द्रोणक, संसिद्धि, कोलक, निगम और स्कन्धावार। स्थानीय-को तो कौटिल्यने जनपदका मुख्य स्थान वा नगर बताया है[1] और स्कन्धावारनिवेशपर उन्होंने एक प्रकरण ही लिखा है, जिससे जाना जाता है कि सेना रखनेके लिये जो छावनी होती है, वही स्कन्धावार है। छावनी बनानेकी विधि स्कन्धावारनिवेशमें बतायी गयी है। यह उत्तम भूमिपर गोल, लम्बी या चौकोर बनायी जाती है और इसके चार द्वार, छ मार्ग और नौ विभाग होते हैं।[2] शिविर पड़ाव है, जहां समय समयपर जाकर सेनासहित राजा कुछ कालके लिये रहता है। वाहिनी उस सैन्यसमूह-को कहते हैं जिसमें ८१ हाथी, ८१ रथ, २४३ घोड़े और ४०६ पैदल होते हैं और जहां इतनी सेना रहती है, वह वाहिनीमुख कहाता है। द्रोणक गांवका गढ़ होता है। संसिद्धि, कोलक और निगम सैन्यदलके ही भेद हैं। जान पड़ता है कि मानसारने दुर्गके भेद मनुष्यदुर्गको ही लक्ष्य करके किये हैं, स्थापत्यशास्त्रकी दृष्टिसे नहीं।

मानसारके मतानुसार दुर्ग

---

१ जनपदमध्ये समुदयस्थानं स्थानीयं निवेशयेत् ॥ ४ ॥ अधि २० अ० ३

२ स्कन्धावारं वृत्तं दीर्घं चतुरश्रं वा भूमिवशेन वा चतुर्द्वारं षट्पथं नवसंस्थानं मापयेयुः ॥ १ ॥ अधि० १० अ० १

६ अमात्य

राज्यव्यवस्था ठीक रखनेमें राजाको जो सहायता देता है, वह अमात्य कहाता है। सब आचार्योंने अमात्य शब्दका प्रयोग राज्यकी इस प्रकृतिके लिये किया है, परन्तु सोमदेव सूरिने अमात्यसमुद्देश और मंत्रिसमुद्देश पृथक्-पृथक् लिखकर दोनोंमें भेद कर दिया है। मंत्रि, पुरोहित और सेनापतिकी चर्चा मंत्रिसमुद्देशमें और अमात्यकी अन्यत्र की है। आय-व्यय, स्वामिरक्षा, तंत्रपोषण वा सेनाको ठीक रखना यह अमात्यका अधिकार बताया है। जैसे बिना हवाके आग नहीं जलती, एक पहियेसे रथ नहीं चलता, वैसे ही अकेला राजा राज्य नहीं चला सकता।[1] मंत्रीके क्या अधिकार हैं इसका व्योरा नहीं बताया है। मनुस्मृति-में यह ठीक ही कहा गया है कि जो काम सहजमें हो सकता है, वह भी एक मनुष्यके लिये कठिन हो जाता है, फिर राज्य जैसे बड़े कामका तो कहना ही क्या ?[2] अर्थात् राज्यकार्यका निर्वाह बिना मंत्रियोंके नहीं हो सकता। कौटिल्यका यह कहना ठीक ही है कि जैसे एक पहियेका रथ या गाड़ी निकम्मी रहती है, वैसे ही राजत्व भी सहायसाध्य है। इसलिये राजा सचिव नियुक्त करे और उनका मत सुने।[3]

अमात्यकी परिभाषा आवश्यकता और अधिकार

---

१ आयो व्ययः स्वामिरक्षा तंत्रपोषणं चामात्याधिकारः ॥ ६ ॥
किमवातः सेन्धनोऽपि वह्निर्ज्वलति ॥ ४ ॥ नह्येकचक्रं परिभ्रमति ॥ ३ ॥
नैकस्य कार्य सिद्धिरस्ति ॥ २ ॥ अमात्यसमुद्देश, नीतिवाक्यामृत।

२ अपि यत्सुकरं कर्म तदप्येकेन दुष्करम्।
विशेषतोऽसहायेन किन्तु राज्यं महोदयम् ॥ ५५ ॥ अ० ७ मनु०

३ सहायसाध्यं राजत्वं चक्रमेकं न वर्त्तते।
कुर्वीत सचिवांस्तस्मात्तेषां च श्रृणुयान्मतम् ॥ १५ ॥ अधि० १ अ० ७

इसलिये पहला प्रश्न है कि कितने मंत्री हों? मनुके अनुयायी कहते हैं कि मंत्रिपरिषद्में १२ मंत्री होने चाहिये। वृहस्पतिके अनुगामी कहते हैं कि १६ और शुक्रके अनुसर्त्ताओंका कहना है कि २० होने चाहिये। कौटिल्यका कहना है कि जितनेकी आवश्यकता हो, उतने ही मंत्री रखने चाहिये।

मंत्री कितने हों?

मंत्री राज्यकी प्रकृति बताया गया है, परन्तु शुक्रनीतिसारमें वह राजाकी प्रकृति भी कहा गया है। इसका कारण यह जान पड़ता है कि मंत्रीके दो प्रकारके स्वरूप हैं। एक तो राज्यांग होनेके कारण राज्यके कार्योंका वह निर्वाह करता है और इसलिये राज्यकी प्रकृति है और दूसरे राजाके उत्तरदायित्वको हल्का करने और उसे परामर्श देनेके कारण वह राजाकी प्रकृति भी है, क्योंकि इसका काम बँटा लेता है। पुरोहित, प्रतिनिधि, सचिव, मंत्री, प्राड्विवाक, पण्डित, सुमंत्र, अमात्य और दूतको शुक्रनीतिसार राजाकी दस प्रकृति बताया है, परन्तु साथ ही कहता है कि किसी किसीके मतसे आठ ही प्रकृति होतीं हैं, जैसे सुमंत्र, पण्डित, मंत्री, प्रधान, सचिव, अमात्य, प्राड्विवाक और प्रतिनिधि अर्थात् इनके अनुसार पुरोहित और दूत मंत्री नहीं हैं।[1] महाभारतमें दो स्थलोंपर प्रकृति शब्द आया है, परन्तु व्याख्या इसकी नहीं दी है। फिर भी टीकाकार नीलकंठने कदाचित् अमरकोशसे[2]

मंत्रियोंका महत्व

---

१ पुरोधा च प्रतिनिधिः प्रधानः सचिवस्तथा ॥ ६६ ॥
मंत्री च प्राड्विवाकश्च पण्डितश्च सुमंत्रकः।
अमात्यो दूत इत्येता राज्ञः प्रकृतयो दश ॥ ७० ॥
दशमांशाधिकाः पूर्वं दूतान्ताः क्रमशः स्मृताः।
अष्टप्रकृतिभिर्युक्तो नृपः कैश्चित्स्मृतः सदा ॥ ७१ ॥
सुमंत्रः पण्डितो मंत्री प्रधानः सचिवस्तथा।
अमात्यः प्राड्विवाकश्च तथा प्रतिनिधिः स्मृतः ॥ ७२ ॥ अ० २

२ स्वाम्यमात्य-सुहृत्कोश-राष्ट्र दुर्गबलानि च।
राज्याङ्गानि प्रकृतयः पौराणां श्रेणयोऽपि च ॥

स्वामि, अमात्य, सुहृत्, कोश, राष्ट्र, दुर्ग और बलको राज्यांग प्रकृति तथा पुरवासियोंकी श्रेणियाँ लिखकर राजाकी ये प्रकृतियाँ बतायी हैं—दुर्गाध्यक्ष, बलाध्यक्ष, धर्माध्यक्ष, चमूपति, पुरोहित, वैद्य और ज्योतिषी। परन्तु ऊपर जो प्रकृतियाँ बतायी गयी हैं, उनके रहते पुरोहितको छोड़ ये बहुत ही निम्नकोटिकी ठहरती हैं। कामन्दकीय नीतिसारने अमात्य, राष्ट्र, दुर्ग, कोश और दण्डको राजाकी प्रकृति बताया है और यह उचित भी जान पड़ता है।

महाभारतके शान्ति पर्वके ८० वें अध्यायके २४ वें श्लोक और सभापर्वके ५ वें अध्यायके २२ वें श्लोकमें तथा सभापर्वके ५ वें अध्यायके ३८ वें श्लोकमें यह तो कहा गया है कि १८ अधिकारी होते हैं परन्तु नाम नहीं दिये हैं। यहाँ भी टीकाकारने अपनी ओरसे ये १८ अधिकारी गिनाये हैं—मंत्री, पुरोहित, युवराज, चमूपति, दारपाल, अन्तर्वंशिक, कारागाराधिकारी, द्रव्यसञ्चयकारी, व्ययाधिकारी, प्रदेष्टा, नगराध्यक्ष, कार्यनिर्माणकारी, राष्ट्रान्तपालक, धर्माध्यक्ष, सभाध्यक्ष, दण्डपाल, दुर्गपाल और अटवीपाल वा वनाध्यक्ष। कौटिल्यके मतसे मंत्री, पुरोहित, सेनापति, युवराज, द्वारपाल, अन्तर्वंशिक, युवराज, प्रशास्ता, समाहर्त्ता, सन्निधाता, प्रदेष्टा, नायक, पौर, व्यावहारिक, सभाध्यक्ष, दण्डपाल, दुर्गपाल और अन्तपाल ये १८ तीर्थ हैं। दोनोंमें मंत्री, युवराज, पुरोहित, द्वारपाल, अन्तर्वंशिक, प्रदेष्टा, सभाध्यक्ष, दण्डपाल, अटवीपाल, और दुर्गपाल ये नौ नाम तो एक ही हैं, राष्ट्रान्तपाल अन्तपाल ही है। द्रव्यसंचयकारी समाहर्ता और व्ययाधिकारी संनिधाता तथा धर्माध्यक्ष व्यावहारिक हैं। प्रशास्ता ही कदाचित् नीलकंठका कारागाराधिकारी है। पौर यदि संस्था न मानें तो नगराध्यक्षके लिये आ सकता है। चमूपति और सेनापतिको एक समझ लें तो भी कार्यनिर्माणकारी और नायकको एक नहीं कह सकते।

अष्टादश तीर्थ

व्यवहार प्रकरणमें महाभारतमें कुछ और मंत्रियोंका उल्लेख है। पहले कहा गया है कि चार वेदज्ञ स्पष्टवादी पवित्र ब्राह्मण, आठ शस्त्रधारी बली

महाभारतके दूसरे प्रकरणमें मंत्रियों की योग्यताकी चर्चा

क्षत्रिय, २१ धनी वैश्य और तीन विनीत और अपने कार्यमें पटु पवित्र शूद्र और आठ गुणोंसे युक्त सूत हों। ये सभी ५० वर्षके स्पष्टवादी, अद्वेषी, कार्याकार्यके विवादोंके निर्णयमें समर्थ, निर्लोभ तथा घोर और बली व्यसनोंसे शून्य हों। ये न्यायसभा वा न्यायालयके न्यायाधीश वा जूरी जान· पड़ते हैं। परन्तु अन्तमें आधे श्लोकमें कह दिया गया है कि आठ मंत्रियोंके बीचमें बैठकर राजा स्वयं मन्त्रणा करे और अनन्तर यह निर्णय राष्ट्रमें भेजकर लोगोंको दिखावे। इस व्यवहारसे प्रजाकी रक्षा किया करे।[1] वास्तवमें आठ मन्त्रियोंकी सभा ही मन्त्रिपरिषद् है। मनुस्मृतिमें भी ७ वा ८ मंत्री रखनेका उपदेश है। मन्त्रियोंकी योग्यता और कार्योंका समावेश उसमें अत्यन्त संक्षेपमें किया गया है। कहा गया है कि जो लोग वंशपरम्परासे मंत्रीका कार्य करते आते हों, शास्त्रज्ञ हों, अच्छे निशानेबाज हों, शूर हों, अच्छे कुलके हों और परीक्षा किये हुए हों ऐसे सात आठ मंत्रियोंको राजा नियुक्त

---

१ चतुरो ब्रह्मणान् वैद्यान् प्रगल्भान् स्नातकान् शुचीन्।
क्षत्रियांश्च तथा चाष्टौ बलिनः शस्त्रपाणिनः ॥
वैश्यान् वित्तेन सम्पन्नानेकविंशतिसंख्यया।
त्रींश्च शूद्रान् विनीतांश्च शुचीन् कर्मणि पूर्वके ॥ ८ ॥
अष्टाभिश्च गुणैर्युक्तं सूतं पौराणिकं तथा।
पञ्चाशद्वर्षवयसं प्रगल्भमनसूयकम् ॥ ९ ॥
श्रुतिस्मृतिसमायुक्तं विनीतं समदर्शिनम्।
कार्ये विवदमानानां शक्तमर्थेष्वलोलुपम् ॥ १० ॥
वर्जितं चैव व्यसनैः सुघोरैः सप्तभिर्भृशम् ॥
अष्टानां मंत्रिणां मध्ये मंत्र राजोपधारयेत् ॥ ११ ॥
ततः सम्प्रेषयेद्राष्ट्रे राष्ट्रीयाय च दर्शयेत्।
अनेन व्यवहारेण द्रष्टव्यास्ते प्रजाःसदा ॥ शा० प० अ० ८५

करे और इनके साथ सन्धि, विग्रह, स्थान, उन्नति और रक्षाका विचार तथा प्राप्त द्रव्यको सत्पात्रोंमें वितरण का चिन्तन करे।[1]

छत्रपति शिवाजीकी मंत्रिसभामें भी आठ मंत्री थे और वह अष्ट-प्रधानों की सभा कहाती थी। उसमें पुरोहित और दूतका स्थान न था। अमात्य, सचिव, पेशवा, सेनापति, मंत्री, सुमन्त, पण्डित और न्यायाधीश ये उनके नाम थे। अमात्य अर्थमंत्री, सचिव एकाउंटेंट जेनरल और आडिटर, पेशवा प्रधान मंत्री, प्राइवेट सेक्रेटरी और सुमन्त परराष्ट्र-सचिव था।[2]

शिवाजीकी मंत्रिसभा

प्राचीन समयमें पुरोहितका राजापर बड़ा प्रभाव था और उसकी सम्मतिके बिना राजा कोई काम नहीं कर सकता था। कौटिल्य जैसे साम्राज्यवादी आचार्यने भी जब कहा है कि पुरोहितका अनुगामी राजा उसी प्रकार रहे जैसे पिताका पुत्र और स्वामीका भृत्य होता है, तब समझ लेना चहिये कि पुरोहितका कितना महत्त्व था।[3] हमारे ही देशमें नहीं, सभी देशोंमें यही बात थी। दूत वा राजदूतका काम भी बड़े उत्तरदायित्वका है और वह पूर्ण अधिकारोंसे युक्त राजाका प्रतिनिधि ही है। राजा परराष्ट्रनीतिके विषयमें इससे परामर्श भी करता था। अंगरेजीमें राजदूतको मिनिस्टर भी कहते हैं जिससे जान पड़ता है कि किसी समय राजा इससे मंत्रणा करता था और आज तो परराष्ट्रसचिव दूतसे मंत्रणा करता ही है।

---

१ मौलाञ्छास्त्रविदः शूराँल्लब्धलक्षान् कुलोद्भवान्।
सचिवान् सप्त चाष्टौ वा प्रकुर्वीत परीक्षितान्॥ ४५॥
तैस्सार्द्धं चिन्तयेन्नित्यं सामान्यं सन्धिविग्रहम्।
स्थाने समुदयं गुप्तिं लब्धप्रशमनानि च॥ ५६॥ अ० ७

२ रानाडेकृत Rise of Maratha Power p. 125

३ तमाचार्यं शिष्यः पितरं पुत्रो भृत्यः स्वामिनमिव चानुवर्त्तेत।
अधि० १ अ० ६

१० सुहृत् वा मित्र

जो राजा या राष्ट्र दूसरे राजा या राष्ट्रके सुख दुःखमें अथवा सम्पत् विपद् दोनोमें स्नेह करे, वह सुहृत् वा मित्र कहाता है। जैमिनिका मत है कि जो समृद्धि और विपद् दोनोमें स्नेह करे, वह सज्जन मित्र और विपरीत आचरण करनेवाला वैरी होता है।[1]

मित्र कौन है?

महाभारतमें भीष्मने चार प्रकारके मित्र इस भाँति बताये हैं, सहार्थ, भजमान, सहज और कृत्रिम। जब किसीका राज्य आपसमें बांट लेनेके लिये दो राजा मित्र बनते हैं, तब वे सहार्थ मित्र अर्थात् समान स्वार्थवाले मित्र कहाते हैं, जैसे जर्मनी और रूसने दूसरे महासमरमें अपनी शत्रुता मित्रतामें परिणत कर ली। पर स्वार्थसंघर्ष होते ही दोनो फिर शत्रु हो गये। पीढ़ी दर पीढ़ीके मित्र भजमान, नातेदार सहज मित्र और धनादिके लोभसे बने हुए मित्र कृत्रिम होते हैं।[2] शुक्रनीतिसार भी चार ही प्रकारके मित्र मानता है, उपकार करनेवाला, करानेवाला, अनुमति देनेवाला तथा सहायक।[3] परन्तु ऐसे मित्र साधारण लोगोंके ही होते हैं, राजाओंके तो असंभव हैं। नारदका मत है कि जो मनुष्य

मित्रोंके भेद

---

१ यत्समृद्धो क्रियात्स्नेहं यद्वत्तद्वत्तथापदि।
तन्मित्रं प्रोच्यते सद्भि वैंपरीत्येन वैरिणः॥ जैमिनिः

२ चतुर्विधानि मित्राणि राज्ञां राजन् भवंत्युत।
सहार्थो भजमानश्च सहजःकृत्रिमस्तथा॥ ३॥ शा० प० अ० ८०

३ मित्रशत्रुश्चतुर्धास्यादुपकारापकारयोः।
कर्ता कारयिता चानुमन्ता यश्च सहायकः॥ २॥ अ० ४

बिना कारण दूसरेका मित्र बन जाता है, वह नित्य मित्र है।[1] राजनीतिमें ऐसे मित्रोंका सर्वथा अभाव रहता है और जो ऐसी मित्रताका दावा करते हैं, वे मित्र नहीं, स्वामी बनते हैं। भागुरिका वचन है कि जो मित्र पूर्व-पुरुषोंसे चले आते हैं, वे सहज मित्र हैं[2] और भारद्वाज द्रोणका मत है कि जो द्रव्यके लोभसे मित्र बन जाते हैं, वे कृत्रिम मित्र हैं।[3]

महाभारतमें जो चार प्रकारके मित्र बताते गये हैं, उनमें बीचके दो श्रेष्ठ हैं। भीष्मने कहा है कि मित्रोंकी रक्षाके काममें राजा कभी असावधानी न करे, क्योंकि प्रमादी राजाका लोग पराभव करते हैं। मनुष्यका मन स्वभावसे ही चञ्चल होता है। कभी अच्छा बुरा और कभी बुरा अच्छा हो जाता है। इसलिये किसीका पूर्ण विश्वास न करके आवश्यक कार्य स्वयं करे।[4] राजनीतिमें सहार्थ और कृत्रिम मित्र ही देखे जाते हैं,

राजा किसीका पूर्ण विश्वास न करे

---

१ रक्ष्यते वध्यमानस्तु अन्यैर्निष्कारणं नरः।
रक्षेद्वा वध्यमानं यत्तन्नित्यं मित्रमुच्यते॥ भारद्वाजः

२ सम्बन्धः पूर्वजानां यस्तेन योऽत्र समाययौ।
मित्रत्वं कथितं तच्च सहजं मित्रमेव हि॥ भागुरिः

३ वृत्तं गृह्णाति यः स्नेहं नरस्य कुरुते नरः।
तन्मित्रं कृत्रिमं प्राहुर्नीतिशास्त्रविदो जनाः॥ भारद्वाजः

४ चतुर्णां मध्यमौ श्रेष्ठौ नित्य शङ्क्यौ तथाऽपरौ।
सर्वे नित्यं शङ्कितव्यः प्रत्यक्षं कार्यमात्मनः॥ ६॥
नहि राजा प्रमादो वै कर्त्तव्यं मित्ररक्षणे।
प्रमादिनं हि राजानं लोकाः परिभवन्त्युत॥ ७॥
असाधुः साधुतामेति साधुर्भवति दारुणः।
अरिश्च मित्रं भवति मित्रञ्चापि प्रदुष्यति॥ ८॥
अनित्यचित्तःपुरुषस्तस्मिन् को जातु विश्वसेत्।
तस्मात्प्रधानं यत्कार्यं प्रत्यक्षं तत्समाचरेत्॥ ९॥
शान्तिपर्व अ० ८०

क्योंकि उसमें स्वार्थ ही काम करता है। उसमें न तो नातेदारी मित्रताको दृढ़ कर सकती है और न परम्परा। नातेदारीसे काम हो सकता होता, तो इंगलैंड और जर्मनीमें युद्ध न होता और जर्मनीके अफ्रिकन उपनिवेशोंपर 'मांडेट' की आड़में इंगलैंडका अधिकार न हो जाता; क्योंकि जर्मनीके विल्हेम कैसर विक्टोरियाके नाती और इंगलैंडके पाँचवें जार्ज पोते थे। इंगलैंड और फ्रांसकी परम्पराकी शत्रुता थी, क्योंकि अनेक बार दोनोमें युद्ध हुए थे। उसके सिवा १८१५ में वाटरलूके मैदानमें इंगलैंड और जर्मनीके मुख्य राज्य प्रशियाकी सेनाओंने फ्रांसके सम्राट् नैपोलियन बोनापार्टको हराया था। १९१४ में परम्पराके विरुद्ध इंगलैंड और रूस मिलकर जर्मनीसे लड़े थे। इंगलैंडको कोई सौ सालसे सुपने आ रहे हैं कि रूस पश्चिमोत्तरसे भारतपर आक्रमण करेगा। १९१४ में इस परम्पराके विरुद्ध दोनो मिल ही नहीं गये, परंतु तुर्कोंका राज्य बाँट लेनेके लिये सहार्थ संधि भी की। इटलीका पहले जर्मनी आस्ट्रियासे मिलना और फिर मित्रता तोड़कर आस्ट्रियापर आक्रमण करना कृत्रिम संधि का उदाहरण है। ब्रिटिश भारत सरकार और अफगानिस्तानकी मित्रता कृत्रिम मित्रताका दूसरा दृष्टांत है। अफगानिस्तानको भारत सरकार १८ लाख वार्षिक देती थी, परंतु अफगानिस्तानने इसका विचार न कर १९१९ में उसपर चढ़ाई कर दी। पहले महायुद्धके शत्रु जर्मनी और इटली गत महायुद्धमें पहले मित्र रहे; पर बादको शत्रु हो गये। संसारके इतिहाससे और भी उदाहरण दिये जा सकते हैं। गोस्वामी तुलसीदासजीने संक्षेपमें यही बात यों कह दी है :—समउ फिरे रिपु होहिं पिरीते॥ भानु कमल कुल पोषनिहारा। बिनु जल जारि करइ सोइ छारा॥[1]

शुक्रनीतिसारके अनुसार वह शत्रु होता है, जो अपने इष्टकी हानि करे।[2] कामंदकका मत है कि जिस पदार्थको लेनेकी अपनी इच्छा हो

---

१ अयोध्या कांड।

२ स्वेष्टहानिकरः शत्रुर्दुष्टः पापप्रचारवान्। ५२५ अ० ४

और वही पदार्थ दूसरा लेना चाहे, तो वह पुरुष शत्रु कहाता है और जिस शत्रुमें विजिगीषु—विजयाकांक्षीके गुण हों, उसे दारुण शत्रु समझना चाहिये।[1] इस प्रकार जिसकी सहायतासे स्वार्थसिद्ध होता है, वह मित्र और जिससे उसमें बाधा पड़ती है, वह शत्रु है।

शत्रुके लक्षण

---

१ एकार्थाभिनिवेशित्वमरिलक्षणमुच्यते।
दारुणस्तु स्मृतः शत्रुर्विजिगीषुगुणान्वितः ॥ १४ ॥
कामन्दकीय नीतिसार सर्ग ८

द्वितीय भाग

१ राष्ट्रसभा

कुछ लोगोंके समूहमें जो वादविवाद होता है, वह सभा कहाता है। अथर्ववेदमें बताया गया है कि सभाका नाम नरिष्टा वा वादानुवाद है।[1]

राष्ट्रसभाके विकास की कल्पना

परन्तु जिस सभाका हम विचार कर रहे हैं, वह वकवादियोंकी सभा नहीं, राष्ट्रिय विषयोंपर विचार और उनका निर्णय करनेको होती थी। इस कारण उसके कुछ नियम और अधिकार भी थे। परन्तु राष्ट्रसभाके इस विकासका इतिहास उपलब्ध नहीं है। अथर्ववेदसे हम केवल इतना ही जान पाते हैं कि जनशक्तिका विकास पहले सभाके रूपमें हुआ, फिर समितिमें परिणत हुआ और अन्तमें उसकी पूर्ति मन्त्रणामण्डलमें हुई।[2] यह मन्त्रणा-मण्डल ही राष्ट्र सभा होगा। जब राष्ट्र उत्पन्न हुआ होगा, तब राष्ट्र-कार्य पर विचार करनेके लिये राष्ट्रसभाकी आवश्यकता हुई होगी। आदिमें समाज—अवश्य ही ग्राम-समाजकी शक्तिका संगठन ग्राम-सभामें हुआ

---

१ विद्म ते सभे नाम नरिष्ठा नाम वा असि ॥ ७। १२। २ अथर्व०

We know thy name Conference : thy name is interchange of talk. Griffith.

२ सोदक्रामत् सा सभायां न्यक्रामत् ॥ ८॥
यन्त्यस्य सभां सभ्यो भवति य एवं वेद ॥ ९॥
सोदक्रामत् सा समितौ न्यक्रामत् ॥ १०॥
यन्त्यस्य समितिं सामित्यो भवति य एवं वेद ॥ ११॥
सोदक्रामत् सामन्त्रणे न्यक्रामत् ॥ १२॥
यन्त्यस्यामंत्रणं मामन्त्रणीयो भवति य एवं वेद ॥१३॥ सू० १० कांड ८

होगा और फिर कई ग्रामोंकी शक्तियां वा सभाएँ मिलकर समिति रूपमें आयी होंगी और अंतमें समितियोंकी सम्मिलित शक्तिने आमंत्रणा मण्डल वा राष्ट्रसभाका स्वरूप प्राप्त किया होगा। सभाको ग्रामसभा, समितिको नगर वा जिलेकी सभा और ग्रामों और नगरोंकी प्रतिनिधि सभाको मन्त्रणा-मण्डल वा राष्ट्रसभा कहना उचित प्रतीत होता है। इसलिये सभामें जानेवाला सभ्य, समितिमें जानेवाला सामित्य और आमन्त्रणा-मण्डलमें जानेवाला आमंत्रणी कहाता था। सभा और समितिके सम्बन्धमें ऊपर जो कहा गया है, वह कल्पनामात्र है; क्योंकि हमारे पास अभी ऐसे कुछ प्रमाण नहीं हैं जिनसे हम इदमित्थं कुछ कह सकें। सभा और समिति दोनोकी चर्चा अनेक वेद मंत्रोंमें अलग अलग और कहीं एक साथ भी मिलती है, परन्तु वे क्या करती थीं यह जाननेका कोई उपाय नहीं है। किसी किसीके मतसे यह सभा ग्रामसभा नहीं, राजसभा थी, जिसमें बड़े बड़े आदमी राजाके साथ प्रश्नोंपर विचार करते थे।[१] परन्तु अथर्ववेदमें आमन्त्रणके विकासका जो क्रम दिया है, वह इसके सर्वथा विपरीत है। समितिको ऋग्वेदके १०।१४१।४ मंत्रमें 'संगति' कहा है और कहीं कहीं वह संग्राम भी बतायी गयी है। संग्राम शब्दका प्रयोग आज-कल युद्धके लिये किया जाता है, परंतु वह ग्राम-समूहके लिये भी प्रयुक्त होता था। इससे यदि यह अर्थ किया जाय कि ग्राम-समूहकी सभा समिति थी तो दोष नहीं। यह भी कहा जाता है कि समिति युद्ध समिति होती थी। इसमें कोई आश्चर्य नहीं कि पहले जो 'संग्राम' शब्द युद्ध सम्बन्धी कार्यपर विचार करनेवाली संस्थाके लिये प्रयुक्त होता था, वही कालान्तरमें संग्राम कहाने लगा हो।

---

१. This sabha, which we designate as the Political Council had hardly any connection with the village: but was a central aristocratic gathering associated with the king. Development of Hindu Polity and Political Theories. p. 111 by Narayan Chandra Bandopadhyaya.

सभा और समितिके विषयमें वेदोंमें जो अनेक मन्त्र मिलते हैं, उनसे इतना ही जाना जाता है कि ये दो संस्थाएं थीं। पर ये क्या करती थीं इसका पता नहीं लगता। ऋग्वेदके एक मन्त्रमें बताया गया है कि सब मित्र यशस्वी होकर आनेवाले, सभाको सहन करनेवाले, मित्रको (राजाको) देखकर प्रसन्न होते हैं, क्योंकि वह अन्याय वा पापको दूर करनेवाला, अन्नकी वृद्धि करनेवाला है तथा बल बढ़ाकर प्रजाकी रक्षा करने में पूर्ण रूपसे समर्थ है।[1]

सभा और समिति-का अन्तर

इस मन्त्रमें 'सभाको सहन करनेवाले मित्रको' पद विशेष विचारणीय हैं, क्योंकि इससे स्पष्ट होता है कि उक्त सभाको राजाके कार्योंकी टीका करनेका भी अधिकार था और जो राजा यह आलोचना सह लेता था, वह सभाको सहन करनेवाला समझा जाता था। प्रायः एक सौ सूक्तोंके बाद एक ऋचा है जिसमें राजा अपने सामित्योंसे कहता है, 'हे सामित्यो! मैं सब प्रयत्नोंसे विजयी और तेजस्वी होकर आया हूँ। तुम्हारा विचार और तुम्हारी समिति मैं स्वीकार करता हूँ।'[2] इस मंत्रका भी विशेष अर्थ है और वह यह कि समिति राजाकी आलोचना ही नहीं करती थी, वरञ्च ऐसे निर्णय भी करती थी, जो उसके प्रतिकूल होते थे; परन्तु इन्हें माननेके लिये वह बाध्य होता था।

समिति क्या करती थी?

अथर्ववेदमें राज्याभिषेकके समयका एक मन्त्र है जिसमें राजासे कहा गया है कि 'तू स्थिर हो, पदच्युत न हो, शत्रुओंका संहार कर, शत्रुवत्

१ सर्वे नन्दन्ति यशसागतेन सभासाहेन सख्या सखायः।
किल्विषस्पृत्पितुषणिर्ह्येषामरं हितो भवति वाजिनाय ॥ १० अथर्ववेद ७।१।१०

२ अभिभूरहमागमं विश्वकर्मेण धाम्ना।
आवश्चित्तमावो व्रतमावोऽहं समितिं ददे ॥ ४ ॥ ऋ० १०।१६६

राजकार्यके लिये सभा और समिति-का प्रयोजन

आचरण करनेवालोंको नीचे गिरा । सब दिशाओंमें एकता और मेलसे काम करनेवाले हों और तू अपनी स्थिरताके लिये समिति बना ।[1] इससे जान पड़ता है कि समितिके बिना राजा स्थिर नहीं हो सकता था । परन्तु सभा समिति दोनोंकी अनुकूलता राजाके लिये आवश्यक होती थी, क्योंकि एक और मन्त्रमें बताया गया है कि 'उसने प्रजाका अनुगमन किया और सभा, समिति, सेना और सुरा या ईश्वरताने उसका अनुगमन किया और जो यह जानता है, वह सभा, समिति, सेना और सुराका प्रियपात्र होता है ।'[2] अथर्ववेदका एक मंत्र और है जिसमें सभा और समिति प्रजापतिकी कन्याएं बतायी गयी हैं । राजाका वचन है कि सभा और समितिको मैं प्रजापतिकी कन्याएं समझता हूँ । ये मेरी रक्षा करें । जिससे मैं मिलूँ वह मुझे उपदेश दे और मैं अपने पितरोंसे (राजा बनानेवालोंसे) रुचिर वचन बोलूँ ।[3] इससे यह सिद्ध होता है कि सभा और समिति दोनोंका राजकार्यसे सम्बन्ध था । और सभा केवल न्यायालय नहीं थी । यद्यपि जायसवालजी और बन्द्योपाध्यायजीकी यह बात

---

१ ध्रुवोच्युतः प्रमृणीहि शत्रून्छत्रूयतो धरान् पादयस्व ।
सर्वा दिशः संमनसः सध्राची ध्रुवाय ते समितिः कल्पतामिह ॥ ३ ॥
अथर्व० सू० ८८ । का० ६

२ स विशोनुव्यचलत् ॥ १ ॥
तं सभा समितिश्च सेना च सुरा चानुव्यचलन् ॥ २ ॥
सभायाश्च वै समितेश्च सेनायाश्च सुरायाश्च प्रियं धाम भवति य एवं वेद ॥ ३ ॥ अथर्व० । कांड १५ सू० ९

३ सभा च मा समितिश्चावतां प्रजापते र्दुहितरौ संविदाने ।
येना संगच्छा उप मा स शिक्षाच्चारु वदानि पितरः संगतेषु ॥ १ ॥
अथर्व० सू० १२ कांड ७

Hindu Polity pp. 18—19 Pt. 1

मानी जा सकती है कि सभा न्यायसभाका भी काम करती थी। जायसवालजी ने पारस्कर गृह्यसूत्रमें इसके लिये 'घोर', 'आपत्ति' और 'घोरता' शब्दोंका प्रयोग देखकर निश्चय किया है कि यह 'आपत्ति' और 'घोरता' अपराधियोंके लिये ही थी।

क्या सभा समिति लार्ड और कामन्ससी सभाएँ थीं?

किसी किसीकी सम्मतिमें सभा मंत्रिपरिषद् और समिति राष्ट्रसभा थी। यह असम्भव नहीं है, क्योंकि राष्ट्रसभाकी उत्पत्तिका क्रम यही हो सकता है कि पहले राजा अपने सहायकों और मित्रोंसे परामर्श करता हो और जब समस्त राष्ट्रका संगठन हो जाय, तब राष्ट्रसभा हो। यही समिति कहलाने लगी होगी। पाश्चात्य विद्वानोंका मत है कि सभा ब्राह्मणों और मघवों वा क्षत्रियोंकी संस्था थी और समितिमें विश् वा प्रजाजन बैठते थे और ब्राह्मणों तथा मघवोंको वहाँ जानेकी स्वतंत्रता थी। इस हिसाबसे सभा लार्डसभा और समिति कामन्स सभा थी।

विश्का महत्व

जो हो, यह निश्चय है कि राजाके निर्वाचन और उसकी पदच्युतिमें विश् वा साधारण प्रजाकी अनुकूलता अपेक्षित होती थी, क्योंकि अथर्ववेदके एक मंत्रमें बताया गया है कि सब विश् तुझे चाहें।[1] दूसरेमें कहा गया है कि तुझे विश् राज्यके लिये चुनें।[2] अथर्ववेदका ही एक मंत्र है, जिसमें कहा गया है कि जो राजा पुरोहितपर अत्याचार करता है, उसके राष्ट्रमें

---

१ आ त्वा हार्षमन्तरभूर्ध्रुवस्तिष्ठा विचाचलत्।
विशस्त्वा सर्वा वाञ्छन्तु मा त्वद्राष्ट्रमधिभ्रशत् ॥१॥ अथर्व०।८८ सू०६ कांड ३।४।२

२ त्वां विशो वृणतां राज्याय त्वामिमाः प्रदिशः पञ्चदेवीः।
वर्ष्मन् राष्ट्रस्य ककुदि श्रयस्व ततो न उग्रो विभाजा वसूनि ॥ ४ ॥
अथर्व० सू० २ कां० ३

मित्रावरुणाका जल नहीं बरसता, उसे समिति नहीं मानती और न वह मित्रको वशमें ही कर सकता है।[1] समिति और सभा दोनोंके अध्यक्ष होते थे जो ईशान वा सभापति कहाते थे।

कौरवोंकी सभामें सन्धिकी आवश्यकतापर श्रीकृष्णने अत्यन्त महत्व-पूर्ण व्याख्यान दिया था। पांडवोंसे सन्धिका जो प्रस्ताव श्रीकृष्णने कौरवोंकी सभामें किया था, उसका विचार भी कौरवोंकी सभामें हुआ था। परंतु द्रौपदीके साथ राजसभामें जैसा व्यव-हार दुःशासनने किया, उससे स्पष्ट होता है कि सभा नाममात्र रह गयी थी, उसके सभासद मुसाहब बन गये थे और वह एक तरहका दरबार या राजाकी बैठक बन गयी थी। इससे सिद्ध है कि कुरुक्षेत्र युद्धके पहले सभाका कोई महत्त्व नहीं रह गया था।

कुरुक्षेत्र युद्धके पहले सभा हतप्रभ हो गयी थी।

यद्यपि बौद्ध कालके गणराज्योंका समस्त कार्य सभाओंद्वारा होता था, तथापि इनके अधिकारों आदिका भी विशेष वर्णन अप्राप्य है। परंतु प्रोफेसर होज़ डेविड्सने प्राचीनतम बौद्ध ग्रंथोंके अध्ययनसे जाना है कि थोड़े बहुत शक्तिशाली राजतंत्रोंके साथ पूर्ण अथवा अपूर्ण स्वतन्त्रतायुक्त प्रजातंत्र राज्य भी बच रहे थे। मगध, कोशल, वंस वा वत्स तथा अवन्तीमें तो राजा थे और अवशिष्ट देशोंमें गणतंत्र थे। मगधकी राजधानी राजगृह वा राजगिर थी और इसके राजाका नाम विम्बसार था। कोशलकी राजधानी सावत्थी वा श्रावस्ती थी और राजाका नाम पसेनादि (प्रसेनजित्) था। वंश वा वत्सकी राजधानी कौशाम्बी थी, जो आजकल प्रयागके पासका कोसम गाँव है। इसके राजाका नाम उदेन वा उदयन था।

राजतंत्रोंका साथ ही प्रजातंत्रोंका अस्तित्व

---

१ न वर्षं मैत्रावरुणं ब्रह्मज्यमभिवर्षति।
नाऽस्मै समितिः कल्पते न मित्रं नयते वशम् ॥१५।५।१९ अथर्व०

अवन्तीकी राजधानी उज्जयिनी थी और राजाका नाम पज्जोत (प्रद्योत) था। लिच्छिवि, मल्ल, शक आदि जातियोंके भी प्रजातंत्र थे। इस शाकीय जातिका शासन और विचार सम्बन्धी कार्य सार्वजनिक सभामें (संथागारमें) होता था, जिसमें छोटे बड़े समान रूपसे उपस्थित होते थे। ऐसी ही पार्लमेंटमें राजा पसेनादिके शाकीय वंशकी कन्यासे ब्याह करनेके प्रस्तावपर विचार हुआ। जब अम्बट्ठ (अम्बष्ठ) कार्यवश कपिलवस्तु गया, तब वह संथागारमें गया, जहाँ अधिवेशन हो रहा था। बुद्धकी मृत्युकी सूचना देनेके लिये आनन्द मल्लोंके संथागारमें ही गये थे, जहाँ वे उस समय उसी विषयपर विचार कर रहे थे।[1]

इन गणतंत्रोंके मुखियोंकी संज्ञा राजा थी। प्रो० ह्रीज डेविड्स लिखते हैं:—'यह हमें नहीं मालूम कि एक मुखिया—कैसे और किस अवधिके लिये कार्यकर्ता निर्वाचित होता था, जो सभाके अधिवेशनोंमें अध्यक्षत्व करता था और जब अधिवेशन नहीं होते थे, तब राजकाज चलाता था। इसकी पदवी राजा थी, जो कुछ कुछ रोमनोंके कान्सल या यूनानियोंके आर्कनके समान था।'

प्रजातंत्रका मुखिया राजा कहाता था

पर लिच्छवियोंमें ऐसे पदपर एक त्रिमूर्ति या तिगुट होता था, जिसका जोड़ा कहीं नहीं मिलता और न राजाके समान वैसे कार्योंका ही पता चलता है जो ऊपर लिखे वास्तविक राजाके विषयमें कहे जाते हैं। पर हम सुनते हैं कि किसी समय बुद्धका जवान चचेरा भाई भडिया (भद्दिय) राजा था और दूसरे स्थलपर बुद्धका पिता शुद्धोदन राजा कहा गया है, जो अन्यत्र साधारण नागरिक शाकीय शुद्धोदन बताया गया है।[2]

---

१ Rhys David's Buddhist India p. 19

२ A single chief—how and for what period was chosen, we do not know—was elected as office-holder presiding over the sessions, and if no sessions were sitting over the State. He bore the

इस वर्णनसे जाना जाता है कि गणराज्योंकी सभाएँ जीती जागती संस्थाएँ थीं। बौद्धोंके महापरिनिब्बान सुत्त तथा महावग्ग आदि अनेक ग्रंथोंमें इन गणराज्योंकी चर्चा है। मगधके राजा

बज्जियोंपर अजातशत्रुकी चढ़ाई

अजातशत्रुने गौतम बुद्धसे पूछा था कि हम वज्जी संघको कैसे अपने अधीन करें। इसपर अजातशत्रुके मंत्री वर्षकारके (वस्सकारके) सामने बुद्धने अपने मुख्य शिष्य वा अग्रश्रावक आनन्दसे पूछा, 'आनन्द, क्या तुमने सुना है कि वज्जी समय समयपर पूरी सभाएँ करते हैं?' आनन्दने उत्तर दिया, 'महाराज, मैंने ऐसा ही सुना है।' इसपर बुद्धने कहा, 'आनन्द, जबतक वज्जी समय समयपर सभा करते रहेंगे, मेलसे मिलेंगे और मेलसे उठेंगे तथा मेलसे ही अपने उत्तरदायित्वका निर्वाह करते रहेंगे, जबतक वे ऐसा काम न करेंगे जो पहलेसे ही नहीं चला आता और जो चला आता है, उसे बन्द न करेंगे और पुराकालमें स्थापित वज्जियोंकी संस्थाओंके अनुसार

---

title of raja which must have meant something like the Roman consul or Greek archan. * * But we have nowhere such a triumvirate as bore corresponding office among the Lichchavis nor of such acts of kingly sovereignty as are ascribed to the real kings mentioned above. But we hear at one time that Bhadiya a young cousin of the Buddha's was the raja and in another passage Suddhodana the Buddha's father (who is elsewhere spoken of as a simple citizen Suddhodan the Sakiyen) is called the raja. p. 19.

प्रजातंत्रके समय रोममें समस्त रोमन समाजके साधारण मैजिस्ट्रेटोंमें दो सर्वोच्च मैजिस्ट्रेट कान्सल कहाते थे।

प्राचीन यूनानके कई राज्योंमें सर्वोच्च मैजिस्ट्रेट आर्कन कहाते थे। पहले ये १० वर्ष और फिर एक वर्षके लिये नियुक्त होते थे। ये मुल्की काम करते थे।

कार्य करते रहेंगे, जबतक वे बूढ़े वज्जियोंकी प्रतिष्ठा और आदर करते रहेंगे, तबतक वज्जियोंकी अवनतिके बदले उन्नतिकी ही आशा है।'

वेदकालमें सभा और समिति राष्ट्रकी प्रकृतिस्वरूपिणी थीं और राजा इनकी उपेक्षा तो कर ही नहीं सकता था, प्रत्युत इन्हें अपने अनुकूल करनेका प्रयत्न किया करता था। रामायण कालमें राजा सभाकी अनुकूलता तो चाहता था, परन्तु सभा स्वयं राजाकी इच्छाके विरुद्ध कार्य नहीं करती थी। महाभारतके समयमें ये संस्थाएँ राजतंत्र राज्योंके आभूषण मात्र रह गयीं थीं। परन्तु गणराज्योंमें इनकी तूती बोलती थी। कालान्तरमें राजतन्त्र और गणतंत्र मिश्रित नयी राज्यपद्धति प्रचलित की गयी, जिसमें राजाकी स्वेच्छा-चारिताके नियंत्रणके लिये मंत्रिपरिषद्‌की व्यवस्था हुई। अन्तमें मंत्रिपरिषदें अपने अधिकार खो बैठीं और राजा परम स्वतंत्र हो गये।

राष्ट्र सभाका ह्रास

परन्तु दक्षिण भारत-विशेषकर केरलमें राष्ट्र-सभाओंका पता लगता है। केरलमें राजाकी संज्ञा 'उटायावर' थी और राज्यकी 'नाड'। नाडका अर्थ—'अधिकारी नायर लोगोंका संघ' था। इस संघमें प्रायः ६०० प्रतिनिधि होते थे और इनका काम नाडके अधिकारोंकी रक्षा और राजाके कामोंकी देखभाल करना था। 'केरलोत्पत्ति' नामक ग्रंथसे हमें मालूम हुआ है कि राजाके विरुद्ध प्रजाके जो अधिकार थे, वे दिनों-दिन कम न होने लगें अथवा उपयोग न होनेपर उनकी विस्मृति न हो जाय यही इस नाड संघका मुख्य हेतु या उपयोग था। मलाबार गैजेटियरसे हम जान सकते हैं कि 'ये संघ प्रजाकी प्राचीन प्रथाओं और सनातन अधिकारों-की रक्षा करते थे। यही नहीं, राजाके नियुक्त किये हुए मन्त्रियोंको अनुचित कार्योंके लिये दंड भी देते थे और देशकी पार्लमेंटके समान थे। मद्रासके भूतपूर्व गवर्नर सर टामस मनरोने सन् १७४६ में अपनी दिनचर्या सम्बन्धी पुस्तिका वा डायरीमें लिखा है:—'नायर लोग कालीकटकी प्रजामें सबसे

मलाबार गैजेटियर का प्रमाण

श्रेष्ठ हैं और इनकी संस्थाकी रचना पार्लमेंटकीसी है। इससे इनकी बातोंपर राजाज्ञा भी नहीं चलती थी और ये मंत्रियोंको भी दंड दे सकते थे।' और भी 'अति प्राचीन कालसे १८ वीं शताब्दीके अन्ततक नायरोंकी तारा या नाड संस्थाएँ शासकोंके अत्याचार और क्रूरतासे देशकी रक्षा करती थीं और यही कारण है कि इतने दिनोंतक मलयाली देशकी अपेक्षाकृत अधिक समृद्धि रही और इसीने किसी समय कालीकटको पूर्व और पश्चिमके बीच बड़ी मंडी बनाया था।[1]

राज्यकी ५ बड़ी संस्थाएँ

दक्षिण भारतकी राज्यव्यवस्थाके अनुसन्धानसे यही जाना गया है कि चेर, चोल और पाण्ड्य राज्योंमें पाँच बड़ी सभाएँ थीं। पहली प्रजाप्रतिनिधि सभा, प्रजाके अधिकारोंकी रक्षा करती थी। दूसरी सभा पुरोहितोंकी थी, जो सब धार्मिक कृत्योंका संचालन करती थी। तीसरी वैद्यसभा थी, जो राजा और प्रजाके स्वास्थ्यकी सम्हाल करती थी। चौथी ज्योतिषियोंकी सभा थी, जो सार्वजनिक कृत्योंके लिये मुहूर्त्त निर्द्धारित करती थी और भावी घटनाएँ बताती थी। पाँचवीं और अन्तिम मंत्रिसभा थी, जो न्याय और आय व्ययकी व्यवस्था करती थी। पुरमें प्रत्येक सभाके लिये स्वतंत्र स्थान था, जहाँ उसके अधिवेशन और कार्य होते थे। इन सभाओंका संगठन कैसा

---

१ They were in short the custodians of ancient rites and customs, they chastised the chieftain's ministers, when they committed 'unwarrantable acts' and were the Parliament of the land. Malabar Gazettier p. 267 Pt, 1

From the ancient times down to the eighteenth century, the Nayar Tara or Nad organizations kept the country from oppression and tyranny on the part of the rulers and to this fact, more than to any other, is due the comparative prosperity which Malyali country so long enjoyed and which made Calicut at one time the great emporium of trade between the east and the west. Sir Thos. Munro's Diary p, 132.

था, प्रतिनिधि सभामें किस सिद्धान्तपर लोग जाते थे और उन्हें क्या विशेष अधिकार प्राप्त थे इसका ब्योरा नहीं मिलता।

शुक्रनीतिसारके सिवा किसी ग्रन्थमें राजसभाका वर्णन नहीं मिलता, पर इससे भी सभाके पुराने महत्त्व और अधिकारोंका पता नहीं लगता। साधारणतः सभाकी जहाँ चर्चा की गयी है, वहाँ सभाभवनकी बनावट और कारीगरी बताकर ही सन्तोष किया गया है। कहा गया है कि राजा 'ऐसी सभा बनावे जो बड़ी गुप्त और बड़ी ही मनोरम हो। ऐसी राजसभा मंत्रणा और कार्यकी देखभालके लिये हो। और अमात्य सभ्य, लेख्य और अधिकारियोंकी ऐसी ही शालिका होनी चाहिये।'[1] इस वर्णनसे जाना जाता है कि सभाभवनमें ही मंत्रियों, सभ्यों, लेख्यों और अन्यान्य अधिकारियोंकी शालिकाएँ वा दफ्तर थे, जैसे इस समय लखनऊमें हैं। सभाका एक और वर्णन आगे चलकर मिलता है, जिसमें लिखा है कि राजसभामें राजा मित्रों, भाइयों, पुत्रों, बान्धवों, सेनपों, सभ्यों आदिके साथ राजकृत्यपर विचार करे। बाद सभामें बैठनेका यह क्रम बताया गया है कि सारा सभा-स्थल चार भागोंमें बाँटा जाय और पश्चिमी भागके बीचोंबीच राजाका आसन हो। उसके पुत्र, पौत्र, भाई और भानजे राजाके पीछे बैठें। नाती वाम भागमें, राजाके चाचा, उसके कुलके श्रेष्ठ पुरुष, सभ्य और सेनापति क्रमसे दक्षिण भागमें पूर्व दिशाकी ओर अलग अलग आसनोंपर बैठें। इसी प्रकार राजाके आगे वाम भागमें नानाके वंशके श्रेष्ठ पुरुष, मंत्री, बान्धव, ससुर और साले बैठें। दाहनी ओर जामाता और बायीं ओर बहनोई बैठें। पास वा समान आसन अथवा आधे आसनपर मित्र बैठें। नातियों और भांजोंके स्थानमें दत्तक पुत्र बैठें और पुत्रादिके स्थानमें भांजे और नाती बैठें। पिता और आचार्य

सभामें बैठनेका क्रम शुक्रनीतिसारके अनुसार

---

१ राज्ञा राजसभा कार्या सुगुप्ता सुमनोरमा ॥२४१॥
एवं विधा राजसभा मंत्रार्था कार्यदर्शने।
तथाविधामात्य लेख्य सभ्याधिकृतशालिका ॥२४६॥ अ० १

दोनो समान श्रेष्ठ आसनोंपर बैठें। पार्श्वों के सामने लेखक और इनके पीछे मंत्री बैठें। परिचारक सबसे पीछे बैठें। लोगोंका प्रवेश और प्रणाम बतानेके लिये दो मनुष्य सुवर्णके दंड लेकर राजाकी दोनो ओर बैठें।[1] यही मंत्रणा सभा जान पड़ती है, क्योंकि यहाँ राजाको बहुसम्मत कार्य करनेका उपदेश दिया गया है। राजासे यह भी कहा गया है कि तुम यह किसीके मुँहसे न सुनो कि आप सबसे अधिक दाता, शूर और धार्मिक हैं क्योंकि ऐसा कहनेवाले ठग हैं। जो मंत्री राजाके राग, लोभ और भयसे चुप रहें, उन्हें अनुमत न समझे और अपने कार्यकी सिद्धिके लिये उनके मत अलग अलग लिख ले। और अपने मतसे विचार करके बहु-सम्मतिसे कार्य करे।[2]

---

१ सभायां प्रत्यगर्धस्य मध्ये राजासनं स्मृतम्।
दक्षसंस्था वामसंस्था विशेयुः पार्श्वकोष्ठगाः ॥३५२॥
पुत्राः पौत्रा भ्रातरश्च भागिनेयाः स्वपृष्ठतः।
दौहित्रा दक्षभागात्तु वामसंस्थाःक्रमादिमे ॥३५३॥
पितृव्याः स्वकुलश्रेष्ठाः सभ्या सेनाधिपास्तथा।
स्वाग्रे दक्षिणभागे तु प्राक्संस्थाः पृथगासनाः ॥३५४॥
मातामहकुलश्रेष्ठा मंत्रिणो बान्धवास्तथा।
श्वशुराश्चैव श्यालाश्च वामाग्रे चाधिकारिणः ॥३५५॥
वामदक्षिणपार्श्वस्थौ जामाताभगिनीपतिः !
स्वसदृशः समीपे वा स्वार्धासनगतःसुहृत् ॥३५६॥
दौहित्रभागिनेयानां स्थाने स्युर्दत्तकादयः।
भागिनेयाश्च दौहित्राः पुत्रादिस्थानसंश्रिताः ॥३५७॥
यथा पिता तथाचार्यः समःश्रेष्ठासने स्थितः।
पार्श्वयोरग्रतः सर्वे लेखका मंत्रिपृष्ठगाः ॥३५८॥
परिचारगणाः सर्वे सर्वेभ्यः पृष्ठसंस्थिताः।
स्वर्णदंडधरौ पार्श्वे प्रवेशनतिबोधकौ ॥३५९॥ अ० १

२ सर्वस्मादधिको दाता शूरस्त्वं धार्मिकोह्यसि ॥३६०॥

सभा या दरबार ?

ऊपर सभाका जो रूप दिया गया है, वह राज-दरबार वा विशिष्ट अवसर पर होनेवाली सभाका है। वास्तवमें यह न तो राजसभा है और न मंत्रिसभा। मंत्रियोंकी मंत्रणासे इसका सम्बन्ध नहीं है, क्योंकि इसमें उनके अतिरिक्त बहुतसे ऐसे लोग हैं जिनके सामने गुप्त बात नहीं कही जा सकती। इसके सिवा कहा गया है कि राजा रातको घरके अन्दर अथवा निर्जन स्थानमें मंत्रियोंसे भावी कार्यपर परामर्श करे। एक और सभाका वर्णन मिलता है, जो यज्ञ सदृश बतायी गयी है। परन्तु यह स्पष्ट ही न्यायालय है और इसके सभासद जूरी या असेसर हैं। इन बातोंसे जान पड़ता है कि जिन्हें हम राष्ट्रसभा समझते हैं, उनका अन्त कुरुक्षेत्रयुद्धसे पहले ही हो चुका था। राजा स्वेच्छाचारी हो रहे थे। केवल दक्षिण भारतमें पुरानी परम्परा अँगरेजोंके आनेतक चल रही थी। राजाका नियंत्रण करनेके लिये उत्तरमें मंत्रिपरिषद्की व्यवस्था हुई थी, परन्तु वह भी आगे चलकर असमर्थ हो गयी। स्व० डाक्टर काशीप्रसाद जायसवाल तीन और सभाओंका अस्तित्व पूर्वकालमें मानते थे, एक विदथ, दूसरी पौर और तीसरी जानपद। जान पड़ता है कि विदथ विद्वानोंकी, पौर पुरवासियोंकी और जानपद जनपदवासियोंकी संस्था थी।

इति वाचं न श‍ृणुयाच्छ्रावका वञ्चकास्तु ते।
रागाल्लोभाद्भयाद्राज्ञः स्युर्मूका इव मंत्रिणः ॥३६२॥
न ताननुमातान्विद्यान्नृपतिः स्वार्थसिद्धये।
पृथक् पृथङ्मतं तेषां लेखयित्वा ससाधनम् ॥३६३॥
विमृशेत्स्वमतेनैव यत्कुर्याद्बहुसम्मतम् ॥३६४॥ शुक्रनीतिसार अ० १

२ राजाका निर्वाचन

आर्य लोगोंमें कोई मनुष्य अपने गुणोंके कारण ही राजा बनाया जाता था। उस समय राजपदके लिये क्रम नहीं था, परन्तु आवश्यक गुणोंमें विक्रमकी गिनती होती थी और हम समझते हैं कि यह प्रधान गुण माना जाता था, क्योंकि पड़ोसी उपद्रवी मनुष्यों और पशुओंसे रक्षा विना विक्रमके सम्भव न थी। वैदिक युगमें अपने किन गुणोंके कारण कोई राजा चुना जाता था इस विषयमें बहुतसे मन्त्र हैं। अथर्ववेदके इन दो मन्त्रों से राजाके गुणोंका कुछ कुछ आभास मिलता है[1]:—'इस योग्य पुरुषको चुननेसे हमारी विजय होगी; हमारी उन्नति होगी; हमारा आरोग्य बढ़ेगा; हमारा तेज, हमारा ज्ञान और हमारा आत्मिक बल बढ़ेगा; हमारा यज्ञ सफल होगा; हमारे पशु उत्तम होंगे; हमारी सन्तति ठीक होगी और शूर वीर पुरुष हमारे पास रहेंगे। इसलिये इस योग्य पुरुषको हम चुनते हैं।' इससे प्रकट है कि उन्नति, आरोग्य, तेज, ज्ञान, बल तथा पशुओंकी वृद्धिके लिये ही नहीं, शूरवीरोंकी सेना, सुसन्तानोंकी (जारजोंकी नहीं) उत्पत्ति तथा यज्ञकी सफलताके लिये आर्य लोग राजाका निर्वाचन किया करते थे। जैसा सर्वत्र होता है, पहले कुछ ही लोग किसीमें राजोचित गुण देखकर उसे चुननेका विचार किया करते होंगे और बाद औरोंकी सम्मति लेनेका उपाय करते होंगे। और जब सब लोग किसीको राजा बनानेका निश्चय कर लेते होंगे;

राजासे क्या आशा की जाती थी ?

---

१ जितमस्माकमुद्भिन्नस्माकममृतस्माकं तेजोऽस्माकं ब्रह्मास्माकं स्वरस्माकं यज्ञोऽस्माकं पशवोऽस्माकं प्रजा अस्माकं वीरा अस्माकम् ॥१॥
तस्मादमुं निर्भजामो अमुमायुष्मायणमनुष्याः पुत्रमसौ यः ॥२॥
अथर्ववेद। १६।८

तब विराट् सभा करके उसे राजशक्ति दी जाती होगी। विराट् सभाके कृत्योंकी ही संज्ञा राज्याभिषेक थी।

अभिषेकके मंत्रोंका महत्व

राज्याभिषेकके समय पुरोहित राजासे कहता था। 'हे राजा! राज्यका काम चलानेके लिये प्रजा तुझे निर्वाचित करे। इन पाँचों दिशाओंमें प्रजा तेरी इच्छा करे। राष्ट्रके श्रेष्ठ भाग सिंहासनका तू आश्रय ले और अनन्तर प्रजामें द्रव्य बाँट।'[1]

अथर्ववेदमें और भी कितने ही मंत्र हैं जो राज्याभिषेकके समय उपदेश रूपसे राजासे कहे जाते थे। उनसे हम छ मन्त्रोंका भावार्थ यहाँ देते हैं:—'हे राजा, तुझे हम लाये हैं। आ, स्थिर रह, चंचल न हो। सब प्रजा तेरी इच्छा करे। तुझसे राष्ट्र भ्रष्ट न हो (अर्थात् तेरा राजत्व न चला जाय इसलिये सावधान रह।) यहाँ तू पर्वतकी नाईं दृढ़ रह और नीचे न गिर। यहाँ तू इन्द्रके समान दृढ़ रह; तू यहाँ आ और राज्यको धारण कर। इन्द्रने हवि पानेके कारण (राज्यको) दृढ़ करके रखा है। उसके लिये सोम और बृहस्पतिने भी ठीक रखा है। द्यौ वा आकाशमें जैसा ध्रुव है, पृथ्वी जैसी ध्रुव है, यह विश्व जगत् और पर्वत जैसे ध्रुव हैं, (वैसे ही) प्रजाका यह राजा ध्रुव हो। तू राज्यको धारण कर, तुझे राजा वरुण, देव बृहस्पति, इन्द्र और अग्नि ध्रुव बनावें। हे राजा, तू स्थिर हो; पदच्युत न हो; शत्रुओंको मार और शत्रुओंका जैसा आचरण करनेवालोंको नीचे गिरा। सब दिशाओंमें लोग एकता और मेलसे काम करनेवाले हों। अपनी स्थिरताके लिये तू समिति बना।'[2]

---

१ त्वां विशो वृणतां राज्याय त्वामिमाः प्रदिशः पंचदेवीः।
वर्ष्मन् राष्ट्रस्य ककुदि श्रयस्व ततो न उग्रो विभजा वसूनि ॥४॥
अथर्व० सू० २ कांड ३

२ आ त्वा हार्षमन्तरभू र्ध्रुवस्तिष्ठा विचाचलत्।
विशस्त्वा सर्वा वाञ्छन्तु मा त्वद्राष्ट्रमधिभ्रशत् ॥१॥

शतपथ ब्राह्मणमें बताया गया है कि जब प्रजाजन इससे (राजासे) सन्तुष्ट होते हैं और इसे चाहते हैं, तब इसके राजसूयका अनुमोदन करते हैं। जो उन प्रजाजनोंका अनुमोदित होता है, तथा जिसका सब राज्य अनुमोदन करता है, वही राजा होता है। वह राजा नहीं होता जिसका राज्य अनुमोदन नहीं करता।[1] वैदिक युगमें राष्ट्र छोटे होते थे और इसलिये राजाके निर्वाचनमें कभी सारी प्रजा और कभी उसके प्रतिनिधि सम्मिलित हो उसका अभिषेक करते थे। अथर्ववेदमें दो मंत्र मिलते हैं जिनसे जान पड़ता है कि पर्ण वा पलाशमणि सब लोग मिलकर देते थे। यह पर्ण ही राजचिह्न था। मणि लेते समय राजा उसे सम्बोधन करके कहता है, 'हे पर्ण, जो बुद्धिमान् रथ बनानेवाले, चतुर कर्मकार, धातुकी चीजोंके बढ़िया कारीगर और जो लोग मेरे पास हैं, उन सबको तू मेरे सहा-

राजाके निर्वाचनके लिये प्रजाका अनुमोदन

इहैवैधि माप च्योष्ठाः पर्वत इवाविचाचलत् ।
इन्द्रेहैव ध्रुवस्तिष्ठेह राष्ट्रमुधारय ॥२॥
इन्द्र एतमदीधरद्ध्रुवं ध्रुवेण हविषा ।
तस्मै सोमो अधिब्रवदयं च ब्रह्मणस्पतिः ॥३॥ सू० ८७ कांड ६
ध्रुवाद्यौ र्ध्रुवा पृथिवी ध्रुवं विश्वमिदं जगत् ।
ध्रुवासः पर्वता इमे ध्रुवो राजा विशामयम् ॥१॥
ध्रुवं ते राजा वरुणो ध्रुवं देवो बृहस्पतिः ।
ध्रुवं त इन्द्रश्चाग्निश्च राष्ट्रं धारयतां ध्रुवम् ॥२॥
ध्रुवोऽच्युतः प्रमृणीहि शत्रूञ्छत्रूयतो धरान् पादयस्व ।
सर्वादिशः संमनसः सध्रीची र्ध्रुवायते समितिः कल्पतामिह ॥३॥
सू० ८८ कांड ६,

१ ता अस्मा इष्टा प्रीता एवं सर्वमनुमन्यन्ते । ताभिरनुमतः सूयते, यस्मै वै राजा, नो राज्यमनुमन्यते स राजा भवति । न स यस्मै न ॥५॥ शतपथ ६।३।२

यक बना। राजा, राजकर्त्ता वा राजा बनानेवाले सूत और ग्रामणी वा मुखिया और जो लोग मेरे पास हैं, हे पर्ण तू उन्हें मेरे सहायक कर।"[१] इन मंत्रोंसे जाना जाता है कि राजाके निर्वाचनमें रथकार, कसेरे, राजकर्ता, सूत वा सेनानायक और गाँवके मुखिये भी सम्मिलित होते थे और इनके हाथोंसे राजा पर्ण वा पलाशमणि लिया करता था। यहाँ राजाओं और राजकर्त्ताओंसे किनका अर्थ ग्रहण करना चाहिये? ये राजा या तो माण्डलिक राजा होने चाहिये या पड़ोसी राजा, जो अभिषेकमें सम्मिलित होनेके लिये निमंत्रित हुए हों। राजकर्त्ता अवश्य कुछ विशिष्ट सज्जन होते थे, जिन्हें राजपदके लिये किसीको निर्वाचित करनेका अधिकार होता था। इस प्रकार राजा अपनी प्रजा, राजकर्त्ताओं वा प्रजाके विशिष्ट प्रतिनिधियों और पड़ोसी वा माण्डलिक राजाओंकी अनुकूलतासे सिंहासनपर बैठता था।

इसके बाद ब्राह्मण कालमें राष्ट्र बड़े होने लगे और समस्त प्रजाका राजाके अभिषेकमें भाग लेना असम्भव हो गया, तब प्रजाके प्रतिनिधि उसका अभिषेक करने लगे। पहले ब्राह्मण, क्षत्रिय

विश् प्रजाजन थे और वैश्य यही त्रिवर्ण आर्य जातिके अन्तर्गत थे। इसलिये राजाके अभिषेकमें विश् वा वैश्योंकी चर्चा तो है, पर शूद्रोंकी नहीं है। अथर्ववेदके दूसरे काण्डका एक मन्त्र है जिसमें कहा गया है कि तुझे विश् वा वैश्य वा प्रजा (क्योंकि ब्राह्मणों वा क्षत्रियोंकी गणना प्रजामें नहीं होती थी) राज्यके लिये वरण करे, तुझे ये पाँचों प्रकाशवती दिशाएँ वरण करें अर्थात् राष्ट्रके श्रेष्ठ भागका (सिंहासनका)

---

१. ये धीवानो रथकाराः कर्मकारा मनीषिणः।
उपस्तीन् पर्ण मह्यं त्वं सर्वान् कृण्वभितो जनान् ॥६॥
ये राजानो राजकृतः सूता ग्रामण्यश्च ये।
उपस्तीन पर्ण मह्यं त्वं सर्वान् कृण्वभितो जनान् ॥७॥

तू आश्रय ले और अनन्तर प्रजामें द्रव्य बाँट।"[1] छठे काण्डमें भी कहा गया है कि सब विश् वा प्रजाजन तेरी इच्छा करें। पदच्युत राजाके पुनर्निर्वाचनके समय इन्द्राग्नि विश्वेदेवाके साथ ही वैश्योंकी अनुकूलता अभीष्ट होती थी। अथर्ववेदके तीसरे काण्डका ही मन्त्र है—'हे पुनर्निर्वाचित राजा, तेरे विरुद्ध पक्षके लोग भी तेरी सहायता करें। तेरे मित्रोंने तुझे निर्वाचित किया है। इन्द्र, अग्नि और विश्वेदेवाने तुझे विश् वा प्रजामें ही रखा है।' वैश्योंकी गिनती साधारण प्रजामें होती थी।

पहले कोई शूरवीर क्षत्रिय यावज्जीवन अथवा जबतक वह अपनी प्रतिज्ञाका पालन करता था, तबतकके लिये राजा निर्वाचित होता था। जब कभी प्रतिज्ञादुर्बलता वा अन्य कारणसे वह पदच्युत भी कर दिया जाता था, तब फिर किन्हीं शर्तोंपर वह पुनर्निर्वाचित हो सकता था। अनन्तर ऐतरेय ब्राह्मणके समयमें कई पीढ़ियोंके लिये भी राजा निर्वाचित होने लगे। उसमें कहा गया है कि यदि एक पीढ़ीके लिये अभिषेक करना हो, तो अभिषेकके समय महाव्याहृतियोंमें पहलीका उच्चारण करे अर्थात् 'भूः' कहे, दो पीढ़ियोंके लिये करना हो, तो दोका—'भूर्भुवः' का उच्चारण करे और तीन पीढ़ियोंके लिये करना हो, तो 'भूर्भुवस्वः' तीनो महाव्याहृतियोंका उच्चारण करे।[2] शतपथ ब्राह्मणमें दो राजाओंकी कथा है जिन्होंने दस पीढ़ियोंतक राज्य किया था। एक तो रेवाके उत्तरका पाटव चाक्रस्थपति था और दूसरा दुष्टरीत पौंसायन। इन्हें सृञ्जयोंने निकाल दिया था। इनसे कहा गया कि तुम सौत्रामणि यज्ञ करो, तो सृञ्जयोंपर तुम्हारा प्रभुत्व करा दें।[3] तैत्तिरीय ब्राह्मणमें भी सिंहासनच्युत राजाको सौत्रामणि

तीन पीढ़ियों के लिये राजाके निर्वाचनकी व्यवस्था

---

१ ह्वयन्तु त्वा प्रतिजनाः प्रतिमित्रा अवृषत्।
इन्द्राग्नी विश्वेदेवास्ते विशिक्षेममदीधरन्॥३॥ सू० ३ कां० ६

२ भूरिति इच्छेदिममेव प्रत्यन्नमन्यादित्यथ य इच्छेद्द्विपुरुषं भूर्भुव इत्यथ य इच्छेत् त्रिपुरुषं वाऽप्रतिमं वा भूर्भुवस्वरिति ॥१।८।७॥

३ दशपुरुषं राज्यादपरुद्ध आसरेवोत्तरसमुह पाटव चाक्रस्थपतिं सृञ्जया

करनेका उपदेश दिया गया है।[3] वास्तवमें अभिषेक एक ही पीढ़ीके लिये सदा होता था और आज भी होता है, परन्तु ब्राह्मण ग्रन्थोंमें पीढ़ियोंके लिये राजाओंके निर्वाचनकी चर्चासे इतना स्पष्ट होता है कि पीढ़ी दर पीढ़ीके लिये निर्वाचनका तत्त्व उस समय स्वीकृत हो चुका था और राजाओंके घरानोंकी स्थापना होने लगी थी।

पहले राजाको शासनाधिकार रूपी पर्ण अथवा पलाशमणि राष्ट्रके रथकार, कर्मकार, ग्रामणी आदि देते थे। अनन्तर यह काम कुछ मुखियोंका हुआ, जो या तो राजाके कर्मचारी थे या प्रजाके प्रतिनिधि। शतपथ ब्राह्मणके पाँचवें काण्डमें वाजपेय और राजसूय दोनोंके अनुष्ठानकी जो विधियां दी हुई हैं, उनसे जान पड़ता है कि राजाके अभिषेकका सम्बन्ध राजसूयसे ही है। राजाको अपने लिये जिनकी अनुकूलता आवश्यक होती थी, वे 'रत्निनः' रत्नी कहाते थे और उन्हें सम्मान दिखाने और उनकी अनुकूलता प्राप्त करनेके लिये राजाको उन रत्नियोंके घर जाकर उनकी शक्तिके देवता को "हवि" देना पड़ता था। इस हवि सम्बन्धकी दक्षिणा भी होती थी और वह कदाचित् उसीको दी जाती थी, जिसके यहाँ हविका पाक तैयार होता था। शतपथमें एकादश रत्नी ये कहे हैं—(१) सेनानी, (२) पुरोहित, (३) भावी राजा, (४) महिषी, (५) सूत, (६) ग्रामणी, (७) क्षत्ता, (८) संग्रहीता, (९) भागदुघ (१०) अक्षवाप और गोविकर्तन और (११) पालागल। इसके उपरान्त वह परित्यक्ता

राष्ट्रप्रतिनिधि-'रत्नी'

अपरूरुधः ॥१॥ स होवाच। दुष्टरीत पौंसायनं सौत्रामण्या त्वा याजयानि यदिदं सृञ्जयेषु राष्ट्रं तत्त्वपि धास्यामीति तथेति तथैनमजायत् ॥२॥ तदुह वाल्हिकः प्रातिपीय शुश्राव। कौरव्यो राजा यो हवा अयं दुष्टरीतु पौंसायनो दशपुरुषं राज्यापरुद्धोऽभूत्तमयं चाक्रस्थपतिः सौत्रामण्या याजयिष्यति। यदिदं सृञ्जयेषु राष्ट्रं तद्धास्मिन् धास्यतीति ॥३॥ शतपथ० १२ प्रपा० ५ ब्रा०।

रानीके घर जाकर निर्वाचनके लिये काले चावलका पाक बनाकर देता था। तैत्तिरीय ब्राह्मणमें पुरोहितके बदले ब्राह्मण और राजाके बदले राजन्य रखा है। शतपथमें जहाँ अदिति और निर्ऋतिको हविदान बताया गया है, वहाँ तैत्तिरीयमें भग अथवा राजाकी प्यारी रानीको भी देनेकी व्यवस्था है। अग्निका प्रतिनिधि सेनानी, वरुणका सूत, मरुतका ग्रामणी, सवितृ वा सविताका क्षत्ता, अश्विनीकुमारोंका संग्रहीतृ, वा संग्रहीता, पूषन् वा पूषाका भागदुघ और रुद्रका अक्षवाप बताया गया है। सूत पौराणिक है और पहलेके राजाओंकी विरुदावली पढ़कर राजाको यश वा कीर्तिका इच्छुक बनाता है। मरुत—देवताओंके किसान हैं और ग्रामणी भी किसानोंका प्रतिनिधि है, क्योंकि वैश्यका काम किसानी—कृषि करना है। ग्रामणी ग्रामका नेता वा मुखिया है। क्षत्तृ वा क्षत्ता रनवासका रक्षक है। संग्रहीता-की अश्विनीकुमारोंसे उपमा देनेके कारण शतपथने उसे सारथी और रथी कहा है। परन्तु कौटिल्यने समाहर्ताका जो कार्य बताया है, वही संग्रहीताका होना चाहिये और तैत्तिरीय संहितामें (१।८।६) इस शब्दका अर्थ सायणाचार्यने धनसंग्रहकर्ता—कोषाध्यक्ष बताया भी है। भागदुघ कर-संग्रहकर्ता है, क्योंकि वह पूषाका प्रतिनिधि है, जो देवताओंके सामने उनका भाग रखता है। अक्षवाप अक्ष वा पाँसे रखनेवाला बताया गया है। जबतक हम यह न मान लें कि उस समय राज्य अपने पाँसे देकर लोगोंको जुआ खिलाता था और नाल या जितौनी लेता था, तब तक यह अर्थ समीचीन नहीं जान पड़ता। सम्भव है कि वह अक्षशालाका अधिपति हो, जो अर्थशास्त्रके देखते एकाउंटैन्ट जेनरल होना चाहिये। परन्तु कौटिल्यने जुआ खिलानेकी व्यवस्थाका वर्णन किया है और महाभारत जुएके कारण ही हुआ है, इसलिये अक्षवापका पाँसेसे सम्बन्ध लगाना कोई दोष नहीं कहा जा सकता। गोविकर्तनका अर्थ सूनाध्यक्ष हो सकता है। परन्तु सायणाचार्य जब यह कहते हैं कि शिकारमें यह बराबर राजाके साथ रहता था, तब समझना पड़ता है कि शिकार खिलाना इसका कार्य था। वास्तवमें एकादश रत्नियोंमें (१) पुरोहित, (२) राजन्य, (३)

महिषी, (४) सेनानी, (५) सूत, (६) ग्रामणी, (७) क्षत्तृ वा रनवासरक्षक, (८) कोषाध्यक्ष, (९) करसंग्रहकर्त्ता, (१०) अक्षशालाध्यक्ष, (११) पालागल हैं। पालागलको दक्षिणामें लाल पगड़ी, चमड़ेका तूणीर और चमड़ेसे मढ़ा धनुष दिया जाता था। इसके लिये हवि रास्तेपर छोड़ दिया जाता था; क्योंकि इसका काम राह चलना है। इस प्रकार राजा चातुर्वर्ण्य समाजको ब्राह्मणसे लेकर शूद्रतकको और शासनसे सम्बन्ध रखने वाले पुरोहितसे लेकर पालागलतकको अपने अनुकूल और अपना अनुयायी बनानेका उद्योग करता था।

अभिषेकमें 'आप'-का महत्त्व

इसके बाद अभिषेककी तैयारी होती थी। इसमें पहले कई तरहका आप—जल संग्रह किया जाता था। पहले सरस्वती नदीका जल लिया जाता था, क्योंकि सरस्वती वाक् वा वाणी है और इस जलसे उसका अभिषेक किया जाता था। फिर भिन्न भिन्न दिशाओंको बहनेवाली दो लहरें, अनन्तर सामनेकी लहर, बादको पीछेकी लहर, पश्चात् बहता पानी, उपरान्त उलटा बहनेवाला पानी, फिर धारासे फूटा पानी, नदीश वा समुद्र जल, भँवरका पानी, कुंडमें जिस बहते पानीपर सूर्यकी किरणें पड़ती हों वह, सूर्य निकले रहनेपर जो वर्षा होती हो उसका जल, तालका जल, कुएँका पानी और ओसकी बूँदें लेकर सब गूलरके बर्तनमें मिलाये जाते हैं। इसी प्रकार और भी मधु, दधि, घी, दूध आदि कई चीजें मिलायी जाती हैं। इन सत्रह आपोंसे भावी राजाका अभिषेक करते हैं। प्रत्येक बारके आपको सम्बोधन करके कहते हैं कि तुम राजत्व देनेवाले हो, अमुकको राजत्व दो।

त्रिवर्ण ही अभिषेक करता था।

अभिषेककी विधि बहुत महत्त्वपूर्ण है, क्योंकि अभिषेक त्रिवर्ण ही करता था। पलाशके पात्रके जलसे ब्राह्मण, उदुम्बर या गूलरके पात्रसे भावी राजाके भाईबन्द, न्यग्रोध या बड़के पात्रसे कोई मित्र राजन्य और अश्वत्थ वा पीपलके पात्रसे वैश्य अभिषेक करता था। अनन्तर वह राजाको कपड़े

पहनाता है। वस्त्र पहननेके लिये शुक्ल यजुर्वेदके १०वें अध्यायका ८ वां मंत्र है।[1]

इससे स्पष्ट होता है की प्राचीनकालमें राष्ट्र अथवा प्रजाजनोंकी अनुकूलता के विना कोई राजा नहीं बनाया जाता था। देवताओं और मनुष्योंको भी राजाके अभिषेककी सूचना दी जाती थी। यही नहीं, इसके द्वारा उनकी अनुकूलता प्राप्त की जाती थी। आविद् पदयुक्त ये सात मंत्र पढ़े जाते थे जिनसे देवताओंको यजमानकी सूचना दी जाती थी।[2] सायणाचार्यके भाष्यानुसार शतपथकी इस व्याख्याका अर्थ दिया जाता है :—

अभिषेक-सभामें राजाके निर्वाचनकी सूचना

'हे मरणशील मनुष्यो! ज्ञात हो, इससे किस देवताको यजमानकी सूचना दी जाती है इस शंकाके समाधानके लिये देवता दिखाते हैं 'प्रजापति'। प्रजापति निश्चय ही वर्णनातीत है। इसलिसे इस मंत्रसे अकथित प्रजापतिको यजमानकी सूचना दी जाती है। वह प्रजापति इसके अभिषेककी अनुमति देता है, उस प्रजापतिसे अनुमोदित वह अभिषिक्त होता है।

सूचित किया गया गृहपतिगुणक अग्नि। अग्नि ब्राह्मण है, इससे इस मंत्र से ब्राह्मणको सूचना दी जाती है। उसके अनुमोदनपर उसका अभिषेक होता है।'

---

१ क्षत्रस्योल्वमसि क्षत्रस्य जराय्वसि क्षत्रस्ययोनिरसि क्षत्रस्य नाभिरसीन्द्रस्य वार्त्रघ्नमसि मित्रस्यासि वरुणस्यासि त्वयायं वृत्रं बधेत्। दृवासि रुजासि क्षुमासि। पातैनं प्राञ्चं पातैनं प्रत्यञ्चं पातैनं तिर्यञ्चं दिग्भ्यः पात॥८॥अ०१०

२ शुक्ल यजुर्वेद के १०वें अध्यायकी इस ९वीं यजुष्के आधारपर शतपथ ब्राह्मणकी विधि और व्याख्या बनी है:—'आविर्मर्या आवित्तो अग्निर्गृहपत्तिरावित्त इन्द्रो वृद्धश्रवा आवित्तौ मित्रावरुणौ धृतव्रतावित्तः पूषा वश्ववेदा आवित्तो द्यावापृथिवी विश्व शंभुवावावित्तादिति रुरुशर्मा॥

'सूचित किया गया बहुत अन्नवाला इन्द्र। इन्द्र क्षत्रिय है, इसलिये इस मंत्रसे क्षत्रियको सूचना दी जाती है, उसके अनुमोदनपर उसका अभिषेक होता है।'

'सूचित किये गये व्रतोंके धारण करनेवाले मित्र और वरुण मित्र और वरुण प्राण और उदानवायु हैं। इसलिये इस मंत्रसे उन्हें सूचना दी जाती है और उनका अनुमोदित वह अभिषिक्त होता है।'

'सूचित किया गया सवर्धन पूषा। पूषा पशु है। इसलिये इस मंत्र द्वारा पशुओंको सूचना दी जाती है और उनके अनुमोदनपर उसका अभिषेक होता है।'

'सूचित किये गये जगत्‌को सुखी करनेवाले आकाश और पृथिवी। इससे आकाश और पृथवीको सूचना दी जाती है और उनके अनुमोदन करनेपर उसका अभिषेक होता है।'

'सूचित की गयी बहुत सुखवाली अदिति। भूमि कोई मूर्ति धारणकर देवमाता अदिति कहलाती है। इससे भूमिको सूचना दी जाती है और उसके अनुमोदनपर उसका अभिषेक होता है। इनसे देवताओंको सूचना देता है, वे अनुमोदन करते हैं और उनके अनुमोदनपर उसका अभिषेक होता है।'[1]

---

१ अथैन माविदो वाचयति। आविर्मर्या इत्यनिरुक्तं प्रजापतिर्वा अनिरुक्तस्तदेनं प्रजापतय्ऽआवेदयति सोऽस्मै सव मनुमन्यते तेनानुमतः सूयते ॥३१॥ आवित्तो ऽअग्निर्गृहपतिरिति। ब्रह्म वा अग्निस्तदेनं ब्रह्मणऽआवेदयति। तदस्मै सव मनुमन्यते तेनानुमतः सूयते ॥३२॥ आवित्तोऽइन्द्रो वृद्धश्रवा इति। क्षत्रं वा ऽइन्द्रस्तदेनं क्षत्रायावेदयति। तदस्मै सव मनुमन्यते तेनानुमतः सूयते ॥३३॥ आवित्तौ मित्रावरुणौ धृतव्रताविति। प्राणोदानौ वै मित्रावरुणौ तदेनं प्राणोदानाभ्यामावेदयति तावस्मै सव मनुमन्येते ताभ्यामनुमतः सूयते ॥३४॥

राजाके अभिषेककी सूचना सर्व प्रथम प्रजापतिको देकर फिर ब्राह्मणादि त्रिवर्ण, प्राण और उदान वायु, द्यावा पृथिवी और अदितिको दी जाती थी और इनका अनुमोदित राजा ही अभिषिक्त होता था। अग्नि ब्राह्मण और इन्द्र क्षत्रिय तो बताया ही गया है। पर पूषाका अर्थ पशु कहा गया है और धनके प्रतिनिधि रूपसे उसको सूचना दी गयी है। पशु धन अवश्य है, परन्तु पाल वा पालककी अपेक्षा रखता है, इसलिये पूषाका अर्थ पशुपाल समझना चाहिये। और कृषि, गोरक्षा और वाणिज्य वैश्यका स्वाभाविक कर्म है, इसलिये पूषाका अर्थ वैश्य है। जीवनमें प्राण और अपान वायुका महत्त्व ही नहीं है, सुखमयजीवनके लिये उनके ठीक रहनेकी आवश्यकता भी है। आकाशके नीचे और पृथिवीके ऊपर अभिषेक होता है, इसलिसे द्यावा पृथिवीको सूचना देना आवश्यक है। अन्तमें अदिति अर्थात् उस भूमिको सूचना दी जाती है, जिसका वह राजा बनाया जाता है।

अभिषेकके पहले प्रजाका प्रतिनिधि पुरोहित राजाको इस प्रकार सम्बोधन करता है, 'तू वीरताका केन्द्र है। कोई तेरी हिंसा न करे और न तू हम लोगोंमें किसीकी हिंसा कर, नियमोंका धारण करनेवाला और अरिष्टोंका निवारण करनेवाला प्रजामें स्थिर रहता है। उत्तम कर्म करनेवाला साम्राज्यके योग्य होता है। मृत्युसे रक्षा कर। बिजलीसे बचा। प्रकाशमान् सूर्यके तेज; अश्विनी-कुमारोंके

अभिषेकके समय पुरोहित और राजाका संवाद

आवित्तः पूषा विश्ववेदा इति। पशवो वै पूषा तदेनं पशुभ्य आवेदयति तेऽस्मै सव मनुमन्यन्ते तैरनुमतः सूयते ॥३५॥ आवित्ते द्यावापृथिवी विश्वशम्भुवाविति तदेनमाभ्यां द्यावापृथिभ्यामावेदयति तेऽअस्मै सव मनुमन्येते ताभ्यामनुमतः सूयते ॥३६॥ आवित्तादिति रुरुशर्मेति। इयं वै पृथिव्यदितिस्तदेन मस्यै पृथिव्या ऽआवेदयति सास्मै सव मनुमन्यते

बाहुओं और पूषाके हाथोंसे तथा अश्विनीकुमारोंकी औषधियोंसे राष्ट्रके तेज और ज्ञानकी वृद्धिके लिये मैं तेरा अभिषेक करता हूँ। बल, लक्ष्मी और यशके लिये इन्द्रकी विशेष शक्तिसे मैं तेरा अभिषेक करता हूँ। हे सुन्दरयश, मंगल भावना और प्रजारंजक, तू आनन्द है, तू अत्यन्त आनन्दमंगल है। प्रजाके आनन्दके लिये मैं तेरा अभिषेक करता हूँ।,[1]

इसके उत्तर में राजा कहता है:—

प्रजाकी शोभा मेरा सिर है, यश मुख है, तेज मेरे केश और दाढ़ी मूछ है। राजा वा तेजस्वी मनुष्य मेरे प्राण और आरोग्य हैं, सम्राट् (सम्यक् प्रकारसे प्रकाशित होनेवाले मनुष्य) मेरे नेत्र हैं और विराट् (विविध प्रकार के मनुष्य) मेरे कान हैं, मेरी जिह्वा प्रजाके कल्याणकी बात कहे और वाणी प्रजाके महत्त्वका बखान करती रहे। प्रजाका उत्साह-उल्लास मेरा मन है। प्रजाके स्वावलम्बनका तेज ही मेरा तेज है, उसका आनन्द उँगलियाँ हैं; उसका विशेष कल्याण मेरा अंग है, उसकी सहनशक्ति मेरा मित्र है, उसका शारीरिक बल मेरी वीरता और कर्म मेरे हाथ हैं, क्षात्र तेज मेरा हृदयस्थ आत्मा है; राष्ट्र मेरी पीठ है, प्रजा मेरे पैर, कन्धे, गला,

---

तयानुमतः सूयते तद्याभ्य एवैनमे तद्देवताभ्य आवेदयति ता अस्मै सव मनुमन्यन्ते ताभिरनुमतः सूयते ॥३७॥२॥

१ क्षत्रस्य योनिरसि क्षत्रस्य नाभिरसि । मा त्वा हिं ॐ सीन्मा मा हिं ॐ सीः ॥१॥ निषसाद धृतव्रतो वरुणः पस्त्यास्वा । साम्राज्य सुक्रतुः । मृत्योः पाहि विद्योत्पाहि ॥२॥

देवस्य त्वा सवितुः प्रसवेऽश्विनो र्बाहुभ्यां पूष्णो हस्ताभ्यां । अश्विनो र्भैषज्येन तेजसे ब्रह्मवर्चसायाभिषिञ्चामि सरस्वत्यै भैषज्येन वीर्या-यान्नाद्यायाभिषिंचामीन्द्रस्येन्द्रियेण बलाय श्रियै यशसेऽभिषिञ्चामि ॥३॥ कोऽसि कतमोऽसि कस्मै त्वा काय त्वा ॥ सुश्लोकसुमंगल सत्य राजन् ॥४॥

यजुर्वेद (शुक्ल) अ० २०

कमर, जाँघें, कुहनी, घुटने आदि अंग हैं, प्रजाहितचिन्तन मेरी नाभि है, प्रजाहितका विज्ञान मेरी पायु वा गुदा है, प्रजाकी पूजा ही मेरा उत्पत्ति-स्थान है, प्रजाका आनन्द और हर्ष मेरे दोनो अण्ड हैं। प्रजाका शोभा वर्द्धक ऐश्वर्य मेरी लिङ्गेन्द्रिय है। जंघाओं और पावोंसे मैं धर्मरूप हूँ। प्रजामें राजा प्रतिष्ठित है। क्षत्रिय जातिमें, राष्ट्रमें, अश्वोंमें, गौओंमें, प्रत्येक अंगमें, आत्मामें, प्राणमें, समृद्धिमें, स्वर्गमें और इस लोकमें तथा यज्ञमें मैं रहता हूँ।[1]

इस संवादसे स्पष्ट हो जाता है कि प्रजा राजाको किसलिये और कैसी कैसी आशाओंसे निर्वाचित करती थी तथा राजा भी समझता था कि मैं राज्यका सबसे बड़ा कर्मचारी हूँ और प्रजाका हित ही मेरे राजत्वका एक-मात्र कारण है। नियमानुसार आचरण कर राष्ट्रमें आरोग्य, बल, सुख, धन, जन, अन्न, तेज, ज्ञान और विद्या बढ़ानेके लिये ही राजा अपने उत्तर में अन्य शब्दोंद्वारा इसे स्वीकार करता है।

---

१ शिरो मे श्रीर्यशो मुखं त्विषिः केशाश्च श्मश्रूणि ।
राजा मे प्राणो अमृत् ॐ सम्राट् चक्षुर्विराट् श्रोत्रम् ॥५॥
जिह्वा मे भद्रं वाङ्महो मनो मन्युः स्वराड् भामः ।
मोदाःप्रमोदा अङ्गुलीरंगानि मित्रं मे सहः ॥६॥
बाहू मे बलमिन्द्रिय् ॐ हस्तौ मे कर्म वीर्यम् । आत्मा क्षत्रमुरो मम ॥७॥
पृष्ठीर्मे राष्ट्रमुदरम् ॐ सौ ग्रीवाश्च श्रोणी ।
ऊरू अरत्नी जानुनी विशो मेऽङ्गानि सर्वतः ॥८॥
नाभिर्मे चित्तं विज्ञानं पायुर्मेऽपचितिर्भसत् ।
आनन्दनन्दावाण्डौ मे भगः सौभाग्यं पसः ॥६॥
जंङ्घाभ्यां पद्भ्यां धर्मोऽस्मि विशि राजा प्रतिष्ठतः ॥६॥
प्रति क्षत्रे प्रतितिष्ठामि राष्ट्रे प्रत्यश्वेषु प्रतितिष्ठामि गोषु ।
प्रत्यंङ्गेषु प्रतिष्ठाभ्यात्मन् प्रतिप्राणेषु प्रतितिष्ठामि पुष्टे प्रति द्यावापृथिव्योः प्रति तिष्ठामि यज्ञे ॥१०॥ शुक्ल यजुर्वेद अ० २०

इसके उपरान्त तीन पग चलकर भावी राजा लकड़ीके सिंहासनपर चढ़ता है और अध्वर्यु फिर उससे कहता है :—'यह तेरा राज्य है'[१] यह कहकर अध्वर्यु उसे राजशक्ति देता है। फिर कहता 'तू शासक है, सबको नियमानुकूल चलानेवाला है' यह कहकर उसे सिंहासनपर बैठाता है, जिससे उसे प्रजाका शासक बनाता है। फिर कहता है 'तू ध्रुव और स्थिर है' जिससे इस लोकमें उसे दृढ़ और स्थिर बनाता है। अनन्तर कहता है—'तुझे खेतीके लिये; तुझे शान्तिपूर्वक रहनेके लिये, तुझे धनके लिये, तुझे समृद्धिके लिये, जिससे उसका अभिप्राय है कि तुझे प्रजाकी भलाईके लिये मैं यहाँ बैठाता हूँ।'

अभिषेकके अभिप्रायका पुनःस्मरण कराना

साधारण राजाओंसे जैसी प्रतिज्ञा करायी जाती थी, उसका उल्लेख ऊपर किया जा चुका है। यहाँ एक और अभिषेककी प्रतिज्ञाका वर्णन करते हैं। इसका नाम है ऐन्द्र महाभिषेक। ऐतरेय ब्राह्मणकी अष्टम पंजिकाके चतुर्थ अध्यायके प्रथम खंडमें ऐन्द्र महाभिषेकके समयकी शपथका उल्लेख है। पहले तो यही बताया जाता है कि कैसे राजाका ऐसा अभिषेक हो सकता है। 'ऐसा अर्थात् इन्द्र सम्बन्धीय महाभिषेक जाननेवाला जो ब्राह्मण वा आचार्य इच्छा करे कि कोई राजा वा क्षत्रिय सर्वजयादि फल पावे, तो वह आचार्य उस राजासे इस प्रकार शपथ कराके ऐन्द्र महाभिषेक विधिसे उसका अभिषेक करे। कैसे फलकी इच्छा कि यह राजा जीतने योग्य सब युद्धस्थलोंको जीते तथा सब लोकों वा देशोंको प्राप्त

ऐन्द्र महाभिषेक की प्रतिज्ञा

---

१ इयं ते राडिति राज्यमेवास्मिन्नेतद्दधात्यथैन मासादयति यन्तासि यमन इति यन्तारमेवैनमेतद्यमनमासां प्रजानां करोति ध्रुवोऽसि धरुण इतिऽ ध्रुवमेवैनमेतद्धरुणस्मिँल्लोके करोति कृष्यैत्वा क्षेमायत्वा रय्यैत्वा पोषायत्वेति साधवेत्वेत्ये वै तदाह । शतपथ ब्राह्मण, काण्ड ५ अ० २ ब्रा० १ प्र० २५

करे, सब राजाओंमें श्रेष्ठता और प्रभुताका पद पावे, इसका साम्राज्य, भौज्य, स्वराज्य, वैराज्य, पारमेष्ठ्य, राज्य, महाराज्य, आधिपत्य देशकालसे सर्व-व्यापी हो, समुद्र तीर पर्यन्त सार्वभौमत्त्व और काल संख्या पर्यन्त सर्वायुषत्व होकर यह पृथिवीका एक ही राजा हो। शपथ क्या हो अब यह बताते हैं। 'जिस रात्रिको तू पैदा हुआ है और जिस रात्रिको तू मरेगा, उन दोनोंके बीचका जो तेरा श्रौतस्मार्त कर्मफल, पुण्य, सुकृत, आयु और पुत्रादि हैं, उन्हें मैं तुझसे अलग कर लूँगा यदि तू मेरा द्रोह करेगा।'[1] ये आचार्यके वचन हैं।

ऐन्द्र महाभिषेक जाननेवाला और उसके फलकी इच्छा करनेवाला जो क्षत्रिय हो, वह यदि चाहे कि मैं सब युद्ध स्थलोंको जीतूं, सब देशोंको प्राप्त करूं, सब राजाओंमें श्रेष्ठता और प्रभुता का पद पाऊँ, मेरा साम्राज्य, भौज्य, स्वाराज्य, वैराज्य, पारमेष्ठ्य, राज्य, महाराज्य, आधिपत्य सर्वव्यापी

---

१ स य इच्छेदेवंवित् क्षत्रियमयं सर्वा जितीर्जयेतायं सर्वाल्लोकान् विन्देतायं सर्वेषां राज्ञां श्रैष्ठ्यमतिष्ठां परमतां गच्छेत साम्राज्यं भौज्यं स्वाराज्य वैराज्यं पारमेष्ठ्यं राज्यं महाराज्यमाधिपत्यं समन्तपर्यायी स्यात् सार्वभौमः सार्वायुष आन्तादापरार्द्धात् पृथिव्यै समुद्रपर्यन्ताया एकराडिति तमेतेनैन्द्रेण महाभिषेकेण क्षत्रियं शापयित्वाऽभिषंचेद् याञ्च रात्रीमजायेथा याञ्च प्रेतासि तदुभय मन्तरेणेष्टापूर्त्तं ते लोकं सुकृतमायुः प्रजां वृञ्जीय यदि मे द्रुह्येरिति स य इच्छेदेवंवित्क्षत्रियोर हं सर्वाजितीर्जयेयमहं सर्वाऽल्लोकान् विन्देयमह सर्वेषां राज्ञां श्रैष्ठयं मतिष्ठां परमतां गच्छेयं साम्राज्यं भौज्यं स्वाराज्यं, वैराज्यं पारमेष्ठ्यं राज्यं महाराज्यमाधिपत्यमहं समन्तपर्यायी स्यां सार्वभौमः सार्वायुष आँन्तादापरार्द्धात् पृथिव्यै समुद्रपर्यन्ताया एकराडिति स न विचिकित्सेत् स ब्रूयात्सह श्रद्धया याञ्चरात्री मजायेहं याञ्च प्रेतास्मि तदुभयमन्तरेणेष्टापूर्तं मे लोकं सुकृतमायुः प्रजां वृञ्जीथा यदि द्रुह्येमिति ॥१॥ (१५)

समुद्र तीरपर्यन्त सार्वभौमत्व हो, कालकी जितनी संख्या है, उतना आयुष्य होकर मैं समुद्र पर्यन्त पृथिवीका अकेला ही राजा होऊँ, तो विना आगा पीछा किये श्रद्धापूर्वक कहे कि जिस रात्रिको मैं पैदा हुआ हूँ और जिस रात्रिको मैं मरूंगा, उन दोनोंके बीचका जो मेरा श्रौतस्मार्त कर्मफल, पुण्य, सुकृत, आयु और पुत्रादि हैं, उन्हें तू मुझसे अलग कर ले, यदि मैं तेरा द्रोह करूं।

अनन्तर पूर्वकी ओर मुंह करके राजा खड़ा होता है और अध्वर्यु वा पुरोहित पीछेसे उसके सामने इन मंत्रोंसे अभिषिञ्चन करता है—सोमकी द्युति वा यशसे मैं तेरा अभिषेक करता हूँ। अग्निकी दीप्तिसे सूर्यके वर्चस् वा तेजसे, इन्द्रके शौर्यसे तू क्षत्रियोंमें क्षत्रपति हो। देवताओ! बड़े क्षत्रपतित्वके लिये; बड़े प्रभुत्वके लिये, बड़े जानराज्यके लिए, इन्द्रके वीर्यके लिये, अमुक पुरुषके पुत्र, अमुकी स्त्रीके पुत्र, अमुक अमुक प्रजाको अप्रतिम बनाओ। हे विश् वा प्रजा जन! यह पुरुष सोम तुम्हारा राजा है, हम ब्राह्मणोंका भी राजा है।[1]

इसके उपरान्त राजा काले मृगके सींगसे अभिषेकका सारा जल अपनी देहपर रगड़कर कहता है कि 'मेरी यह शक्ति सारे जीवनमें फैली रहे।' फिर वह चीतेके चमड़ेके ऊपर ही तीन पग यह कहकर चलाया जाता है कि 'तू विष्णुका विक्रमण है, तू विष्णुका विक्रान्त है और तू विष्णुका विक्रान्त है।' इससे अध्वर्यु उसे इस लोकमें सर्वोपरि और सबको उससे नीचे बनाता है। तदुपरान्त वह (अध्वर्यु) बचा हुआ जल ब्राह्मणके पात्रमें डाल देता है और इस प्रकार ब्राह्मणको राजाके बाद सम्मान भाजन बनाता है।

---

१ सोमस्य त्वा द्युम्नेनाभिषिञ्चाम्यग्नेर्भ्राजसा सूर्यस्य वर्चसेन्द्रस्येन्द्रियेण। क्षत्राणां क्षत्रपति रेध्यति दिद्यून्पाहि ॥१७॥
इमं देवा असपत्नꣳ सुवध्वं महते क्षत्राय महते ज्यैष्ठ्याय महते जानराज्यायेन्द्रस्येन्द्रियाय। इमममुष्य पुत्रममुष्यै विश एष वोऽमी राजा सोमोऽस्माकं ब्राह्मणानाꣳ राजा ॥१८॥ शु० यजुर्वेद अ० १०

फिर वाघम्बरपर खैरकी लकड़ीका सिंहासन रखकर अध्वर्यु उस सिंहासनसे कहता है, 'तू सुख रूप और सुखकारी है' और अनन्तर उसे कपड़ेसे ढक देता है और कहता है 'तू क्षत्रियोंकी योनि है।' पश्चात् उसको सम्बोधन करके कहता है, 'सुखरूप और सुखकारी (आसनपर बैठ) क्षत्रियोंकी योनिपर बैठ'। उपरान्त उसकी छातीको छूकर कहता है—'वह धृतव्रत (अर्थात् जिसने प्रतिज्ञा की है वह) बैठ गया।' इसके अनुसार कुछ विधान करके अध्वर्यु और उसके सहकारी बिना मंत्रके ही उसकी पीठपर छड़ियाँ छुलाते हैं। क्यों ऐसा करते हैं इस विषयमें कहा गया है कि दण्डसे मारनेसे वे सुरक्षित रूपसे उसे दण्डवधसे परे ले जाते हैं। अभिप्राय यह है कि राजा धर्माधिकरणमें बैठकर किसीका दोषी ठहराने पर यदि दण्ड दे, तो वह राजा उसके कारण दोषी वा दण्डनीय नहीं होता। यह विधि मानो राजाको अपने व्यवहारको नियमानुकूल चलाने के लिये लाइसेन्स देनेके समान है। मानो राजा इस विधिसे फिर अपने इस काममें अदण्ड्य हो जाता है।

राजाको अदण्ड्य करना

इन शपथों और अभिषेक-विधियोंसे स्पष्ट हो जाता है कि राज्य राजाका नहीं, प्रजाका समझा जाता था और राजा राज्यव्यवस्थाका ठीक रखनेवाला प्रधान कर्मचारी था। जो नियम बने हुए थे, उनका पालन करनेके लिये वह बाध्य था। उस समय प्रजाकी अनुकूलताका महत्त्व कितना अधिक समझा जाता था। राजा भी समझता था कि मुझे जो बड़प्पन मिला है, उसका रहस्य क्या है और मैं कहनेको तो राजा वा स्वामी हूँ, पर काम मेरा सेवकका है। यह व्यवस्था बहुत दिनोंतक चलती रही।

राज्य किसका? राजाका या प्रजाका?

रामायणकालमें दो बार राजाके निर्वाचनमें प्रजाके हस्तक्षेपका पता चलता है। एक बार तो रामको यौवराज्य देनेके समय और दूसरी बार दशरथकी मृत्युपर अयोध्याके भावी राजाकी व्यवस्था करनेके समय

राजाके निर्वाचनमें प्रजाका मत रामायण कालमें

प्रजाकी शक्तिका परिचय मिला था। दशरथने कैकेयीसे इस शर्तपर विवाह किया था कि इसका लड़का राजपद पावेगा। परन्तु नियमानुसार वह अधिकार रामका था, इसलिये रामका यौवराज्य देनेके समय दशरथको परिषद् वा आमंत्रण मण्डल बुलानेकी आवश्यकता प्रतीत होना स्वाभाविक था, क्योंकि भ्रष्टप्रतिज्ञ होनेके लिये दशरथको कुछ बहाना चाहिये और राम लोकप्रिय भी इतने थे कि उनकी उपेक्षा नहीं की जा सकती थी। रामायणकार वाल्मीकि मुनि कहते हैं, 'नाना नगरोंके रहनेवालों, जनपदवासियों और पृथिवीके प्रधानोंको पृथिवीपतिने बुलाया। फिर समस्त परिषद्को सम्बोधन करके राजा दशरथ हितकारी और उत्तम वचन बोले, 'अब मैं वृद्ध हुआ और थक गया हूँ, इसलिये समवेत द्विजश्रेष्ठोंकी अनुमति लेकर प्रजाके हितार्थ पुत्रको (युवराजपद) देकर विश्राम करनेकी इच्छा करता हूँ।'[1]

---

१ नाना नगरवास्तव्यान् पृथग्जानपदानपि।
समानिनाय मेदिन्यां प्रधानान् पृथिवीपतिः ॥४६॥ अयो० सर्ग २
ततः परिषदं सर्वामामंत्र्य वसुधाधिपः।
हितमुद्धर्षणञ्चैवमुवाच प्रथितं वचः ॥१॥
सोऽहं विश्राममिच्छामि पुत्रं कृत्वा प्रजाहिते।
सन्निकृष्टानिमान् सर्वाननुमान्य द्विजर्षभान् ॥१०॥
यदिदं मेऽनुरूपार्थं मया साधु सुमंत्रितम्।
भवन्तो मेऽनुमन्यन्तां कथं वा करवाण्यहम् ॥१५॥
यद्यप्येषा मम प्रीति र्हितमन्यद्विचिन्त्यताम्।
अन्या मध्यस्थचिन्ता तु विमर्दाभ्यधिको दया ॥१६॥
तस्य धमार्थविदुषो भावमाज्ञाय सर्वशः।
ब्राह्मणा बलमुख्याश्च पौरजानपदैःसह ॥१६॥

यदि मेरा यह प्रस्ताव आपको समीचीन समझ पड़ता हो तो मुझे अनुमति दीजिये। यदि यह मेरा ही प्रातिदायी हो और हितकर न हो, तो कुछ दूसरा हितकर उपाय सोचिये; क्योंकि मध्यस्थ लोग पूर्वपक्ष और उत्तरपक्षकी बातोंका निरपेक्ष होकर विचार करते हैं और इससे उनका विचार अधिक उत्तम हुआ करता है।' इसके उपरान्त राजा दशरथका अभिप्राय समझ धर्म और अर्थके तत्त्वोंके जाननेवाले ब्राह्मणों, सेनाध्यक्षों, पुरवासियों और जनपदशिवयोंसहित . परामर्श करनेको इकट्ठे हुए और एकमत होकर उन्होंने राजा दशरथसे इस प्रकार अपना निर्णय कहा, 'हे पार्थिव! आप कई सहस्त्र वर्षोंके वृद्ध हैं; रामका युवराज पदके लिये अभिषेक कीजिये।' यह सम्मति स्वेच्छासे दी गयी है या नहीं यह जाननेके लिये राजाने कहा कि 'क्या मैं धर्मपूर्वक पृथिवीका शासन नहीं करता, जो आप युवराजका पराक्रम देखना चाहते हैं?' इसके उत्तरमें सारी परिषदने कहा, 'हे राजा, तेरे पुत्रमें बहुत कल्याणकर गुण हैं।'

राजकर्त्ताओंके अधिकार

दशरथकी मृत्युके उपरान्त रात बीत जाने और सूर्योदय होनेपर राजकर्त्ता—राजा बनानेवाले द्विजाति सभामें पहुंचे। महायशा मार्कण्डेय, मौद्गल्य, वामदेव, काश्यप, कात्यायन, गौतम और जाबालि ब्राह्मण मंत्रियों सहित अपनी अपनी ओरसे श्रेष्ठ राज-पुरोहित वसिष्ठको अध्यक्षकी भाँति सम्बोधन

समेत्य ते मंत्रयितुं समतागतबुद्धयः।
ऊचुश्च मनसा ज्ञात्वा वृद्धं दशरथं नृपम् ॥२०॥
अनेकवर्षसाहस्त्रो वृद्धस्त्वमसि पार्थिव।
स रामं युवराजानमभिषिञ्चस्व पार्थिव ॥२१॥
बहवो नृप कल्याणगुणाः सन्ति सुतस्य ते।
कथं नु मयि धर्मेण पृथिवीमनुशासति।
भवन्तो द्रष्टुमिच्छन्ति युवराजं महाबलम् ॥२५॥

अयोध्याकाण्ड सर्ग २

करके बोले। पुत्रशोकसे राजा दशरथने प्राण त्याग दिये और हम लोगोंने भी दुःखमें ही रात वितायी और यह रात हमें सौ वर्षोंके समान जान पड़ी। महाराज तो स्वर्गको सिधारे और राम लक्ष्मण वनको गये। भरत-शत्रुघ्न केकय देशके राजगृह नगरमें अपने नानाके यहाँ हैं। आज ही आप इक्ष्वाकुवंशके किसीकुमारको राजा बना दें, क्योंकि बिना राजाके राष्ट्रका नाश हो जायगा। महाराजके जीवित कालमें भी हमने कभी आपकी बात नहीं टाली, इसलिये राजाके बिना राष्ट्रकीदुर्गति होनेके कारण हम आपसे कहते हैं कि आप चाहें तो इक्ष्वाकुके वशके अथवा किसी दूसरे मनुष्यको राजसिंहासनपर बैठा दें।[1] परन्तु वशिष्ठने राजाके वचनका विचार करके भरतको बुलाने के लिये दूत भेजना ही उचित समझा और यही मत सबको स्वीकृत भी हुआ। यहाँ दो बातें ध्यान देने योग्य हैं। एक तो यह कि प्रजाका राजनिर्वाचनका अधिकार प्रबल नहीं रह गया था, नहीं तो राजा दशरथ कैकेयीका व्याह उसके पुत्रको गद्दी देनेकी शर्तपर न कर सकते और दूसरी यह वैदिक कालके 'राजकर्त्ता' कामके लिये नहीं, तो नामके लिये उस समय भी रह गये थे। शान्तनुने जब इसी शर्तपर गंगासे व्याह किया था, तब अवस्था और भी बिगड़ चुकी थी, जैसा महाभारत की घटनाओंसे स्पष्ट है।

---

१ अतीता शर्वरी दुःख यातो वर्ष शतोपमा।
अस्मिन् पञ्चत्वमापन्ने पुत्रशोकेन पार्थिवे ॥१५॥
स्वर्गस्थश्च महाराजो रामश्च वनमाश्रितः
लक्ष्मणश्चापि तेजस्वी रामेणैव गतः सह ॥६॥
उभौ भरतशत्रुघ्नौ कैकयेषु परंतपौ।
पुरे राजगृहे रम्ये मातामहानिवेशने ॥७॥
इक्ष्वाकूणामिहाद्यैव कश्चिद्राजा विधीयताम्।
अराजकं हि राष्ट्रं नो विनाशं समुवाप्नुयात् ॥ ८ ॥

रामायण कालमें अनार्य वानर जाति भी आर्योंके ही सिद्धान्तपर चलती थी, क्योंकि सुग्रीवने कहा है कि किष्किन्धाकी प्रजा और मंत्रियोंने वालीके अभावमें मुझे बलपूर्वक राजा बना दिया।[1] परन्तु इन घटनाओंसे यही जाना जाता है कि राजाके निर्वाचन जैसे महिमामय कार्यमें प्रजा तभी हस्तक्षेप करती थी और उसकी पूछ भी तभी होती थी जब कोई झगड़ा झमेला होता था। दशरथने रामको यौवराज्य देनेके समय इसीलिये परिषद् बुलायी थी कि कहीं भरतको यौवराज्य देनेके पक्षपातियोंका कोई दल खड़ा होकर उपद्रव न करे। यही नहीं, उन्होंने भरतको अयोध्याके बाहर भेज भी दिया था। दशरथकी मृत्युपर और बालीकी अनुपस्थितिमें अयोध्या और किष्किन्धाके राजकर्त्ताओंने अपने अन्तर्निहित अधिकारोंका उपयोग किया था। इसमें राजाओंकी कृपा अथवा नियमपालनकी इच्छा कारण न थी।

वानर भी आर्यों का अनुकरण करते थे

महाभारतसे जाना जाता है कि जिन कुरु राजाके नामसे कुरुक्षेत्र आज भी विख्यात है और जो कौरवों-पाण्डवोंके पूर्व पुरुष थे, उन्हें प्रजाने ही राजा बनाया था।[2] परन्तु आगे चलकर राज्यके उत्तराधिकारियोंके विषयमें प्रजाकी सम्मति लेना न तो राजाओंने आवश्यक समझा और न प्रजाओंने ही उन्हें अपने अधिकारोंका स्मरण कराया। इसी कुरुवंशमें निरुक्तके अनुसार ऋष्टिषेणके देवापि और शन्तनु नामके दो

प्रजाने अधिकार कैसे खोये?

---

१ विषादात्त्विह मां दृष्ट्वा पौरैर्मंत्रिभिरेव च।
अभिषिक्तो न कामेन तन्मे क्षन्तुं त्वमर्हसि ॥६॥
बलादस्मि समागम्य मंत्रिभिः पुरवासिभिः।
राजभावे नियुक्तोऽहं शून्यदेशजिगीषया ॥७॥ किष्किन्धा कांड, सर्ग १०

२ राजत्वे तं प्रजाः सर्वाः धर्मज्ञ इति बव्रिरे।
तस्य नामाभिविख्यातं पृथिव्यां कुरुजाङ्गलम् ॥६४॥ आदिपर्व अ० ६४

कुमारोंमें जब बड़ा देवापि तपस्वी हो गया, तब छोटे भाई शन्तनुका अभिषेक हुआ। इसपर शन्तनुके राज्यमें १२ वर्षोंतक वर्षा नहीं हुई। तब ब्राह्मणोंने कहा कि 'तूने अधर्म किया है, जो बड़े भाईके रहते अपना अभिषेक करा लिया; इसीसे वर्षा नहीं होती।' इस पर शन्तनु देवापिको लाने गया। उसने कहा कि 'तेरा पुरोहित बनकर यज्ञ कराऊँगा, तब वर्षा होगी।'[1] परन्तु महाभारतमें लिखा है कि 'देवापि कोढ़ी था और यद्यपि उसका पिता उसे राज्य देना चाहता था, तथा सब मंगल कार्य भी करा लिये थे, तथापि ब्राह्मणों, वृद्धों पुरवासियों और देशवासियोंके यह कहकर निषेध करनेपर कि अंगहीन राजाका देवता अभिनन्दन नहीं करते, उसे शन्तनुका अभिषेक करना पड़ा।'[1] इन वर्णनोंसे जाना जाता है कि राजा जब प्रजाकी अनुकूलता प्राप्त करना चाहता था, तभी उसकी सम्मति लेता था, जैसे ययातिको अपने ज्येष्ठ पुत्र यदुको गद्दी देना नहीं था, इसलिये पुरुके पक्षमें प्रजाकी सम्मति ली थी और प्रजाको भी जब कोई राजा अत्यन्त अरुचिकार होता था, तभी वह उसका विरोध भी करती थी।

जिन घटनाओंसे कुरुक्षेत्र युद्ध हुआ और उसका नाम महाभारत पड़ा, उनपर विचार करनेसे जान पड़ता है कि दंडनीतिका महत्त्व लोग भूल गये थे; शासनकार्य राजाका कर्त्तव्य समझा जाने लगा था और 'राजा करे सो न्याव और पांसा पड़े सो दांव' कहावत इन शब्दोंमें चाहे प्रचलित न भी हुई हो, तथापि इसके मूलमें जो सिद्धान्त हैं, वह कुरुक्षेत्र

दण्डनीतिकी उपेक्षाका फल

---

१ देवापिश्चार्ष्टिषेणः शन्तनुश्च कौरव्यौ भ्रातरौ बभूवतुः। स शन्तनुः कनीयानभिषेचयाञ्चक्रे देवापिस्तपः प्रतिपेदे ततः शन्तनोः राज्ये द्वादशवर्षाणि देवो न ववर्ष तमूचुर्ब्राह्मणा अधर्मस्त्वया चरितो ज्येष्ठं भ्रातरमन्तरित्याभिषेचितं तस्मात्ते राज्ये देवो न वर्षतीति स शन्तनुर्देवापि शिक्षित राज्येन तमुवाच देवापि पुरोहितस्तेऽसानि याजयानि च त्वेति तस्यैतद्वर्ष कामसूक्तं तस्यैषा भवति॥ अ० २ पाद ३

२ हीनाङ्गं पृथिवीपालं नाभिनन्दन्ति देवताः॥

युद्धके बहुत पहलेसे ही मान्य हो चुका था। ऐसा न होता, तो शन्तनु प्रजाकी सम्मतिके बिना अपना ब्याह गंगासे यह कहकर न कर सकते कि इसका पुत्र ही राजा होगा। यदि भीष्मने अपनी पितृभक्तिद्वारा अपना नाम इतिहासमें अमर न कर दिया होता और प्रजा उदासीन न हो गयी होती, तो गंगाका ब्याह शान्तनुको बहुत मँहगा पड़ता। धृतराष्ट्र यदि अन्धे न होते, तो पांडुके वंशमें राज्य न आता और कौरवोंके साथ पांडवोंका झगड़ा भी न खड़ा होता। यदि प्रजा प्रबल होती और अपने अधिकारों और कर्त्तव्योंका ज्ञान उसे होता, तो कुरुक्षेत्रके युद्धकी नौबत ही न आती, पर इसने समझ लिया था कि 'कोऊ नृप होइ हमैं का हानी!' इसका प्रभाव भारतके इतिहासपर बहुत ही बुरा पड़ा और इस देशमें शासन और युद्ध राजाके ही कार्य समझे जाने लगे। इसी कारण विदेशी आक्रमणकारियोंका प्रतिरोध राजाओंने ही किया और उसने कभी राष्ट्रिय प्रतिरोधका रूप धारण नहीं किया।

राजाके निर्वाचनके ऐतिहासिक उदाहरण

जब कभी किसी कारणसे कहीं राजसिंहासन शून्य होता था, तब प्रजा अपनी अन्तर्हित शक्तिका उपयोग करके किसी योग्य मनुष्यको सिंहासनपर बैठा देती थी। ईस्वी सन्‌से १२५—१५० वर्ष पहले प्रजाके ही सब दलोंने पश्चिम भारतके सिंहासनपर रुद्रदामाको बैठाया था। रुद्रदामाने लिखा है कि मुझे सब वर्णों ने राजपद दिया था। सन् ६०६ ईस्वीमें राज्यवर्द्धनके मारे जानेपर प्रधानमन्त्री भंडिने मन्त्रि-परिषद् बुलाकर निश्चय किया था कि हर्षवर्द्धन उत्तर भारतका सम्राट् चुना जाय। इसी प्रकार गौड़ वा बंगालकी प्रजाने वहाँ मात्स्य न्याय दूर करनेके अभिप्रायसे सन् ७३० में गोपालको गद्दीपर बैठाया था जिससे पाल वंशकी नीव पड़ी थी। पहले वह अल्पकालके लिये ही राजा बनाया गया था, पर पीछे प्रजाने सन्तुष्ट हो उसे यावज्जीवन राजा बना दिया।

———

३ राजा और राजधर्म

आर्य साहित्यमें राजाकी जितनी महिमा गायी गयी है, उतनी संसारके किसी साहित्यमें नहीं मिलती। पाश्चात्य देशोंमें राजाओंने अपनेको ईश्वर द्वारा नियुक्त राजा घोषित तो किया, पर उसे किसीने स्वीकार नहीं किया। इसके विपरीत आर्य लोगोंने राजाको ईश्वरका अवतार ही बना डाला। निस्संदेह वेदकालमें न तो कोई राजाको ईश्वर ही कहता था और न उसे सिरपर ही चढ़ाता था। फिर भी उसका अच्छा आदर था जिससे सिद्ध है कि आर्य लोग राजतंत्रके पक्षपाती थे। इसीलिये वेदोंमें राजा 'राष्ट्रोंका सौन्दर्य' और 'राष्ट्रकी शोभा' बताया गया है।[1]

राजाकी महिमा

इस प्रशंसाका क्या कारण है? राजाके विना राष्ट्रकार्य चलानेकी असमर्थताने ही वैदिक आर्योंसे यह प्रशंसा करायी है। यह तो बड़ा कठिन प्रश्न है कि पहले राजतंत्र हुआ या प्रजातंत्र। परन्तु भारतीय इतिहास और परम्परागत आख्यायिकाओंसे हम इस सिद्धान्तपर पहुँचते हैं कि प्रजातंत्रकी विफलताके बाद वैदिक आर्य राजतंत्रके पक्षपाती बन गये थे और इसीलिये आर्य साहित्यमें राजाकी इतनी अधिक प्रशंसा है। आजकल संसारके अनेक देशोंमें प्रजातंत्र राज्य है, इससे लोगोंको आर्योंकी योग्यताके विषयमें सन्देह हो सकता है। परन्तु अपने बादशाह पहले चार्ल्सका सिर काटकर अंगरेजोंने क्रामवेलकी अध्यक्षतामें जो प्रजातंत्र स्थापित किया था, वह भी एक पीढ़ीसे अधिक नहीं चला। इससे जब अंगरेजोंकी शासन कुशलतामें सन्देह नहीं किया जाता,

क्या प्रजातंत्र शासन कौशलका प्रमाण है?

---

१ राजा राष्ट्राणां पेशः। ऋग्वेद ५।३।

राजा हि कं भुवनानामभश्रीः। तैत्तिरीयसंहिता (कृष्ण यजुर्वेद) १।५।११

तब भारतीय आर्योंकी योग्यतामें संशय कैसे हो सकता है ? यही नहीं, फ्रान्स और अमेरिकाके संयुक्त राज्य प्रजातंत्र राज्य हैं, परन्तु इसी कारण फ्रेंचों और अमेरिकनोंके शासन-कौशलकी अंगरेजोंसे अधिक प्रशंसा नहीं है। और भी, जैसा अन्यत्र इसी ग्रंथमें बताया गया है, भारतमें राजतंत्रोंके साथ प्रजातंत्र भी रहे हैं और पीढ़ियों चले हैं।

महाभारतके मतसे राजाकी आवश्यकता

महाभारतमें अराजक राज्यकी बड़ी निन्दा की गयी है। कहा गया है कि वहाँ धर्म नहीं ठहरता और लोग परस्परको खाते हैं। जिनके राज्यमें राजा नहीं होता, वे अपने धन और स्त्रीका भोग नहीं कर सकते। दुष्ट लोग दूसरेका धन हरण करके प्रसन्न होते हैं। पर जब इनका धन हरा जाता है, तब सोचते हैं कि राजा होता, तो अच्छा होता। इस प्रकार अराजक राज्यमें पापियोंको भी सुख नहीं होता। एकका माल दो छीनते हैं और दोका बहुतसे लोग छीनते हैं। वे स्वतंत्र मनुष्योंको दास बनाते हैं और बलपूर्वक स्त्रियोंका हरण करते हैं। इसीलिये देवताओंने प्रजापालककी सृष्टि की यदि संसारमें दण्डधारी राजा न हों, तो जैसे जलमें बड़ी मछलियाँ छोटी मछलियोंको खा जाती हैं, वैसे ही बली मनुष्य दुर्बलोंको खा जायँ।[1]

---

१ अराजकेषु राष्ट्रेषु धर्मो न व्यवतिष्ठते।
परस्परं च खादन्ति सर्वथा धिगराजकम्।
न धनार्थो न दारार्थस्तेषां येषामराजकम् ॥ १२ ॥
प्रीयते हि हरन्पापः परवित्तमराजके।
यदाऽस्य उद्धरन्त्यन्ये तदा राजानमिच्छति ॥ १३ ॥
पापा ह्यपि तदा क्षेमं न लभन्ते कदाचन।
एकस्य च द्वौ हरतो द्वयोश्च बहवो परे ॥ १४ ॥
अदासः क्रियते दासो ह्रियन्ते च बलात् स्त्रियः।
एतस्मात्कारणाद्देवाः प्रजापालान् चक्रिरे ॥ १५ ॥

राजाकी आवश्यकता इसीलिये समझी जाती थी कि वह गदर रोके और मार-काट, चोरी, जारी इत्यादि न होने दे और जो राजा यह व्यवस्था ठीक रखता था, वह धार्मिक कहाता था और अव्यवस्था दूरकर सुव्यवस्था करनेके कारण लोग उसे पूजते थे। राजा धर्मके लिये होता है अपनी कामनाएँ सफल करनेके लिये नहीं। इसलिये इन्द्र मान्धातासे कहते हैं कि राजा धर्मका रक्षक होता है। जो राजा धर्मपूर्वक राज्य करता है, वह देवता माना जाता है और जो राजा अधर्माचारी होता है, वह नरक जाता है। जिसमें धर्म रहता है, उसीको राजा कहते हैं।[1]

धार्मिक राजाकी परिभाषा

जिस धर्माचरणके लिये राजाकी नियुक्ति होती है, वह क्या है? एक शब्दमें कहा जाय तो वह 'प्रजाहित' है। गर्भिणी स्त्री जैसे अपने मनोऽनुकूल कार्य न करके सदा गर्भके हितका ध्यान रखती है, वैसे ही राजा अपने मनमाने कार्य न करके वे ही काम करे जिससे प्रजाका हित हो।[2] श्वेतकेतुने बताया है कि राजाका सनातन धर्म प्रजारंजन,

राजाका धर्म 'प्रजाहित'

राजाचेन्न भवेल्लोके पृथिव्यां दंडधारकः।
जले मत्स्यानिवाभक्ष्यन् दुर्बलं बलवत्तराः ॥ १६ ॥ शां० अ० ६७

१ धर्माय राजा भवति न कामकरणाय तु।
मान्धातारिति जानीहि राजा लोकस्य रक्षिता ॥ २ ॥
राजा चरति चेद्धर्मं देवत्वायैव कल्पते।
स चेदधर्मं चरति नरकायैव गच्छति ॥ ३ ॥
यस्मिन् धर्मो विराजते तं राजानं प्रचक्षते ॥१४॥ महा० शां० अ० ९०

२ यथा हि गर्भिणी हित्वा स्वं प्रियं मनसोऽनुगम्।
गर्भस्य हितमाधत्ते तथा राज्ञाप्यसंशयम् ॥ ४५ ॥
वर्तितव्यं कुरुश्रेष्ठ सदा धर्मानुवर्तिना।
स्वं प्रियं च परित्यज्य यद्यल्लोकहितं भवेत् ॥ ४६ ॥ शां० अ० ५६

सत्यरक्षण और व्यवहारकी सत्यता (नीरक्षीरन्याय) है । वह दूसरेका धन हरण न करे, वरंच यथासमय आप दे और औरोंसे दिलावे । राजाको चाहिये कि वह पराक्रमी, क्षमावान्, सत्यवादी और सत्यपक्षसे अविचलित हो, चित्त और क्रोधको वशमें रखे, शास्त्रका मर्म जाने, चतुर्वर्गकी प्राप्ति और वेदाध्ययनमें नित्य यत्नशील रहे । मन्त्रणा सदा गुप्त रखे । वह विचारपूर्वक चातुर्वर्ण्य और धर्मोंकी रक्षा करे । धर्मसंकरतासे प्रजाकी रक्षा करना राजाका सनातन धर्म है ।[1] राजा ही प्राणियोंका रक्षक होता है और वही विनाशक होता है । जो धर्मात्मा होता है, वह रक्षक है और जो अधर्मात्मा होता है, वह विनाशक है ।[2]

वर्गके मतानुसार राजाका धर्म शिष्टोंका परिपालन और दुष्टोंको दंड देना है और जो इन दोनो श्रेणियोंमें नहीं आते, उनसे उदासीनताका व्यवहार करना है । उसका काम राज्यके षाड्गुण्यकी चिन्ता करना है, विलासितामें रहना ही नहीं । जो राजा कभी षाड्गुण्यकी चिंता नहीं

वर्गके अनुसार राजकर्त्तव्य

---

१ लोकरञ्जनमेवात्र राज्ञां धर्मः सनातनः ।
सत्यं च रक्षणञ्चैव व्यवहारस्य चार्जवम् ॥ ११ ॥
न हिंस्यात्परवित्तानि देयं काले च दापयेत् ।
विक्रान्तः सत्यवाक् क्षान्तो नृपो न चलते पथः ॥ १२ ॥
आत्मवांश्च जितक्रोधः शास्त्रार्थकृतनिश्चयः ।
धर्मे चार्थे च कामे च मोक्षे च सततं रतः ॥ १३ ॥
त्रय्यासंवृत्मंत्रश्च राजा च भवितुमर्हति ।
वृजिनं च नरेन्द्राणां नान्यचारक्षणात्परम् ॥ १४ ॥
चातुर्वर्ण्यश्च धर्माश्च रक्षितव्या समीक्षिता ।
धर्मसंकररक्षा च राज्ञां धर्मः सनातनः ॥ १५ ॥ शां० अ० ५७

२ राजैव कर्त्ता भूतानां राजैव च विनाशकः ।
धर्मात्मा यः स कर्त्ता स्यादधर्मात्मा विनाशकः ॥ ६ ॥ शां अ० ६१

करता और सदा विलासितामें ही डूबा रहता है, उसका राज्य नष्ट हो जाता है, क्योंकि राज्य ही षाड्गुण्य है।[1]

महाभारतके अनुसार दुर्गकी रक्षा, युद्ध, धर्मानुसार शासन, मंत्र-चिन्ता और प्रजाका सुखवर्द्धन ये पांच काम यथासमय करनेसे राजाके अधिकारका विस्तार होता है। जो वध योग्य नहीं है, उसका वध करनेसे जो दोष होता है, वही वध्यका वध न करनेमें समझना चाहिये। निश्चय यही मर्यादा है जिसके विपरीत न करे। इससे राजा प्रजाको अपने अपने धर्मोंमें ठीक रखे, नहीं तो भेड़ियेकी तरह मनुष्य परस्परको खा जायंगे।[2]

महाभारतके मतसे राजधर्म

जिस राजाका राष्ट्र प्रसन्न, सम्पन्न और राजभक्त होता है और जिसके सन्तुष्ट पुष्ट मन्त्री होते हैं, उसकी जड़ मजबूत रहती है। जिसके सैनिक भली भाँति सन्तुष्ट, वशीभूत और आज्ञापालनमें तत्पर होते हैं, वह राजा छोटीसी

१ विशेयः पार्थिवो धर्मः शिष्टानां परिपालनम्।
दंडश्च पापवृत्तीनां गौणोऽन्यः परिकीर्त्तितः॥
षाड्गुण्यचिन्तनं कर्म राज्यं यत्संप्रकथ्यते।
न केवलं विलासाद्यं तेन वाह्यं कथंचन॥
यो राजा चिन्तयेन्नैव विलासैकमनः सदा।
षाड्गुण्यं तस्य तद्राज्यं स चिरेण प्रणश्यति॥ नर्गः

२ रक्षाधिकरणं युद्धं तथा धर्मानुशासनम्।
मंत्रचिन्ता सुखं काले पञ्चभिर्वर्द्धते मही॥ २४॥ शां० अ० ६३
यस्त्ववध्यवधे दोषः स वध्यस्यावधे स्मृतः
सा चैव खलु मर्यादा यामयं परिवर्जयेत्॥ २७॥
तस्मात्तीक्ष्णः प्रजा राजा स्वधर्मे स्थापयेत्ततः।
अन्योन्यं भक्षयन्तोहि प्रचरेयुर्वृका इवं॥ २८॥ शां० अ० १४२

कैसा राजा स्थायी होता है?

सेनासे ही पृथ्वीको जीत लेता है। जिसके पौर और जानपद प्राणियोंपर दया करते हैं और धन-धान्य सम्पन्न होते हैं, उस राजाकी जड़ मजबूत रहती है।[1] कलिंगके जैन सम्राट खारवेलने अपने एक लेखमें, जो ईस्वी सन्से १६५ वर्ष पहलेका है, लिखा है कि मैंने अपनी २५ लाख प्रजाका रंजन किया।

प्रजाके साथ राजाका व्यवहार कैसा होना चाहिये इस विषयमें कामन्दकने बहुत मार्मिक उपदेश दिया है। उनका कहना है कि राज्यमें प्रजाको पांच प्रकारके भय लगे रहते हैं, राजकर्मचारियोंका, चोरोंका, शत्रुओंका, राजाके प्रिय लोगोंका और राजाके लोभका। राजाको चाहिये कि त्रिवर्गकी वृद्धिके लिये प्रजाका यह पांच प्रकारका भय दूर कर दे। पके हुए फोड़ेकी भांति राजा धनी अधिकारियोंका धन निचोड़ ले, नहीं तो ये आगकी तरह राजासे व्यवहार करते हैं। त्रिवर्गकी वृद्धिके लिये अर्थशास्त्रमें कुशल तथा विश्वासी मनुष्योंके अधीन राजा अपना कोश रखे और यथासमय उससे व्यय करे। वृहस्पतिके नीतिशास्त्रका यह निश्चय है कि किसी मनुष्यका विश्वास न करना चाहिये, पर उसका उतना ही विश्वास करना चाहिये, जितनी विश्वासपात्रता वह दिखावें। जो विश्वासी न हो, उसको जनावे कि हम तुम्हारा विश्वास करते हैं; परंतु अपने ऊपर विश्वास रखनेवालोंका भी अत्यन्त विश्वास न करे। राजा जिसपर विश्वास रखता है, वह सेवक

राजाको कामन्दकका उपदेश

---

१ यस्य स्फीतो जनपदः सम्पन्नप्रियराजकः।
सन्तुष्टःपुष्टसचिवो दृढमूलः स पार्थिवः॥ ३॥
यस्य योधा सुसन्तुष्टाः सान्त्विताः सूपधास्थिताः।
अल्पेनापि स दंडेन महीं जयति पार्थिवः॥ ४॥
पौरजानपदा यस्य भूतेषु च दयालवः।
सधना धान्यवन्तश्च दृढमूलः स पार्थिवः॥ ५॥ शां० अ० ६४

लक्ष्मीका पात्र बन जाता है ।[१] राष्ट्रसे ही सब राज्यांग होते हैं, इसलिये राजा सब प्रयत्नोंसे राष्ट्रकी उन्नति करे। जैसे यज्ञमें ऋषियोंकी की हुई हिंसा हिंसा नहीं समझी जाती, वैसे ही ऋषि समान राजा धर्म रक्षाके लिये असाधुओंकी हिंसा करे, तो उसे पाप नहीं होता। धर्मसंरक्षणपर राजा धर्मके लिये अर्थकी वृद्धि करे और इसमें प्रजाके जो जो लोग बाधा दें उन उनको दंड दे। वेदशास्त्रज्ञ आर्य पुरुष जिस कार्यकी निन्दा करें, वह अधर्म और जिसकी प्रशंसा करें, वह धर्म कहाता है। धर्माधर्म जानता हुआ राजा सज्जन प्रजावर्गसे प्रीति रखे, प्रजाकी रक्षा करे और शत्रुओंको मार डाले।[२]

शुक्रनीतिसारमें भी राजाको कुछ व्यावहारिक शिक्षा दी गयी है। कहा गया है कि राजा सभ्य, अधिकारी, प्रकृति और सभासदोंके मतमें सदा

---

१ आयुक्तेभ्यश्चचोरेभ्यः परेभ्यो राजवल्लभात् ।
पृथिवीपतिलोभाच्च प्रजानां पञ्चधा भयम् ॥ ८१ ॥
पञ्चप्रकारमप्येतदपोह्य नृपतिर्भयम् ।
आददीत फलं काले त्रिवर्गपरिवृद्धये ॥ ८२ ॥
आस्त्राबेदद्दुपचितान् साधु दुष्टव्रणानिव ।
आयुक्तास्ते च वर्त्तरन् अग्नाविवं महीपतौ ॥ ८४ ॥
संवर्द्धयेत् तथा कोशमाप्तैस्तज्ज्ञैरधिष्ठितम् ।
काले चास्य व्ययं कुर्यात् त्रिवर्गप्रतिपत्तये ॥ ८६ ॥
बृहस्पतेरविश्वास इति शास्त्रार्थनिश्चयः ।
विश्वासी च तथा च स्याद् यथा संव्यवहारवान् ॥ ८८ ॥
विश्वासयेदविश्वस्तं विश्वस्तं नाति विश्वसेत् ।
यस्मिन् विश्वासमायाति विभूतेः पात्रमेव सः ॥ ८९ ॥ नीतिसार सर्ग ५

२ राज्यांगानां तु सर्वेषां राष्ट्राद् भवति सम्भवः ।
तस्मात्सर्वप्रयत्नेन राजा राष्ट्रं समुन्नयेत् ॥ ३ ॥
धर्म्यामारेभिरे हिंसामृषिकल्पा महीभुजः ।

राजकर्त्तव्योंपर शुक्रनीतिसार

स्थित रहे और अपने मतमें कभी न रहे। किसी कार्यके बहाने राजा प्रजाका धन हरण न करे, चाहे क्षुधासे पीड़ित वृक्षकी भांति स्थित रहे। राजाको चाहिये कि प्रजामें प्रचलित उत्सव जारी रखे और प्रजाके सुखमें सुखी तथा दुःखमें दुःखी हो। भूल जाना मनुष्यका स्वभाव होता है, इसलिये लेख ही परम निर्णायक है। जो राजा बिना लिखे कोई आज्ञा देता है और जो अधिकारी विना लेखके कोई कार्य करता है, वे दोनो चोर हैं। राजाकी मुहरवाला लेख ही राजा है, राजा राजा नहीं है। राजा नगरों, ग्रामों और देशोंका प्रतिवर्ष स्वयं निरीक्षण करके जाने कि अधिकारियोंने किन्हें प्रसन्न किया और किन्हें दुःख दिया। उक्त प्रजाजनोंके साथ जैसा व्यवहार किया गया हो, उसीसे अधिकारियोंके आचरणका विचार करे। अधिकारीका पक्षपात न करके, प्रजाका पक्ष करे। जिस अधिकारीसे सौ आदमी घृणा करें या जिसे नापसन्द करें, राजा उसे निकाल दे और एक बार यदि अमात्यका अन्याय देखे, तो उसे भी एकान्तमें दंड दे और यदि उसका अभ्यास हो गया हो, तो उसे निकाल दे। अन्यायियोंका राज्य और सर्वस्व राजा हरण कर ले।[1]

तस्मादसाधून धर्माय निघ्नन् दोषैर्न लिप्यते ॥ ५ ॥
धर्मसंरक्षणपरो धर्मायार्थं विवर्द्धयेत ।
यें ये प्रजाः प्रबाधेरन् तांस्तान् शिष्यान्महीपतिः ॥ ६ ॥
यमार्याः क्रियमाणं हि शंस्यन्त्यागमवेदिनः ।
स धर्मो यं विगर्हन्ति तमधर्मं प्रचक्षते ॥ ७ ॥
धर्माधर्मौ विजानन् हि शासनेऽभिरतः सताम् ।
प्रजा रक्षेन्नृपः साधु हन्याच्च परिपन्थिनः ॥ ८ ॥ नीतिसार सर्ग ६

१ सभ्याधिकारि-प्रकृति-सभासत्सु मते स्थितः ।
सर्वदा स्यान्नृपः प्राज्ञः स्वमते न कदाचन ॥ ३ ॥
न कर्षयेत प्रजां कार्यमिषतश्च नृपः सदा ।
अपि स्थाणुवदासीत शुष्यन् परिगतः क्षुधा ॥ २२६ ॥ अ० २

महाभारतमें राजनीतिका मूलमंत्र शुक्राचार्यके इन शब्दोंमें आ गया है कि राजधर्मका मूलसूत्र साधुकी रक्षा और असाधुका दमन है और यह काम राजाको करना ही चाहिये, चाहे वह आप भी आपद्में हो ।[1] राजा राष्ट्रका सबसे बड़ा सेवक है। यही नहीं, वह चौबीसों घंटेका नौकर है। सब नौकरोंको कभी न कभी छुट्टी मिलती ही है, पर उसको कभी छुट्टी नहीं मिलती। सोते जागते उठते बैठते राष्ट्रहित चिंतन करना उसका मुख्य कर्त्तव्य है। जहाँ कहीं लिखा है कि अमुक राजा वेदविधिसे प्रजापालन करता था, वहाँ यही समझना चाहिये कि वह अपने काममें मुस्तैद था और पूरी नौकरी बजाता था। परंतु ईश्वरने सर्वदा प्रजापालन करनेके कारण उसे स्वामी बनाया है।[2] अपनी प्रजाका पालन करता हुआ राजा अपने समान

राजधर्म का मूल

भ्रान्ते पुरुषधर्मत्वाल्लेख्यं निर्णायकं परम् ।
अलेख्यमाज्ञापयति ह्यलेख्यं यत्करोति यः ।। २८२ ।।

राज्यकृत्यमुभौ चौरौ तौ भृत्यनृपती सदा ।
नृपसंचिह्नितं लेख्यं नृपस्तन्न नृपो नृपः ।। २८३ ।।

ग्रामान्पुराणि देशांश्च स्वयं वीक्ष्य च वत्सरे ।
अधिकारिगणैः काश्च रक्षिताः काश्च कर्षिताः ।। ३७३ ।।

प्रजास्तासां तु भूतेन व्यवहारं विचिन्तयेत् ।
न भृत्यपक्षपाती स्यात्प्रजापक्षं समाश्रयेत् ।। ३७४ ।।

प्रजाशतेन संद्वेष्टिं सन्त्यजेदधिकारिणम् ।
अमात्यमपि संवीक्ष्य सकृदन्यायगामिनम् ।। ३७५ ।।

एकान्ते दंडयेत्स्पष्टमभ्यासगरकृतं त्यजेत ।
अन्यायवर्त्तिनां राज्यं सर्वस्वं च हरेन्नृपः ।।३७६।। अ० १ शुक्रनीतिसार

१ अशिष्टनिग्रहो नित्यं शिष्टस्य परिपालनम् ।
एवं शुक्रोऽब्रवीद्धीमानापत्सु भरतर्षभ ।। ३४ ।। शां० प० अ०

२ स्वभागभृत्या दास्यत्वे प्रजानां च नृपः कृतः ।
ब्रह्मणा स्वामिरूपस्तु पालनार्थं हि सर्वदा ।।

क्षत्रियों, उत्तम ब्राह्मणों और अधम वैश्योंसे संग्रामके लिये ललकारे जाने पर अपने क्षत्रिय धर्मके अनुसार संग्रामसे न हटे।

संग्रामसे न हटना, प्रजाका पालन करना और ब्राह्मणोंकी शुश्रूषा करना ये राजाके लिये परम कल्याणकर हैं।

---

१ समोत्तमाधमै राजा चाहूतः पालयन् प्रजाः।
न निवर्त्तेत संग्रामात् क्षत्रंधर्ममनुस्मरन् ॥ ८७ ॥
संग्रामेष्वनिवर्त्तित्वं प्रजानां चैवपालनम्।
शुश्रूषा ब्राह्मणानां च राज्ञः श्रेयस्करं परम् ॥ ८८ ॥
मनुस्मृतिः अ० ७

४ मन्त्रिपरिषत्

हिन्दू राज्यशास्त्रमें वेद समयमें लोकसत्ताकी जो प्रबलता थी, वह राजवंशोंकी स्थापनासे घट गयी और इसलिये राजा राज्यका वेतनभोगी प्रधान कर्मचारी न रहकर उसका स्वामी बन गया। वैसे तो कुमार्गगामियोंका शासन करनेके कारण वह स्वामी था ही, परन्तु जहाँ पहले वह प्रजाकी इच्छासे स्वामी था, वहाँ अब स्वेच्छासे स्वामी बन गया।

मंत्री परिषत्के विकासपर विचार

पहले स्वामी नियंत्रित था और नियमोंसे ऐसा जकड़ा हुआ था कि टससे मस नहीं हो सकता था। परन्तु ज्यों ज्यों राज्य बड़े होने लगे होंगे, त्यों-त्यों सभिति वा राष्ट्रपरिषत्का प्रत्येक कार्यपर मत लेना असम्भव हो गया होगा और इसलिये प्रारम्भमें राजकर्त्ता राज्यके प्रतिनिधि रूपसे राजकार्यमें राजाको परामर्श देने लगे होंगे। उस समय इनकी स्थिति क्या थी यह नहीं कहा जा सकता, परन्तु इसमें सन्देह नहीं कि ये ही कालान्तरमें मन्त्रि-परिषद्में परिणत हुए होंगे।

प्राचीनकालमें मन्त्रियोंमें पुरोहित वा पुरोधा भी था, जिसका अर्थ नेता है और इस पुरोहितका राजापर बड़ा प्रभाव भी था। यह युद्ध और शान्ति-में सर्वदा राजाका मित्र, परामर्शदाता, मन्त्री और संगी था। वशिष्ठ और विश्वामित्र दोनो सुदास राजाके पुरोहित थे और अपने राजाके लिये देव-देवियोंकी स्तुति करनेके सिवा बहुतसे मार्केके काम भी करते थे। जब दस राजा परुष्णी (वर्त्तमान रावी) नदी पारकर सुदासपर चढ़ आये थे, तब सुदास राजाकी जिस सेनाने उन्हें परास्त किया था, उसके साथ उनके पुरोहित वशिष्ठ भी थे। राजाको भी विपाशा (व्यास) और शतद्रू (सतलज) नदियाँ पार करनी पड़ी थीं। पुरोहित पद बड़े सम्मान और आयका था, इसीसे इक्ष्वाकु वंशके परम्परागत पौरोहित्यके लिये वशिष्ठ

पुरोहितकी महिमा

और विश्वामित्रमें लड़ाइयाँ हुई थीं। यह पुरोहित दीर्घकालतक प्रजाका नेता, प्रतिनिधि और रक्षक बना रहा। निमि राजाके साथ वशिष्ठके झगड़ेकी जड़में भी यह पौरोहित्य ही था।

प्रकृति क्या है?

प्रकृतिका रञ्जन करनेके कारण राजा शब्दकी सृष्टि हुई है, पर यह प्रकृति क्या है? प्रकृतिका साधारण अर्थ तो प्रजा है, इसलिये सच्चा राजा वही है जो प्रजाका रंजन—उसे सन्तुष्ट और प्रसन्न रख सके। राज्यके अंगोंको भी प्रकृति कहते हैं, जिनमें राजा भी एक है। इसलिये प्रकृतिका अर्थ राज्यप्रकृति वा राज्याङ्ग नहीं हो सकता। राज्यशास्त्रमें जैसे राज्यकी प्रकितियोंकी कल्पना की गयी है, वैसे ही कामन्दकने बताया है कि राज्यशास्त्रविदोंने अमात्य, राष्ट्र, दुर्ग, कोश और दण्डको विजिगीषु वा जयकी इच्छा रखनेवाले राजाकी प्रकृति बताया है।[1] शुक्रनीतिसारमें प्रकृतिको प्रतिकृति वा प्रतिबिम्ब मानकर राजाकी दस प्रकृतियां पुरोहित, प्रतिनिधि, प्रधान, सचिव, मंत्री, प्राड्विवाक, पण्डित, सुमंत्र, अमात्य और दूत बतायी गयी हैं। किसी किसीके मतसे पुरोहित और दूत प्रकृति नहीं है और कुल आठ ही प्रकृतियां हैं। इसलिये प्रकृतिका राजनीतिक अर्थ प्रजाप्रतिनिधि वा मंत्रिपरिषत् समझना चाहिये।

पुरोहितका महत्त्व

जब किसी कारणसे किसी राज्यमें राजाका अभाव हो जाता है और क्रमके अनुसार राजा उपलब्ध नहीं होता, तब प्रकृति ही उपयुक्त मनुष्यको सिंहासनपर बैठाकर अभावकी पूर्ति करती है। वैदिक ही नहीं, ऐतिहासिक युगमें भी ऐसा ही हुआ है। यद्यपि राष्ट्रसभा प्रभाहीन हो चुकी थी और मंत्री भी राजाके उपकरण मात्र रह गये थे, तथापि पुरोहितके अधिकारोंमें कमी नहीं होने पायी थी। यह पुरोहित बहुत समयतक प्रजाके हितोंका रक्षक बना रहा और इसलिये शुक्रनीतिसारने इसे राजा और राष्ट्रका रक्षक

---

[1] अमात्यराष्ट्रदुर्गाणि कोशोदण्डश्च पञ्चमः।
एताः प्रकृतयस्तज्ज्ञै र्विजिगीषोरुदाहृताः ॥४॥ नीतिसार सर्ग ८

बताया है।[1] पुरोहितमें कौनसे गुण होने चाहिये इस विषयमें भीष्मने युधिष्ठिरसे कहा है कि जो सत्की रक्षा करे और असत्से निवारण करे, उसीको राजपुरोहित बनाना चाहिये। जो विद्वान् और बहुश्रुत हो और धर्म तथा अर्थके गहन विषयोंको बहुत शीघ्र समझ सके, जो धर्मात्मा हो और मन्त्र-नीतिका ज्ञाता हो, उसीको राजपुरोहित बनाना चाहिये; क्योंकि राष्ट्रका योगक्षेम तो राजाके अधीन है, परन्तु राजाका योगक्षेम पुरोहितके अधीन है।[2] शुक्रनीतिसारके अनुसार पुरोहित मन्त्र (परामर्श) और उसके अनुष्ठानमें कुशल, आन्वीक्षिकी, त्रयी और वार्त्ताका ज्ञाता, कर्मतत्पर, जितेन्द्रिय और जितक्रोध, लोभ और मोहसे शून्य, षडङ्ग, साङ्ग धनुर्वेद, धर्म और अर्थका ज्ञाता तथा ऐसा हो कि उसके कोपसे डरकर राजा भी धर्म और नीतिमें रत रहे और वह नीति, शस्त्रास्त्रप्रयोग तथा व्यूहरचनामें भी कुशल हो। जो पुरोहित हो, वही आचार्य हो तथा शाप देने और अनुग्रह करनेमें समर्थ हो।[3] शुक्राचार्यके मतसे दैव, अन्तरिक्ष तथा पृथिवी

---

१ पुरोधाः प्रथमं सर्वेभ्यो राजराष्ट्रभृत् ॥७४॥ अ० २ शुक्रनीतिसार

२ य एव तु सतो रक्षेदसतश्च निवर्त्तयेत् ।
स एव राजा कर्त्तव्यो राजन् राजपुरोहितः ॥ शां० अ० ७२
राजा पुरोहितः कार्यो भवेद्विद्वान् बहुश्रुतः ।
उभौ समेत्य धर्मार्थावप्रमेयावनन्तरम् ॥१॥
धर्मात्मा मंत्रविद्येषां राज्ञां राजन् पुरोहितः ।
राजा चैवं गुणो येषां कुशलं तेषु सर्वदा ॥२॥ शां० अ० ७३
योगक्षेमो हि राष्ट्रस्य राजन्यायत्त उच्यते ।
योगक्षेमो हि राज्ञो हि समायत्तः पुरोहिते ॥१॥ शां० अ० ७४

३ मन्त्रानुष्ठानसम्पन्नस्त्रैविद्यः कर्मतत्परः ।
जितेन्द्रियो जितक्रोधो लोभमोहविवर्जितः ॥७७॥
षडङ्गवित्साङ्ग धनुर्वेदविद्यार्थधर्मवित् ।
यत्कोपभीत्या राजाऽपि धर्मनीतिरतो भवेत् ॥७८॥

सम्बन्धी उत्पातों तथा आपदाओं की शान्तिके लिये राजाओंको पुरोहित नियुक्त करना चाहिये।[1] अर्थशास्त्रने इसीसे मिलता जुलता पुरोहितका लक्षण बताया है। कहा है कि जो अच्छे कुल और शीलका हो, षडङ्ग वेद, ज्योतिष शास्त्र, उत्पात देखने और दंडनीतिमें कुशल हो और दैव तथा मानुषी आपदाओंका अथर्ववेदके उपायोंसे प्रतिकार कर सकता हो, उसे पुरोहित बनाना चाहिये।[1] बृहस्पतिका कहना है कि मन्त्री और पुरोहित राजाके मातापिताके समान हैं, इसलिये राजा उनकी बात कभी न टाले। उस आचार्यका शिष्य उसी तरह उसका कहा माने, जैसे पुत्र पिताका और भृत्य स्वामीका मानता है। बृहस्पति[3] ही नहीं, साम्राज्यवादी कौटिल्य भी पुरोहितको राजाका पितृ-स्थानीय मानते हैं, इसीसे पुरोहितकी सामर्थ्य और उत्तरदायित्वका अनुमान किया जा सकता है। इस सम्बन्धमें जो सबसे महत्त्वकी बात है, वह यह है कि राज्यपर पुरोहितका इतना अधिक प्रभाव होना चाहिये कि राजा भी उसके डरसे कभी अन्याय करनेका साहस न करे। इसमें पुरोहितका इतना ही स्वार्थ था कि राजा धर्म और नीतिके मार्गपर दृढ़तापूर्वक चलता रहे। पुरोहित भी कोई साधारण पाठ वा जप करनेवाला ब्राह्मण नहीं होता था। वह धर्म, अर्थ, साङ्ग धनुर्वेद और व्यूहरचना भी जानता था, राष्ट्रकी नीतिके निर्द्धारणमें राजाको परामर्श दे सकता था और उसके अनुसार कार्य व्यवस्था भी कर सकता

नीतिशस्त्रास्त्रव्यूहादिकुशलस्तु पुरोहितः।
सैवाचार्यः पुरोधा यः शापानुग्रहयोः क्षमः ॥७९॥ अ० २

१ दिव्यान्तरिक्षभौमानामुत्पातानां प्रशान्तये।
तथा सर्वापदा चैव कार्यो भूपैः पुरोहितः ॥ शुक्रः

२ पुरोहितमुदितकुलशीलं षडङ्गवेदे दैवे निमित्तेदंडनीत्यां च अभिविनीतमापदां दैवीमानुषीणां च अथर्वभिरुपायैश्य प्रतिकर्त्तारं कुर्वीत ॥ १५ ॥ अधि० १ अ० ९

३ समौ मातृपितृभ्यां राज्ञो मन्त्रीपुरोहितौ।
अतस्तौ वाञ्छितैरर्थैर्न कथंचिद्विस्तरयेत् ॥ बृहस्पतिः

था। विश्वामित्र और द्रोणाचार्यकी भाँति वह शाप और शर दोनोंसे मार सकता था।

राजकार्य सहायसाध्य है, क्योंकि राजाके कार्य तीन प्रकारके होते हैं, प्रत्यक्ष, परोक्ष और अनुमेय। अपना देखा हुआ प्रत्यक्ष, दूसरोंसे जाना हुआ परोक्ष और किये वा न किये कार्योंपर ध्यान देकर जो अनुमान किया जाय, वह अनुमेय कार्य होता है। कार्य बहुत होते हैं और सब एक ही समय और स्थानमें नहीं होते, इस कारण स्थान और समय का अतिक्रम न होने देनेके लिये परोक्ष कार्य दूसरोंसे कराया जाता है। ये दूसरे ही अमात्य कहाते हैं और इनका कार्य अमात्यकर्म है। यह कौटिल्य का मत है।[1] राज्यके विस्तारके अनुसार कार्य बहुत होते हैं, इसलिये मन्त्रियोंके बिना काम नहीं चल सकता, क्योंकि राजा सर्वव्यापक और सर्व-शक्तिमान् नहीं हो सकता, जो सब स्थानों और सब समयोंका काम अकेला कर सके।

मंत्रियोंकी आवश्यकता क्यों?

मन्त्रियोंका महत्व किसी समय बहुत बढ़ गया था, इसलिये राज्यशास्त्र-प्रणेताओंने जगह-जगह इस बातपर जोर दिया है कि राजा कोई काम मन्त्रियोंकी सम्मतिके बिना न करे। शुक्रका कहना है मन्त्रियोंसे परामर्श किये बिना काम करता है, उसका काम क्लीबकी रतिके समान निष्फल होता है।[2] बृहस्पति कहते हैं कि जो राजा, मन्त्री, पुरोहित

मंत्रियोंसे मंत्रणाके महत्त्वपर आचार्योंके मत

१ प्रत्यक्षपरोक्षानुमेया हि राजवृत्तिः ॥११॥ स्वयं दृष्टं प्रत्यक्षं, परोपदिष्टं परोक्षं ॥१२॥ कर्म सुकृतेनाकृतावेक्षणमनुमेयम् ॥१३॥ अयौगपद्यात्तु कर्मणामनेकत्वादनेकस्थत्वाच्च देशकालात्ययो मा भूदिति परोक्षामात्यैः कारयेदित्यमात्यकर्म ॥१४॥ अधि० १ अ० ६

२ अमन्त्रसचिवैः सार्धं यः कार्यं कुरुते नृपः।
तस्य तन्निष्फलं भावि षण्ढस्य सुरतं यथा॥ शुक्रः

आदिके हितकारी वचन नहीं मानता, वह दुर्योधन राजाकी भाँति शीघ्र ही नाशको प्राप्त होता है।[1] द्रोण भारद्वाजका वचन है कि जो राजा हितैषी मन्त्रियोंका कहना नहीं मानता, वह सिंहासनपर बहुत दिन नहीं रहता, चाहे उसके बाप-दादोंका ही राज्य क्यों न हो।[2] यदि राजा और मन्त्रियोंमें बिगाड़ न रहेगा, तो सदा सुमन्त्रित मन्त्रकी सिद्धि होगी ही।[3] जिस हेतुसे मन्त्री राजाका दूसरा हृदय है, इसलिये राजाकी उन्नतिकी दृष्टिसे उसे औरोंसे न मिलना जुलना चाहिये, क्योंकि दूसरोंके संसर्गमें राज्यका मन्त्र प्रकट हो जानेसे हानिकी सम्भावना अधिक रहती है।[4]

आजकल मन्त्री, सचिव और अमात्य शब्दोंका व्यवहार पर्यायी शब्दों की भाँति किया जाता है, परन्तु राजनीतिशास्त्रकी दृष्टिसे इनके कार्यों और गुणोंमें अन्तर है। यद्यपि महाभारतमें भी मन्त्रियोंकी योग्यता और अधिकारोंका वर्णन है, तथापि शुक्रनीतिसारमें जिस विस्तार और स्पष्टतासे इस विषयका विवेचन किया गया है, वैसा अन्यत्र नहीं मिलता। इसके अनुसार प्रतिनिधि वह है, जो राजाको यह बताता रहे कि क्या करना चाहिये और क्या न करना चाहिये। जो सत्य, असत्य, हित और अहित कार्य हो, वह प्रतिनिधि राजाको बतावे

शुक्रनीतिसारके अनुसार मंत्रियोंके नाम और कर्त्तव्य

---

१ यो राजा मंत्रिपूर्वाणां न करोति हितं वचः।
स शीघ्र नाशमायाति यथा दुर्योधनो नृपः॥ वृहस्पतिः

२ यो राजा मंत्रिणां वाक्यं न करोति हितैषिणाम्।
न स तिष्ठेच्चिरं राज्ये पितृपैतामहेऽपिच॥ भारद्वाजः

३ सुमंत्रितस्य मंत्रस्य सिद्धिर्भवती शाश्वती।
यदि स्यान्नान्यथा भावो मंत्रिणा सह पार्थिवः॥ ऋषिपुत्रकः

४ मंत्रिणः पार्थिवेन्द्राणां द्वितीय हृदयं ततः।
ततोऽन्येन न संसर्गस्तैः कार्यो नृपवृद्धये॥ शुक्रः

और तुरत करनेका जो काम हो, वह करे या करावे और जो न करनेका हो, वह न करे और जो अहित हो, वह न बतावे। सब कामोंकी देखभाल करनेवाला प्रधान होता है। सभी राजकार्योंपर विचार करना उसका काम है। अश्वों, गजों, रथों, और पैदलों तथा सुदृढ़ उष्ट्रों, बाजेसे न भड़कनेवाले तथा बोली और संकेत जाननेवाले बैलों, व्यूहरचनाके अभ्यासियों, पूर्व पश्चिम जानेवाले तथा शस्त्रास्त्र सेवकोंके अच्छे बुरे कामों, अस्त्रों और अस्त्रधारियों तथा घोड़ियों और इनमें कौन कामकी हैं और कौन नहीं, कौन पुरानी हैं और कौन नयी, गोलीबारूद सहित कितने हथियार हैं तथा युद्धोपयोगी कितनी सामग्री है इत्यादि बातें प्रधानके देखने और जाननेकी हैं। सेनाकी व्यवस्था करनेवाला सचिव है और इसे सेना सम्बन्धी सब बातें राजाको बतानी चाहिये। नीतिमें कुशल मन्त्री कहाता है और उसे यह सब विचार कर राजाको बताना चाहिये कि किनके साथ कब साम, दाम, भेद और दंडका प्रयोग करना चाहिये। यह मन्त्री ही कालान्तर में सान्धिविग्रहक कहाने लगा था। लोक, शास्त्र और नीतिका ज्ञाता प्राड्विवाक होता है। इसका काम यह जानना है कि लिखा-पढ़ीपर साक्षियोंके हस्ताक्षर हैं वा छलसे तैयार की गयी है। मामला बनावटी है या सच्चा यह विचारकर तथा दिव्य (हलफ) आदि जो साधन हैं, उनसे और युक्ति, प्रत्यक्ष, अनुमान और उपमानसे तथा सभामें बैठकर लोक और शास्त्रोंद्वारा बहुमतसे निश्चय करके जो राजाको बताता है, वह प्राड्विवाक कहाता है। धर्मतत्त्वका ज्ञाता पंडित कहाता है। इसका काम यह जानना और राजाको बताना है कि लोग जिन धर्मोंका अवलम्बन किए हुए हैं, उनमें कौन नवीन हैं और कौन प्राचीन तथा शास्त्रोंमें कौन माने गये हैं और किनका विरोध किया गया है तथा लोक और शास्त्रके विरुद्ध कौन हैं तथा लोक और परलोकमें सुख देनेवाले कौन हैं। आय-व्ययका बतानेवाला सुमन्त्र है। इस वर्षमें तृणादि कितना द्रव्य संचित हुआ है और कितना व्यय हुआ तथा स्थावर और जंगम कितना द्रव्य है यह राजाको बताना सुमन्त्रका कर्त्तव्य है। देश-कालका

ज्ञाता अमात्य होता है। राज्यमें कितने पुर, कितने ग्राम और कितने जंगल हैं तथा कितनी भूमि किसने जोती है और उससे कितना भाग मिला है तथा कितना शेष है; जोतनेको कितनी भूमि अब भी पड़ी हुई है; इस वर्ष शुल्क दंड आदिसे कितना द्रव्य आया तथा बिना जोती भूमि और वनमें कितना अन्न हुआ; खानोंसे कितना धन मिला और निधिमें (खजानेमें) कितना है; कितना लावारिस माल मिला, कितना चोरी गया और कितना संचित है यह राजाको बताना अमात्यकर्म है। संकेत और चेष्टाका जानकार, अच्छी स्मृतिवाला और देशकाल तथा षाड्गुण्य विषयक मन्त्रका ज्ञाता, वक्ता और निर्भय होना दूतका गुण है।[1]

---

१ कार्याकार्यप्रविज्ञाता स्मृतः प्रतिनिधिस्तु सः।
सर्वदर्शी प्रधानस्तु सेनावित्सचिवस्तथा॥ ८२॥
अहितं चापि यत्कार्यं सद्यः कर्त्तुं यदौचितम्।
अकर्त्तुं यद्धितमति कर्त्तुं राज्ञः प्रतिनिधिः सदा॥८७॥
बोधयेत् कारयेत् कुर्यान्नकुर्यान्न प्रबोधयेत्।
सत्यं वा यदि वासत्यं कार्यजातं च यत्किल॥८८॥
सर्वेषां राजकृत्येषु प्रधानस्तद्विचिन्तयेत्।
गजानां च तथाश्वानां रथानां पदगामिनां॥८९॥
सहढानां तथोष्ट्राणां वृषाणां सद्य एव हि।
वाद्यभाषा-सुसङ्केत-व्यूहाभ्यासशालिनां॥९०॥
प्राक् प्रत्यग्गामिनां राजचिह्नशस्त्रास्त्रधारिणां।
परिचारगणानां हि मध्यमोत्तमकर्मणाम्॥९१॥
अस्त्राणामस्त्रपतीनां सद्यस्त्वं तुरगी गणः।
कार्यक्षमश्च प्राचीनः साद्यस्कः कति विद्यते। ९२॥
कार्यासमर्थः कत्यस्ति शस्त्रगोलाग्निचूर्णयुक्।
सांग्रामिकश्च कत्यस्ति सम्भारस्तान्विचिन्त्य च॥ ९३॥

दस प्रकृतियोंका जो वर्णन हुआ है, उससे जान पड़ता है कि प्राचीन-कालमें राज्यव्यवस्थाका भार मन्त्रियोंपर ही था। प्रतिनिधि राजाका प्राइवेट सेक्रेटरी होता था। यों तो शिवाजी महाराजकी राज्य-पद्धतिमें प्रत्येक मंत्री प्रधान कहाता था अथवा प्रधान शब्द मंत्रीका ही पर्यायवाची हो रहा था, परंतु प्रधानके अधीन जो कार्य थे, उनसे जाना जाता है कि वह प्रधान मंत्री ही होता था। वह सेना, शस्त्रास्त्र तथा व्यूहादि और युद्ध सामग्रीका पूरा पता रखता था और जानता था कि युद्धके लिये कितनी तैयारी

वर्त्तमान परिभाषिक शब्दोंसे मंत्रियोंके पुराने नामोंकी तुलना

सचिवश्चापि तत्कार्यं राज्ञे सम्यङ् निवेदयेत्।
मंत्री तु नीतिकुशलः पंडितो धर्मतत्त्ववित्।
सामदानश्च भेदश्च दंडः केषु कदा कथ ॥ ९४ ॥
कर्त्तव्यः किं फलं तेभ्यां वहुमध्यं तथाल्पकम्।
एतत्सञ्चिन्त्य निश्चित्य मंत्री सर्वं निवेदयेत् ॥ ९५ ॥
लोकशास्त्रनयज्ञस्तु प्राड्विवाकः स्मृतः सदा।
साक्षिभिर्लिखितै र्भोगैश्छलभूतैश्च मानुषान्।
स्वानुत्पादित-सम्प्राप्त-व्यवहारान्विचिन्त्य च ॥ ९६ ॥
दिव्यसंसाधनान्वापि केषु किं साधन परम्।
युक्तिप्रत्यक्षानुमानापमानैर्लोक शास्त्रतः ॥ ९७ ॥
वहुसम्मतसंसिद्धान्विनिश्चित्य सभास्थितः।
स सभ्यः प्राड्विवाकस्तु नृपं सम्बोधयेत्सदा ॥ ९८ ॥
पंडितो धर्मतत्त्ववित्…………।
वर्त्तमानाश्च प्राचीना धर्माः के लोकसंश्रिताः।
शास्त्रेषु के समुद्दिष्टा विरुध्यन्ते च केऽधुना ॥ ९९ ॥
लोकशास्त्रविरुद्धाः के पंडितस्तान्विचिन्त्य च।
नृपं सम्बोधयेत्तैश्च परत्रेह सुखप्रदैः ॥ १०२ ॥

है। राज्यकी सभी बातोंसे वह अवगत होता था। वही अध्यक्ष होता था और सचिव सेना-सचिव वा समर-सचिव होता था। मंत्री परराष्ट्र-सचिव, प्राड्विवाक मुख्य न्यायाधीश, सुमंत्र अर्थ-सचिव, अमात्य राजस्व मंत्री, पंडित धर्म व्यवस्थापक और दूत राजदूत होता था।

कौटिल्यकी राज्यव्यवस्था कई विषयोंमें विशेष प्रकारकी होनेपर भी मंत्रियोंके साथ राजाके मंत्रणा करनेके विषयमें प्राचीन आर्योंके अनुकूल ही थी। वे व्यावहारिक आचार्य थे, इसलिये उन्होंने मंत्रियोंकी संख्या निर्दिष्ट न करके इतना ही कहा कि आवश्यकता वा सामर्थ्यके अनुसार मंत्री रखने चाहिये। उन्होंने मंत्रियोंके कार्योंका समुच्चय इस प्रकार बताया है:—'वे राजाके स्वपक्ष और परपक्षका

मंत्रियोंसे मंत्रणा करनेकी विधि और बहुमतसे कार्य

आयव्ययप्रविज्ञाता सुमंत्रः स च कीर्तितः ॥ ८५ ॥
इयच्च संचितं द्रव्यं वत्सरेऽस्मिंस्तृणादिकम्।
व्ययीभूतमियच्चैव शेषं स्थावरजङ्गमम् ॥ १०१ ॥
इयदस्तीति वै राज्ञे सुमंत्रो विनिवेदयेत्।
देशकालप्रविज्ञाता ह्यमात्य इति कथ्यते ॥ ८५ ॥
पुराणि च कति ग्रामा अरण्यानि च सन्ति ह ॥ १०२ ॥
कर्षिता कति भूः केन प्राप्तो भागस्तदा कति।
भागशेषं स्थितं तस्मिन् कत्यकृष्टा च भूमिका ॥ १०३ ॥
भागद्रव्यं वत्सरेऽस्मिञ्छुल्कं दंडादिजं कति।
अकृष्टपच्यं कति च कति चारण्यसम्भवम् ॥ १०४ ॥
कति चाकरसंजातं निधिप्राप्तं कतीति च।
अस्वामिकं कति प्राप्तं नाष्टिकं तस्कराहृतम् ॥ १०५ ॥
सञ्चितंतु विनिश्चित्यामात्यो राज्ञे निवेदयेत्।
इङ्गिताकारचेष्टज्ञः स्मृतिमान्देशकालवित्।
षाड्गुण्यमंत्रविद्वाग्मी वीतभीर्दूत इष्यते ॥ ८६ ॥
शुक्रनीतिसार अ० २

विचार करें। न किये हुए कार्यका अनुष्ठान और अनुष्ठित कार्यकी पूर्तिकी तैयारी करें। जो निकट हों, उनके साथ बैठकर राजा कार्यको देखे और जो दूर हों, उनसे पत्रद्वारा परामर्श करे। आवश्यक कार्य मन्त्रियों और मन्त्रिपरिषद्का आवाहन करके उन्हें बतावे। फिर बहुमत जिस उपायको कार्यसिद्ध बतावे, वही करे।'[1] कौटिल्यने मन्त्रके पांच अंग माने हैं, (१) कार्यारम्भका उपाय (२) पुरुष और द्रव्यसम्पत्, (३) देश और कालका विभाग, (४) आक्रमणका विचार और (५) कार्यसिद्धि। उनका मत है कि राजा पहले सब मन्त्रियोंसे अलग अलग पूछे और फिर सबसे एक साथ पूछे। हेतुकी दृष्टिसे निश्चय करे और जब निश्चय हो जाय, तब व्यर्थ समय नष्ट न करे। मंत्रियोंसे पूछे कि यह कार्य ऐसा या ऐसा हो तो क्या करना चाहिये और जैसा वे कहें, वैसा ही करे।[2] महाभारतके अनुसार राजा कमसे कम तीन मंत्रियोसे परामर्श करके अपना मत प्रकट करे और जो सिद्धान्तहो, वह प्रजाके अनुकूल हो, तो उसके अनुसार कार्य करे।

जब साम्राज्यवादी कौटिल्यने मन्त्रिमण्डलको इतना महत्त्व दिया है, तब अन्य आचार्य यदि कुछ विशेष कहें, तो क्या आश्चर्य है ? शुक्रनीतिसार-

---

१ ते ह्यस्य स्वपक्षं परपक्षं च चिन्तयेयुः ॥५७॥ अकृतारम्भमारब्धानुष्ठान मनुष्ठितविशेषं नियोगसम्पदं च कर्मणां कुर्युः ॥ ५८ ॥ आसन्नैः सह कार्याणि पश्येत् । अनासन्नैस्सह पत्रसम्प्रेषणेन मंत्रयेत् ॥ ५९ ॥ ....आत्ययिके कार्ये मंत्रिणां मंत्रिपरिषदं चाहूय ब्रूयात् ॥६३॥

तत्र यद् भूयिष्ठाः कार्यसिद्धिकरं वा ब्रूयुस्तत्कुर्यात् ॥ ६४ ॥

२ कर्मणामारम्भोपायः पुरुषद्रव्यसम्पद्देशकालविभागो विनिपातप्रतीकारः, कार्यसिद्धिरिति पंचाङ्गो मंत्र ॥ ४७ ॥ तानेकैकशः पृच्छेत् समस्तांश्च ॥ ४८ ॥ हेतुभिश्चैषां मतिप्रविवेकान् विद्यात् ॥ ४९ ॥ अवाप्तार्थकालं नातिक्रामयेत् ॥५०॥ अधि० १ अ० १५ । कार्यमिदमेवमासीदेवं वा यदि भवेत्तत्कथं कर्त्तव्यमिति ॥ २७ ॥ ते यथा ब्रूयुः तत्कुर्यात् ॥ २८ ॥ अधि० १ अ० १५

कैसे मंत्री होने चाहिये ?

में कहा गया है कि राजा समझे कि प्रकृतिसे मन्त्रणा किये बिना राज्यका नाश और मेरा निरोध होगा। यही नहीं, उसका तो कहना यह है कि जिन मंत्रयोंसे राजा नहीं डरता, उनसे क्या कभी राज्यकी बढ़ती होगी ? क्योंकि जैसे स्त्रियोंके वस्त्राभूषण आदि होते हैं, वैसे ही ये भी हैं। उन मंत्रियोंसे क्या प्रयोजन जिनसे राज्य, प्रजा, बल, कोश और सुनृपत्वमें वृद्धि नहीं होती ?[1] इस ग्रन्थने राजाको नियंत्रित करनेमें कुछ उठा नहीं रखा, क्योंकि इसका कहना है कि मंत्रियोंकी सम्मति बिना राजा अपने नौकर भी नहीं रख सकता और इसे बृहस्पतिका मत बताया है।[2] इससे स्पष्ट हो जाता है कि हिन्दू राज्यशास्त्र-प्रणेताओंके अनुसार राज्य राजतन्त्र नहीं मन्त्रितन्त्र होता था, जैसा इंग्लैण्डमें है। परन्तु दोनोंमें अन्तर केवल इतना है कि यहाँ राजाओंको नियंत्रित रखनेके जो उपाय बताये गये थे, उनका अवलम्बन प्रायः नहीं होता था।

मंत्रणा किन लोगोंसे न करनी चाहिये इस विषयमें जैमिनिका कहना है कि क्षत्रियोंको मंत्री न बनावे, क्योंकि उन्हें केवल युद्ध ही सूझता है।[3]

मंत्रणाकेपात्र कौन नहीं होते ?

तात्पर्य यह कि दण्डके अतिरिक्त राजनीतिके और भी तीन अंग होते हैं। राजाको उन तीनोंका भी ध्यान रखना चाहिये। परन्तु क्षत्रियोंका मन इनमें नहीं

---

१ न बिभेति नृपो येभ्यस्तैः किं स्याद्राज्यवर्द्धनम्।
यथालङ्कारवस्त्राद्यैः स्त्रियो भूष्यास्तथा हि ते ॥ ८१ ॥
राज्यं प्रजाबलं कोशः सुनृपत्वं न वर्द्धितम्।
यन्मंत्रोऽरिनाशस्तैर्मंत्रिभिः किं प्रयोजनम् ॥ ८२ ॥

२ भूपतेस्सेवका ये स्युस्ते स्युः सचिवसम्मताः।

३ मंत्रस्थाने न कर्त्तव्याः क्षत्रियाः पृथिवीभुजा।
यतस्ते केवलं मंत्रं प्रपश्यन्ति रणोद्भवम् ॥जैमिनिः॥

लगता, इसलिये क्षत्रियों वा सैनिकोंको मंत्री न बनाना चाहिये। शुक्रका म[त] है कि राजा अपने जिन विरोधियोंको बध आदिका दंड दे, उनके सम्बन्धियों[के] साथ मंत्रणा न करे।[१] नारदका कहना है कि जिनका पराभव हुआ है औ[र] जिन्होंने पराभव किया है; उन्नतिके आकांक्षीको उनसे गोष्ठी न करन[ी] चाहिये।[२] शुक्र तो यहाँ तक कहते हैं कि जैसे घरमें रहे हुए सर्पसे सदा भय बना रहता है, वैसे ही घर आये हुए दोषियोंसे भी रहता है।[३] अर्थात् दोषियोंसे राजा मंत्रणा तो करे ही नहीं, उन्हें घरमें भी न आने दे, कारण कि कहीं कोई भेदकी बात न जान सकें।[३]

मन्त्रणा करनेके स्थानोंपर भी राज्यशास्त्रके आचार्योंने विचार किया है। शुक्रनीतिसारका मत है कि रातको मकानके अन्दर और दिनको निर्जन वनमें राजा भावी कार्यके विषयमें मंत्रियोंके साथ विचार करें।[४] बृहस्पतिका मत इससे कुछ भिन्न है। इनका कहना है कि मैदानमें और जहाँ शब्दकी प्रतिध्वनि होती हो, वहाँ सिद्धिका चाहनेवाला मंत्रणा न करे।[५] महाभारतमें बताया गया है कि जहाँ मंत्रणा हो, वहाँ बौने, कुबड़े,

कहाँ मन्त्रणा न करे?

---

१ येषां वधादिकं कुर्यात्पार्थिवश्च विरोधिनाम्।
तेषां सम्बन्धिभिस्सार्द्धं मंत्रः कार्यो न कर्हिचित्॥ शुक्रः॥

२ परिभूता नरा ये च कृतो यैश्च पराभवः।
न तैस्सह क्रियाद् गोष्ठीं यदिच्छेद् भूतिमात्मनः॥ नारदः

३ यथाहिर्मन्दराविष्टः करोति सततं भयं।
अपराध्याः सरोषाश्च तथा तेऽपि गृहागताः॥ शुक्रः

४ अन्तर्वेश्मनि रात्रौ वा दिवारण्ये विशोधिते।
मंत्रयेन्मंत्रिभिः सार्द्धं भावि कृत्यन्तु निर्जने॥१५०॥ अ० १

५ निराश्रयप्रदेशे तु मंत्रः कार्यो न भूभुजा।
प्रतिशब्दो न यस्त्रयस्यान्मंत्रसिद्धिं प्रवाञ्छता॥ बृहस्पतिः

अन्धे, लंगड़े, हिंजड़े और तिर्यक् योनिवाले जीव न रहने पावें। इसका कारण मंत्र फूट जानेकी आशंकाके सिवा और क्या हो सकता है।[१]

मन्त्र न फूटे इसके लिये बड़ी सावधानी रखी जाती थी। वल्लभदेवने यह बताया है कि किन कारणोंसे मन का भेद खुल जाता है। आकार, इंगित, गति, चेष्टा, भाषण और आँख तथा मुँहकी विकृतिसे लोग मनकी बात ताड़ लेते हैं।[१] नीतिवाक्यामृतमें बताया गया है कि इंगित, आकार, मद, प्रमाद और निद्रा मन्त्रभेदके ये पाँच कारण होते हैं।

मंत्र कैसे फूटता है?

संकेत या इशारेको इंगित कहते हैं और क्रोध वा प्रसन्नतासे शरीरमें जो विकार होता है, वह आकार कहाता है। मद्यपान वा स्त्रीसंगसे उत्पन्न हर्ष मद और अचेतनता प्रमाद है। निद्रित मनुष्यके हृदयकी गतिसे भी मन्त्रभेद होता है।[२] इसलिये कहा है कि मन्त्रणाके विषयमें सिद्धान्त होते ही मन्त्रका अनुष्ठान करना चाहिये। शुक्रके मतसे मन्त्रणा करके ही मन्त्रका अनुष्ठान करना चाहिये, क्योंकि जो ऐसा नहीं करता, उसका मन्त्र उसी क्षण फूट जाता है। वह उसी प्रकार व्यर्थ होता है, जैसे प्रमादी शिष्यका मन्त्र व्यर्थ हो जाता है।[३]

---

१ आकारैरिङ्गितैर्गत्या चेष्टया भाषणेन च।
नेत्रवक्त्रविकारेण गृह्यन्तेऽन्तर्गतं मनः॥ वल्लभदेवः

२ इङ्गिताकारो मदः प्रमादो निद्रा च मंत्रभेदकारणानि ॥३५॥ इङ्गितमन्यथा वृत्तिः ॥३६॥ कोपप्रसादजनिता शारीरी विकृताकारा ॥३७॥ पानस्त्रीसङ्गादि जनितो हर्षोमदः ॥ ३८ ॥ प्रमादो गोत्रस्खलनादि हेतुः ॥३९॥ अन्यथा चिकीर्षितोऽन्यथावृत्तिर्वा प्रमादः ॥४०॥ निद्रांतरितः ॥४१॥ मंत्रिसमुद्देशः ॥

३ यो मंत्रं मंत्रयित्वा तु नानुष्ठानं करो ति च।
तत्क्षणात्तस्य मंत्रस्य जायते नात्र संशयः। शुक्रः
यो मंत्रं मंत्रयित्वा तु नानुष्ठानं करोति च।
स तस्य व्यर्थतां यातिच्छात्रस्येव प्रमादिनः॥ शुक्रः

दक्षिण भारतके मन्त्री राजाको अपने नियन्त्रणमें रखते थे अथवा अपने अधिकारोंका पूर्ण रूपसे उपयोग करते थे यह कहना तो कठिन है। परन्तु यह मानना पड़ेगा कि वहाँकी व्यवस्था मंत्रियोंके हाथ मजबूत रखती थी। चोल सम्राट् राजराज और राजेंद्रकी आज्ञाएँ ओलाय नायकम् वा प्रधान मंत्री और दूसरे अधिकारीकी स्वीकृतिके बिना कार्यान्वित नहीं हो सकती थीं और राजप्रतिनिधि तथा ग्राम-सभाओंकी स्वीकृतिसे ही चोल राजाज्ञाएँ लिखी और संरक्षित की जाती थीं। सभाकी स्वीकृतिसे ही सिंहलके राजा लोगोंको माफी (जमीन) देते और राजाज्ञाएँ जारी करते थे। चीनी यात्री श्यूआन चुआङ्के लिखित वर्णनसे जाना जाता है कि सम्राट् अशोककी शाहखर्ची मंत्री राधगुतने बहुत कम करा दी थी। इसी प्रकार श्रावस्तीके राजा विक्रमादित्यको एक मंत्रीने अत्यन्त दानशीलतासे यह कहकर रोका था, 'महाराज, इस दानके कारण श्रीमान्की तो प्रशंसा ही होगी, परंतु आपके मन्त्रीकी प्रतिष्ठा न रहेगी; क्योंकि जब उसे नये कर लगाने पड़ेंगे, तब उनकी निन्दा होगी।'[1] कहीं कहीं तो सभा और मन्त्री इतने प्रबल थे कि गवर्नरतककी कोई परवाह नहीं करते थे। कुशान साम्राज्यके गवर्नर रुद्रदामाको उन्होंने काठियावाड़के गिरनारकी सुदर्शन झीलकी मरम्मतका खर्च अपने पाससे देनेके लिये लाचार किया था।

मंत्रियोंकी प्रबलतासे प्रजाहित

कौटिल्यने मन्त्रि-परिषद्की संख्या नहीं बतायी है, केवल यही कहा है कि आवश्यकतानुसार मन्त्री रखने चाहिये, क्योंकि ये ही राजाकी आँखें हैं। इन्द्रकी मन्त्रिपरिषद् में हजार ऋषि हैं। ये ही उनकी आँखें हैं, इसीलिये दो आँखोंवाले इन्द्र सहस्राक्ष कहाते हैं।[1] मन्त्रीके गुणोंके सम्बन्धमें कौटिल्यका कहना है कि स्वदेशी, कुलीन, शिल्पज्ञ, आँखवाला, बुद्धिमान्, स्मृतिमान्,

मंत्रीके गुण

---

१ इन्द्रस्य मंत्रपरिषदृषीणां सहस्रम् ॥६०॥ स तच्चक्षुः ॥६१॥ तस्मादिमं द्व्यक्षं सहस्राक्षमाहुः ॥६२॥ अ० १ अ० १५

निपुण, वाक्पटु, प्रगल्भ, प्रतिकार और प्रतिवाद करनेमें समर्थ, उत्साही, प्रभावशाली, क्लेशसहिष्णु, पवित्रहृदय, मित्रभाववाला, दृढ़ राजभक्त, शील, बल, आरोग्य तथा धैर्यशाली, निरभिमान, स्थिर स्वभाववाला, सौम्य आकृति-वाला, तथा भूमि और स्त्री आदिके विषयमें शत्रुता न रखनेवाला अमात्य होना चाहिये।[1]

मंत्रियोंके जो नाम और कार्य शुक्र-नीतिसारसे ऊपर दिये गये हैं, उनके सिवा भी अनेक नाम प्रयुक्त होते थे। मनुस्मृतिमें अमात्यके बदले सचिव शब्द मिलता है। रामायणमें अमात्यका व्यवहार साधारण अर्थमें किया गया है तथा सचिव और मंत्रीमें भेद माना गया है। कौटिल्यने प्रधान मंत्री-को मंत्री कहा है और जहाँ वेतन निर्द्धारित किया है, वहाँ यद्यपि पुरोहितके समान ही उसका वेतन रखा है, पर उसका उल्लेख पुरोहितसे पहले किया है। अशोकका प्रधान मंत्री राधगुप्त अमात्य कहाता था, परन्तु अजातशत्रुके प्रधान मंत्रीकी पदवी पाली ग्रंथोंके अनु-सार 'अग्र महामात्र' थी। गुप्तकालके प्रधान मंत्री महादंडनायक कहाते थे।

पारिभाषिक शब्दोंमें अन्तर

—

१ जानपदोऽभिजातः स्ववग्रहः कृतशिल्पश्चक्षुष्मान् प्राज्ञो धारयिष्णुर्दक्षो वाग्मी प्रगल्भः प्रतिपत्तिमानुत्साहप्रभावयुक्तः क्लेशसहः शुचिर्मैत्रो दृढभक्तिः शीलबलारोग्यसत्वसंयुक्तः स्तम्भचापल्यवर्जितः सांप्रयो वैराणामकर्त्तेत्यमात्यसम्पत् ॥१॥ अधि० १ अ० ६

५ अधार्मिक वा स्वतंत्र राजा

वेदोमें जिस प्रकार धार्मिक वा नीतिमान् राजाके गीत गाये गये हैं, उसी प्रकार अनीतिमान् वा अधार्मिक राजाकी निन्दा भी की गयी है।

स्वतन्त्र राजाकी निन्दा

कहा गया है कि व्यभिचारी वा अनियंत्रित राजाके राज्यमें वर्षा नहीं होती, उसे समिति योग्य नहीं समझती और न वह मित्रको ही वशमें कर सकता है।[1] अथर्ववेदके इस मंत्रमें ही नहीं, वाजसनेयी संहिता वा शुक्ल यजुर्वेदमें तो अनियंत्रित राजाकी इससे भी अधिक स्पष्ट शब्दोंमें निन्दा की गयी है। कहा गया है कि बड़ी चिड़ियाके सामने शकुन्तिका जैसी छोटी चिड़िया जिस प्रकार दबी रहती है, उसी प्रकार अनियंत्रित राजशक्तिसे प्रजा दबी रहती है। फिर जैसे छोटी दरारमें मोटी वस्तु घुसेड़नेसे वह छिन्न-भिन्न हो जाती है, वैसे ही अनियंत्रित राजशक्तिके दबावसे प्रजाकी दशा होती है। अनियंत्रित राजा प्रजाको मारता है, इस लिये वह प्रजाका घातक है।[2] अनन्तर प्रजाकी उपमा यवसे और राजशक्तिकी हरिणसे दी गयी है। जैसे हरिण यवको खाता है, वैसे ही अनियंत्रित राजा प्रजाको खाता है। इसके उपरान्त अनियंत्रित राज

---

१ नवर्षं मैत्रावरुणं ब्रह्मज्यमभिवर्षति।
नास्मै समितिः कल्पते न मित्रं नयते वशम् ॥१५॥ अथर्व० ५।१९

२ यकासकौ शकुन्तिका हलगिति वञ्चति।
आहन्ति गभे पसो निगल्गलीति धारका ॥२२॥ शु० यजुर्वेद अ० २३
यकासकौ शकुन्तिकेति। विड्वै शकुन्तिका हलगिति वञ्चतीति विशो वै राष्ट्राय वञ्चत्याहन्ति गभे पसो निगल्गलीति धारकेति विड्वै गभो राष्ट्रं पसो राष्ट्रमेव विश्याहन्ति तस्माद्राष्ट्री विशं घातुकः ॥
शतपथ ब्राह्मण कांड १३ अ० २ ब्रा० ९ कं० ७

शिकारी और प्रजा पुष्ट पशु बतायी गयी है। जैसे शिकारी पुष्ट पशुको देख बिना मारे नहीं छोड़ता, वैसे ही अनियंत्रित राजा प्रजापर दया नहीं करता। जिस आर्यकी रक्षिता (रखेल) शूद्रा हो, उसके पुत्रको राजा न बनावे, क्योंकि उसका पति अर्थोपार्जनकी चिन्ता नहीं करता।[1]

राजा यदि न्याय मार्गपर चलता है, तो कामन्दकके अनुसार वह धर्म, अर्थ और काममें अपनी और अपनी प्रजाकी उन्नति करता है और विपरीत आचरण करता है, तो निश्चय ही उनका नाश करता है।[2] महाभारतमें भीष्मने इस प्रश्नका बहुत ही उचित उत्तर दिया है कि कैसे राजाको राजा कहना चाहिये। उनका मत है कि बुद्धिमान्, त्यागशील, शत्रुके दोष ढूँढ़नेमें तत्पर, स्वरूपवान्, तथा सब वर्णोंके नय और अपनय जाननेवाला, क्रियावान्, निरहंकार, शीघ्र कार्य करनेवाला, स्वभावसे ही क्रोध न करनेवाला और कार्यारम्भ करके

किस राजाको राजा कहना चाहिए ?

---

१ यद्धरिणो यवमत्ति न पुष्टं पशुमन्यते।
शूद्रा यदर्यजारा न पोषाय धनाय च ॥३०॥ शु० यजुर्वेद अ० ३०
यद्धरिणो यवमत्ति। विड्वै यवो राष्ट्रं हरिणो विश्वमेव राष्ट्राद्यां करोति तस्माद्राष्ट्री विशमत्ति। न पुष्टं पशुमन्यते तस्माद्राजा पशून्न पुष्यति। शूद्रा यदर्यजारा न पोषायधनायति। तस्माद्वैशो पुत्रं नाभिषिञ्चति ॥
शतपथ ब्राह्मण कांड० १३ अ० ब्रा० २ कं० ८
राष्ट्रं अस्यास्तीति राष्ट्री=मेरे लिये राष्ट्र है यह समझनेवाला।
फ्रान्सके बादशाह १४ वें लुईकी भाँति I am the state कहनेवाला।

२ न्यायप्रवृत्तो नृपतिरात्मानमथ च प्रजाम्।
त्रिवर्गेणोपसन्धत्ते निहन्ति ध्रुवमन्यथा ॥१५॥ नीतिसार सर्ग १

३ प्राज्ञस्त्यागगुणोपेतः पररन्ध्रेषु तत्परः।
सुदर्शः सर्ववर्णानां नयापनयवित्तथा ॥३०॥

समाप्त करनेवाला ये गुण जिस राजामें हों, वही वास्तविक राजा है। पुत्र जिस प्रकार पिताके घरमें निर्भय घूमते हैं, उसी प्रकार जिसके राज्यमें प्रजा निर्भय विचरे, वही राजा है। जिस राजासे उसके पुरवासी और राष्ट्रवासी अपनी सम्पत्ति छिपाते न हों और नीति तथा अनीतिके ज्ञाता हों, वही राजा है। जिस राजाकी प्रजा विधिवत् पालित होकर अपने धर्ममें तत्पर रहती है और शत्रुसे संघर्षकी चिन्ता नहीं करती, दानशील है और आपसमें नहीं लड़ती, वही राजा है। जिस राजामें मिथ्या और छल तथा माया और ईर्ष्या नहीं होती, उसीको सनातन धर्मका लाभ होता है।

राजा ही कालका कारण है।

कुछ लगोंकी यह भ्रान्त धारणा देखने में आती है कि जैसी प्रजा होती है, वैसा ही राजा उसको मिलता है। जहाँतक राजाके अत्याचारोंके सहने का सम्बन्ध है, वहाँ तक तो प्रजाका दोष अवश्य माना जा सकता है। परन्तु दंडनीतिमें तो 'यथा राजा तथा प्रजा' ही सिद्धान्त स्वीकृत किया गया है। महाभारतमें भीष्मने युधिष्ठिरसे कहा है कि तुम्हें इस बातमें संशय न होना चाहिये कि समय राजाको बनाता है वा राजा समयको बनाता है, क्योंकि राजा ही कालका कारण होता है। कैसे? जैसा जैसा आचरण राजा करता है, वैसा ही वैसा प्रजा भी करती हैं, क्योंकि इसे वही अच्छा लगता है।[१]

क्षिप्रकारी जितक्रोधः सुप्रसादो महामनः।
अरोषप्रकृतिर्युक्तः क्रियावानविकत्थनः ॥३१॥
आरब्धान्येव कार्याणि सुपर्यवसितानि च।
यस्य राज्ञः प्रदृश्यन्ते स राजा राजसत्तमः ॥३२॥
पुत्रा इव पितुर्गेहे विषये यस्य मानवाः।
निर्भया विचरिष्यन्ति स राजा राजसत्तमः ॥३३॥
अगूढविभवा यस्य पौरा राष्ट्रनिवासिनः।
नयापनयवेत्तारः स राजा राजसत्तमः ॥३४॥ शान्तिपर्व अ० ५७

१ यद्यदाचरते राजा तत्प्रजानांस्म रोचते ॥४॥ शां० अ० ७५

इसलिये जब राजा पूर्ण रूपसे दंडनीतिका अवलम्बन करता है, तब कृतयुगकी सृष्टि होती है। कृतयुगमें धर्म ही रहता है, तनिक भी अधर्म नहीं रहता। किसी वर्णका मन अधर्ममें नहीं टिकता। निःसंशय अपूर्व अर्थकी प्राप्ति और प्राप्त अर्थकी रक्षा होती है। सब वैदिक कर्म गुणयुक्त होते हैं, ऋतुएँ सबके लिये सुखमय और नीरोग होती हैं। मनुष्योंकी वाणी, रंग और मन निर्मल होते हैं। रोग नहीं होते और न मनुष्य अल्पायु ही होते हैं। विधवाएँ नहीं होतीं और कंजूस पैदा नहीं होते। बिना जोते ही पृथ्वीसे अन्न और औषधियाँ उत्पन्न होती हैं तथा छाल, पत्ते, फलमूल पुष्ट होते हैं। अधर्म नहीं रहता, केवल धर्म ही रहता है। परन्तु जब राजा दंडनीतिके तीन अंशोंका अवलम्बन करता और चौथेको छोड़ देता है, तब त्रेता युग होता है। अशुभका चतुर्थांश और शुभका तीन चतुर्थ अंश वर्तमान रहता है। जोतनेसे पृथ्वीसे धान्य और औषधियाँ उत्पन्न होती हैं। परन्तु जब राजा दंडनीतिके अनुसार आधे ही काम करता है, तब द्वापर होता है। उस समय जोतनेसे भी पृथ्वीसे आधा ही अन्न उत्पन्न होता है। और जब राजा दंडनीतिका सर्वथा त्याग कर देता है और अपूर्वार्थ प्राप्तिके बिना प्रजा कष्ट पाती है, तब कलियुग होता है। कलियुगमें अधर्म ही रहता है। धर्म कहीं रहता ही नहीं। सब वर्णोंका मन धर्मसे हट जाता है। शूद्र भिक्षा माँगकर और ब्राह्मण सेवा करके खाते हैं। न नये अर्थका आगम होता है और न पुरानेकी रक्षा होती है। लोग वर्णसंकर हो जाते हैं। वैदिक कर्म गुणरहित होते हैं। ऋतुएँ सुखदायक नहीं होतीं और लोग रोगी रहते हैं। मनुष्योंकी वाणी, वर्ण और मनका ह्रास होता है। विधवाएँ होती हैं और प्रजा निष्ठुर हो जाती है। राजा जब रक्षा नहीं करता, तब रसोंका क्षय होता है। राजा ही कृतयुग, त्रेता, द्वापर और कलियुगको उत्पन्न करता है।[1]

इसलिये जो राजा कृतयुगका प्रवर्त्तन करता है, वास्तवमें वही राजा कहाने योग्य है। जो धर्मशील नहीं है, वह राजा नहीं है। इसी कारण राजा

---

१ कालो वा कारणं राज्ञो राजा वा कालकारणम्।
इति ते संशयो माभूद्राजा कालस्य कारणम्॥ ७९॥

नीतिमान् राजा ही सच्चा राजा है।

दो प्रकारके बताये गये हैं एक धर्मशील वा नीतिमान् और दूसरा अधर्मशील वा अनीतिमान्। नीतिमान् राजा तो भली भाँति आराधना योग्य है। परन्तु अनीतिमान् दुराराध्य—कठिनाईसे आराधना योग्य होता है। जहाँ नीति और बल दोनो होते हैं, वहाँ तो सर्वतोमुखी लक्ष्मी रहती

दंडनीत्या यथा राजा सम्यक् कार्त्स्न्येन वर्त्तते।
तदा कृतयुगं नाम काल सृष्टं प्रवर्त्तते ॥ ८० ॥
ततः कृतयुगे धर्मो नाधर्मो विद्यते क्वचित्।
सर्वेषामेव वर्णानां नाधर्मो रमते मनः ॥ ८१ ॥
योगक्षेमः प्रवर्त्तन्ते प्रजानां नात्र संशयः।
वैदिकानि च सर्वाणि भवन्त्युत गुणान्युत ॥ ८२ ॥
ऋतवश्च सुखा सर्वे भवन्त्युत निरामयाः।
प्रसीदन्ति नराणां स्वरवर्णमनांसि च ॥ ८३ ॥
व्याधयो न भवन्त्यत्र नाल्पायुर्दृश्यते नरः।
विधवा न भवत्यत्र कृपणो न तु जायते ॥ ८४ ॥
अकृष्टपच्या पृथिवी भवन्त्योषधयस्तथा।
त्वक्पत्रफलमूलानि वीर्यवन्ति भवन्ति च ॥ ८५ ॥
नाधर्मो विद्यते तत्र धर्म एवं तु केवलम्।
इति कार्त्तयुगानेतान् धर्मान् विद्धि युधिष्ठिर ॥ ८६ ॥
दंडनीत्या यथा राजा त्रीनंशाननुवर्त्तते।
चतुर्थमंशमुत्सृज्य तदा त्रेता प्रवर्त्तते ॥ ८७ ॥
अशुभस्य चतुर्थोऽशस्त्रीनंशाननुवर्त्तते।
कृष्टपच्यैव पृथिवी भवन्त्योषधयस्तथा ॥ ८८ ॥
अर्द्धन्त्यक्त्वा यदा राजा नीतिधर्ममनुवर्त्तते।
ततस्तु द्वापरं नाम स कालः सम्प्रवर्त्तते ॥ ८९ ॥

है। अनीति राजाका बड़ा भारी दोष है, जो नित्य ही भयावह है। वह शत्रुका बढ़ानेवाला और बलका नाश करनेवाला होता है। जो राजा नीतिका त्याग कर स्वतन्त्र हो जाता है, वह दुःखका भागी होता है। स्वतन्त्र राजाकी सेवा करना तलवारकी धार चाटनेके समान है।[1]

धार्मिक राजाको ही यथार्थ वा देवांश राजा कहते हैं। महाभारतमें कहा गया है कि जिसमें धर्म विराजता है, वही राजा कहाता है।[2] परन्तु

अशुभस्य यदा त्वर्द्धं द्वावंशाननुवर्त्तते ।
कृष्णपच्यैव पृथिवी भवत्यर्द्धफला तथा ॥ ९० ॥
दंडनीतिं परित्यज्य यदा कार्त्स्न्येन भूमिपः ।
प्रजा क्लिशनात्ययोगेन प्रवर्त्तेत तदा कलिः ॥ ९१ ॥
कलावधर्मो भूयिष्ठं धर्मो भवति न क्वचित् ।
सर्वेषामेव वर्णानां स्वधर्माच्च्यवते मनः ॥ ९२ ॥
शूद्रा भैक्ष्येण जीवन्ति ब्राह्मणाः परिचर्यया ।
योगक्षेमश्च नाशश्च वर्त्तते वर्णसङ्करः ॥ ९३ ॥
वैदिकानि च कर्माणि भवन्ति विगुणान्युत ।
ऋतवो न सुखास्सर्वे भवन्त्यामयिनस्तथा ॥ ९४ ॥
ह्रसन्ति च मनुष्याणां स्वरवर्णमनांस्युत ।
व्याधयश्च भवन्त्यत्र म्रियन्ते च गतायुषः ॥ ९५ ॥ शान्तपर्व अ० ६९

१ स्वाराध्यो नीतिमान् राजा दुराराध्यस्त्वनीतिमान् ।
यत्र नीतिबले चोभे तत्र श्रीस्सर्वतोमुखी ॥ १७ ॥
अनीतिरेव संछिद्रं राज्ञो नित्यं भयावहम् ।
शत्रुसंवर्द्धनं प्रोक्तं बलह्रासकरम्महत् ॥ १५ ॥
नीतिं त्यक्त्वा वर्त्तते यः स्वतंत्रः स हि दुःखभाक् ।
स्वतंत्र प्रभुसेवा तु ह्यसिधारावलेहनम् ॥ १६ ॥ शुक्रनीतिसार अ० १

२ यस्मिन् धर्मो विराजते तं राजानं प्रचक्षते ॥ १४ ॥ शां० अ० ९०

देवांश और राक्षसांश राजा

शुक्रनीतिसार स्पष्ट ही कहता है कि जो धार्मिक राजा है, वही देवांश राजा है और जो अधार्मिक राजा होता है; वह राक्षसांश राजा माना जाता है। वह धर्मलोपी और प्रजापीड़क होता है। जो राजा दमनशील, शूर तथा शस्त्रास्त्रके व्यवहारमें कुशल, शत्रुका नाश करनेवाला, अस्वतंत्र, बुद्धिमान्, ज्ञानविज्ञानयुक्त, नीचोंसे रहित, दीर्घदर्शी, वृद्धसेवी, नीतिनिपुण और गुणियोंसे युक्त हो, वही राजा देवांश है। इसके विपरीत बातें जिसमें पायी जायं, वह राक्षसांश राजा नरकगामी होता है।[1]

सत्त्व, रज और तम इन तीन गुणोंके आधारपर भी शुक्रनीतिसारने राजाओंके उत्तम, मध्यम और अधम ये तीन और भेद किये हैं। जो राजा

गुणानुसार राजाओंके भेद शुक्रनीतिसारके मतसे

स्वधर्मनिष्ठ, प्रजाका परिपालक, सब यज्ञोंका कर्त्ता, विषयोंमें अनासक्त, शत्रु दलका जीतनेवाला, दानवीर, क्षमाशील, शूर और निर्लोभ होता है, वह सात्त्विक राजा देहान्त होनेपर मोक्ष पाता है। इसके विपरीत तामस राजा होता है। वह निर्दय, हिंसाप्रिय, मदोन्मत्त तथा सत्यशून्य होता है और अन्तमें नरक जाता है। जो पाषंडी, लोभी, विषयी, ठग, शठ, भीतर कुछ और बाहर कुछ, कलहप्रिय, नीचसंगी, स्वेच्छाचारी, नीतिहीन और पेटका कपटी होता है, वह रजोगुणी वा राजस राजा होता है। और भी, स्वधर्माचरणत्यागी, निर्दय, परिपीड़क,

---

१ यो हि धर्मपरो राजा देवांशोऽन्यश्च रक्षसाम् ।
अंशभूतो धर्मलोपी प्रजापीड़ाकरो भवेत् ॥ ७० ॥ अ० १
दान्तः शूरश्च शस्त्रास्त्रकुशलोऽरिनिषूदनः ।
अस्वतंत्रश्चमेधावी ज्ञानविज्ञानसंयुतः ॥ ८४ ॥
नीचहीनो दीर्घदर्शी वृद्धसेवी सुनीतियुक् ।
गुणिजुष्टस्तु यो राजा स ज्ञेयो देवतांशकः ॥ ८५ ॥
विपरीतस्तु रक्षोंशः स वै नरकगोजनः ॥८६॥ ८६ अ० १

प्रचण्ड, नित्यहिंसक और अविवेकी राजा म्लेच्छ होता है। जो राजा झूठे गुप्तचरको दण्ड नहीं देता, वह प्रजाका धन और प्राण हरण करता है।[1]

जो मनमाना होता है और मंत्रियोंकी सम्मतिसे कार्य नहीं करता, वह स्वतंत्र राजा कहाता है। यह स्वतंत्रता बड़े अनर्थका कारण होती है, क्योंकि शीघ्र ही राष्ट्र फूट जाता है और प्रकृति भी राजाका साथ छोड़ देती है। इस प्रकार वह महापापी राजा समझा जाने लगता है। महापापी राजाके राज्यमें लोग अधर्मी हो जाते हैं। समयपर न तो वर्षा होती है और न भूमि बहुत फलवाली रह जाती है।[2] नारदका वचन है कि जो राजा स्वतंत्र हो जाता है और मन्त्रियोंसे परामर्श किये बिना आप ही

स्वतंत्र राजा राजा नहीं है।

---

१ यो हि स्वधर्मनिरतः प्रजानां परिपालकः।
यष्टा च सर्वयज्ञानां जेता शत्रुगणस्य च॥ ३०॥
दानशौण्डः क्षमी शूरो निःस्पृहो विषयेष्वपि।
विरक्तः सात्त्विको सो हि नृपोऽन्ते मोक्षमन्वियात्॥ ३१॥
विपरीतस्तु तामसः स्यात् सोऽन्ते नरकभाजनः।
निर्घृणश्च मदोन्मत्तो हिंसकः सत्यवर्जितः॥ ३२॥
राजसो दाम्भिको लोभी विषयी वञ्चकश्शठः।
मनसान्यश्च वचसा कर्मणा कलहप्रियः॥ ३३॥
नीचप्रियः स्वतंत्रश्च नीतिहीनाश्छलान्तरः॥३४॥
त्यक्तस्वधर्माचरणा निर्घृणाः परपीड़काः
चंडाश्च हिंसका नित्यं म्लेच्छास्ते ह्यविवेकिनः॥४४॥
असत्यवादिनं गूढचारं नैव च शास्ति यः।
स नृपो म्लेच्छ इत्युक्तः प्रजाप्राणधनापहः॥ ३३६॥ अ० १

२ प्रभुः स्वातंत्र्यमापन्नो ह्यनर्थायैव कल्पते।
भिन्नराष्ट्रं भवेत्सद्यो भिन्नप्रकृतिरेव च॥ ४॥ अ० २
महापापी यत्र राजा तत्राधर्मपरो जनः।

काम करता है, वह निश्चय ही राज्यका नाश करता है।[1] परन्तु शुक्रनीतिसारने तो यहांतक कह दिया है कि जो राजा मन्त्रियोंके मुँहसे हिताहित नहीं सुनता, वह प्रजाका धनहरण करनेवाला राजाके रूपमें डाकू है।[2] इसलिये जबतक राजा धर्मशील रहता है, नीति धर्मके अनुसार प्रजाके साथ व्यवहार करता है, तभीतक वह राजा है; अन्यथा नहीं। इससे विपरीत व्यवहार होनेसे प्रजा, राष्ट्र और राजा तीनो नष्ट होते हैं।[3]

सबसे बड़ी बात तो यह है कि जिस मात्स्यन्यायको नष्ट करनेके लिये राजा की नियुक्ति होती है, वह यदि बना ही रहा, तो फिर उसका प्रयोजन ही क्या!

राजा का व्यवहार प्रजा के साथ कैसा हो?

परन्तु जब राजा दंडनीयको दंड नहीं देता अथवा उसे आवश्यकसे अधिक दंड देता है,[4] वहां मात्स्यन्याय होता है। इसलिये महाभारतमें राजाको बताया गया है कि जो राजा बराबर क्षमा ही किया करता है, उसके सिरपर लोग हाथीके महावतकी तरह चढ़ते हैं। इसमे राजाको चाहिये कि वह नित्य न तो मृदु हो और न तीक्ष्ण हो, वरञ्च वसंत ऋतुके सूर्यकी भांति आचरण रखे, जो न शीत करता है और न पसीना ही निकालता है।[5]

न कालवर्षी पर्जन्यस्तत्र भूर्न महाफला ॥१५८॥
जायते राष्ट्रह्रासश्च शत्रुवृद्धिर्धनक्षयः ॥१५९॥ शु० नी० अ० ४

१ यः स्वतंत्रो भवेद्राजा सचिवान्नैव पृच्छति।
स्वयं कृत्यानि कुर्वाणः स राजा नाशयेद् ध्रुवम् ॥ नारदः

२ हिताहितं न शृणोति राजा मंत्रिमुखाच्च यः ॥ २४७ ॥
स दस्यू राजरूपेण प्रजानां धनहारकः ॥२४८॥ अ० २

३ यावत्तु धर्मशीलः स्यात्स नृपस्तावदेव हि।
अन्यथा नश्यते लोको राड् नृपोऽपि विनश्यति ॥ ११० ॥ अ० ४

४ दण्ड्यं दण्डयति नो यः पापदण्डसमन्वितः।
तस्य राष्ट्रे न सन्देहो मात्स्यो न्यायः प्रकीर्तितः ॥ गुरुः

५ क्षममाणं नृपं नित्यं नीचः परिभवेज्जनः।
हस्तियन्ता गजस्येव शिर एवारुरुक्षति ॥ ३९ ॥

और भी कुछ कारण हैं जिनसे राजा और प्रजामें अनबन हो जाती है और प्रजा राजाको त्याग देती है। ये हैं राजाकी कृपणता, उसके द्वारा प्रजाका अपमान, प्रजासे उसका छल परुषवचन और प्रबल दंड।[1] इस स्थितिमें मन्त्रियोंका विशेष कर्त्तव्य है। वह यह कि वे राजाको डांट दें कि नित्य अनुचित और प्रबल दंड देनेसे राजाकी रक्षा नहीं हो सकती और राजा-प्रजाका हित जिन कामोंसे हो, वे करावें और जिनसे न हो, वे न करावें। परन्तु यदि राजा इसपर भी न माने और अधर्मशील बना ही रहे, तो प्रजा उसके अतिबली धर्मशील शत्रुके आश्रयसे उसे डरावे।[2]

राजा-प्रजामें अनबनके कारण

राजा राज्यकार्यके सिवा अदण्ड्य नहीं है। वह तभी तक अदण्ड्य है, जबतक धर्मशील है। परन्तु जब अधर्मशील होकर अपराध करता है, तब अधिक दंडका भागी होता है। मनुस्मृतिमें कहा गया है जिस अपराधके लिये साधारण प्रजापर एक कार्षापण दण्ड लगाया जाता है, उसके लिये राजापर एक सहस्र कार्षापण लगाना चाहिये।[3]

अधर्मशील राजा ही दण्ड्य है।

तस्मान्नैव मृदुर्नित्यं तीक्ष्णो नैव भवेन्नृपः।
वसन्तार्क इव श्रीमान्न शीतो न च घर्मदः ॥ ४० ॥ शां अ० ५६

१ अदानेनापमानेन छलाच्च कटुवाक्यतः।
राज्ञः प्रबलदंडेन नृपं मुञ्चति वै प्रजा ॥ १३६ ॥ अ० १

२ अन्यथादण्डकं भूपं नित्यं प्रबलदण्डकम् ॥ ३६२ ॥
निगृह्य बोधयेत्सम्यगेकान्ते राज्यगुप्तये।
हितं राज्ञश्च लोकानां यदहितं तन्न कारयेत् ॥३६३॥ अ० २
अधर्मशीलो नृपतिर्यदा तं भीषयेज्जनः।
धर्मशीलातिबलवद्रिपोराश्रयतः सदा ॥ १०६॥ शु० नीतिसार अ० ४

३ कार्षापणं भवेद्दण्ड्यो यत्रान्यः प्राकृतो जनः।
तत्र राजा भवेद्दण्ड्यः सहस्रमिति धारणा ॥ ३३६ ॥ अ० ८

रामायणमें वाल्मीकि मुनिने राजाको प्रजाकी अकाल मृत्युके लिये भी दोषी ठहराया है। कहा है कि यथारीति पालित न होनेसे प्रजा राजाके दोषसे विपत्तिमें फँसती है और राजाके अनुचित आचरणसे प्रजाकी अकाल मृत्यु होती है।[1] इसमें अनुचित कुछ भी नहीं हैं, क्योंकि जब प्रजाका स्वास्थ्य ठीक नहीं होता, तभी मृत्यु-संख्या बढ़ती है और प्रजा अकालमें जवानीमें ही मर जाती है। राजाको प्रजा जिन कामोंके लिये चुनती है, उनमें स्वास्थ्यरक्षा भी एक है,इसलिये अकाल मृत्युके लिये राजाको उत्तरदायी ठहराना ठीक ही है। याज्ञवल्क्य एक और कामके लिये भी राजाको उत्तरदाता ठहराते हैं। वह यह है कि जब राजा प्रजाकी रक्षा नहीं करता और अरक्षित प्रजा जब पाप करती है, तब उस पापका आधा भाग राजाका होता है, क्योंकि उससे यह कर लेता है।[2] प्रजा राजाको इसीलिये कर देती है कि वह उसकी रक्षा करेगा और जब वह रक्षा नहीं करता, तब वेतन लेकर भी काम न करनेवालेकीसी उसकी स्थिति हो जाती है। इसके साथ ही यदि वह राजा बिना आगापीछा सोचे मोह वा अज्ञानके कारण अपने राष्ट्रका कर्षण वा उत्पीड़न करता है, तो वह शीघ्र राज्यसे ही नहीं भ्रष्ट हो जाता, प्रत्युत जीवन और बान्धवोंसे भी चला जाता है।[3] ऐसा ही अधार्मिक राजा गुणियों, नीति और बल वा सेनाका द्वेषी होता है। ऐसे राष्ट्र-विनाशक राजाको प्रजा त्याग दे और उसकी जगह पुरोहित उसीके कुलके गुणयुक्त राजाको प्रकृतिसे परामर्श करके राज्यरक्षाके लिये सिंहासनपर

प्रजाकी अकालमृत्यु और उसके पापोंका उत्तरदाता राजा है

---

१ राजदोषै विंपद्यन्ते प्रजाह्यविधिपालिताः।
असद्वृत्ते हि नृपतौ अकाले म्रियते जनः ॥१६॥ सर्ग ६८ उत्तरकांड

२ अरक्ष्यमाणाः कुर्वन्ति यत्किञ्चित्किल्विषं प्रजाः।
तस्माच्च नृपतेरर्द्धं यस्मात् गृह्णात्यसौ करान् ॥१॥

३ मोहाद्राजा स्वराष्ट्रं यः कर्षयत्यनवेक्षया।
सोऽचिराद् भ्रश्यते राज्याज्जीविताच्च सबान्धवः ॥१११॥ मनुस्मृति अ० ७

बैठा दे।[1] कौटिल्य जैसे साम्राज्यवादीको भी यह अवस्था सह्य न थी, इसलिये उन्होंने कहा कि प्रकृतिका कोप सब कोपोंसे बड़ा है।[2]

परन्तु महाभारतको इतनेसे ही सन्तोष नहीं हुआ। उसकी दृष्टिमें राजाका प्रजाकी रक्षा न करना, उत्पीड़नद्वारा उसे मारना, धर्मका लोप करना और नेतृत्व न करना ऐसे अपराध हैं, जिनके लिये भीष्म राजाको कठोरसे कठोर दण्ड देनेको कहते हैं। उनका कहना है कि ऐसे उत्पीड़क राजाको प्रजा सन्नद्ध होकर मार डाले। यही नहीं, वे और भी कहते हैं कि जो राजा यह कहकर कि मैं रक्षा करूँगा, प्रजाकी रक्षा नहीं करता, प्रजाको चाहिये कि एकत्र होकर उसे पागल कुत्तेकी तरह मार डाले।[3]

अधार्मिक राजाके लिए दण्ड व्यवस्था

महाभारतके इस उपदेशके अनुसार प्रायः काम नहीं हुआ, क्योंकि प्रजा दण्डनीतिकी उपेक्षा करती थी। प्राचीन कालमें वेन, नहुष, सुदास, यावनि, सुमुख और निमि राजा अविनयके कारण नष्ट हुए थे सही, परन्तु ऐतिहासिक युगमें भी कई अधार्मिक राजाओंको इस रूपमें अपने पापोंका प्रायश्चित करना पड़ा। ईस्वी सन्से ६०२ वर्ष पहले मगधके

ऐतिहासिक राजाओंको दण्ड

---

२ गुणनीतिबलद्वेषी कुलभूतोऽप्यधार्मिकः ॥२६४॥
नृपो यदि भवेत्तन्तु त्यजेद्राष्ट्रविनाशकम्।
तत्पदे तस्य कुलजं गुणयुक्तं पुरोहितः ॥२६५॥
प्रकृत्यनुमतिं कृत्वा स्थापयेद् राज्यगुप्तये। २६४-२६५ शु० नीतिसार अ० २

३ प्रकृतिकोपो हि सर्वकोपेभ्यो गरीयान्।

४ अरक्षितारं हर्त्तारं विलोप्तारमनायकम्।
तं वै राजकलिं हन्युः प्रजाः सन्नह्य निर्घृणम् ॥३२॥
अहं वो रक्षितेत्युक्त्वा यो न रक्षति भूमिपः।
स संहत्य निहन्तव्यः श्वेव सोन्माद आतुरः ॥३३॥
अनुशासन पर्व अ० ६१

अधार्मिक राजा नागदशकको प्रजाने ही निकाल बाहर किया था, क्योंकि इसने अपने पिताको मार डाला था। प्रजाने नागदशकके वंशको पितृघाती ठहराया था, क्योंकि इसी वंशके राजा अजातशत्रुके पुत्र उदयभङ्कोने (उदयभद्रकने) विश्वासघातपूर्वक अपने पिताका बध किया था। उदयभद्रककी जगह प्रजाने ही शिशुनागको मगधकी गद्दीपर बैठाया था। ईस्वी सन्से पहले १९१ से १८५ वर्ष तक अन्तिम मौर्य सम्राट् वृहद्रथने राज्य किया था, परन्तु प्रतिज्ञादुर्बल होनेके कारण मार डाला गया था।

राजाकी मनमानीका कुफल

राजाओंके अधार्मिक हो जाने और प्रजाके अपने अधिकारों और कर्त्तव्यों अथवा दण्डनीतिका विस्मरण हो जानेके कारण प्रजा उनके अत्याचारोंका बहुत प्रतिकार न कर सकी। राजा और प्रजा दोनोंने समझ लिया कि राज्यका स्वामी राजा है, इसलिये राजा मनमानी करने लगा और प्रजा अपनी भ्रान्त धारणाके कारण उसे सहती रही। यदि वह याद रखती कि राज्य प्रजाका होता है, राजा उसका रक्षक मात्र रहता है और इस रक्षाके लिये करके रूपमें वेतन पाता है, तो यह दशा न होने पाती और सम्भवतः देश भी परतंत्र न होता; क्योंकि उस समय देशकी रक्षा करना राजा और उसकी सेनाका ही कर्त्तव्य न रहता, प्रत्युत प्रजाका भी होता और इससे किसी आक्रमणकारीको हमारे ऊपर चढ़ाई करनेका साहस ही न होता।

---

६ मंत्रियोंकी शासन-व्यवस्था

हिन्दू राजनीतिके किसी आचार्यने राजाको स्वतंत्र नहीं माना और सभी-ने उसे मंत्रियोंके अनुसार चलनेको कहा है। शुक्रनीतिसारका तो कहना है कि राजा चाहे सब विद्याओंमें कुशल और सुमंत्रका ज्ञाता ही क्यों न हो, परन्तु मंत्रियोंके बिना अकेले कभी अर्थकी चिंता या विचार न करे। सदा सभ्य, अधिकारी, प्रकृति और सभासदोंके मतानुसार कार्य करे; परन्तु बुद्धिमान् राजा कभी अपनी ही बुद्धिसे कार्य न करे। कारण यह कि जब राजा मनमानी करने लगता है, तब अनर्थ कर डालता है।[1] यही मत नारदका भी है। महाभारतमें भी राजाकी परतंत्रता ही घोषित की गयी है। कहा गया है कि राजा सदा परतंत्र है; सन्धि विग्रहमें उसकी स्वतंत्रता कहाँ है? मंत्रणा अमात्योंके साथ होती है, उसकी स्वतंत्रता कहाँ है?[2]

राजा सदा परतंत्र ही होता है

कौटिल्यने अमात्य और मंत्रीमें भेद माना है। उनका मत है कि कार्य करनेकी शक्ति और बुद्धि आदि गुण देखकर तथा देशकालका विचार

---

१ सर्वविद्यासु कुशलो नृपो ह्यपि सुमंत्रवित्।
मंत्रिभिस्तु बिना मंत्रं नैकोऽर्थं चिन्तयेत्कचित् ॥२॥
सभ्याधिकारि-प्रकृति-सभासत्सु मते स्थितः।
सर्वदा स्यान्नृपः प्राज्ञः स्वमते न कदाचन ॥३॥
प्रभुः स्वातंत्र्यमापन्नो ह्यनर्थायैव कल्पते।
भिन्न राष्ट्रो भवेत्सद्यो भिन्ना प्रकृतिरेवच ॥४॥ अ० २

२ परतंत्रः सदा राजा स्वल्पेष्वपि प्रसजते।
सन्धिविग्रहयोगे च कुतो राज्ञः स्वतंत्रता? ॥१३८॥
मंत्रे चामात्य सहितौ कुतस्तस्य स्वतंत्रता? ॥१३९॥ शां० अ० ३२०

मंत्रिमंडल और मंत्रिपरिषद् में भेद

करके राजा सहाध्यायीको अमात्य तो बनावे, पर मंत्री न नियुक्त करे।[1] अवश्य ही मंत्रीसे प्रधान मंत्री ही समझना चाहिये, जो बहुधा सान्धि-विग्रहिक भी होता था। परंतु क्या अमात्यसे मंत्रणा नहीं की जाती थी? क्या वह मंत्रिपरिषद्का अंग नहीं होता था? वास्तवमें मंत्रणा के दो प्रकार थे, एक अंतरङ्ग मंत्रणा और दूसरी बहिरङ्ग मंत्रणा। मंत्रिपरिषद् में राज्यके संबंधके सभी विषयोंपर विचार होता था, परन्तु गुप्त मंत्रणाके लिये अलग व्यवस्था थी। जैसे इंगलैण्डके सभी मन्त्री कैबिनेटके मेम्बर नहीं होते, वैसे ही मन्त्रिपरिषद्के सभी सदस्योंसे अंतरङ्ग परामर्श वा मन्त्रणा नहीं होती थी। अमात्य मन्त्रि-परिषद्का सदस्य तो होता था, पर अन्तरङ्ग सभामें नहीं जा सकता था, यही कौटिल्यकी व्यवस्थासे सिद्ध होता है। अथवा मन्त्रिपरिषद्में मन्त्री आपसमें राजकार्यपर विचार करते होंगे और मन्त्रिमंडलमें राजा मन्त्रियोंके साथ मन्त्रणा करता होगा। अर्थात मन्त्रिमडल कैबिनेट और मन्त्रिपरिषद् कौंसिल आव मिनिस्टर्स समझी जाती होगी। यह भी सम्भव है कि केबिनेटके अन्तर्गत एक भीतरी मंत्रिमंडल वा इनर कैबिनेट होता हो।

मनुस्मृतिमें पुरोहितका विशेष उल्लेख नहीं है। परन्तु जातकों और धर्म-सूत्रोंमें बताया गया है कि वह धर्म और नीतिका ज्ञाता होता था। दूतको

युवराज भी मन्त्री ही होता था।

मनुस्मृतिमें आवश्यकतासे अधिक महत्व दिया गया है, क्योंकि उसके अनुसार इसके अधीन सन्धि और विग्रह होता था। परन्तु 'दूत और चर व्यवस्था' शीर्षक प्रकरण-से जाना जायगा कि दूतकी शक्तिके बाहरकी यह बात थी। दूतकी सूचनापर राजा सन्धि वा विग्रहका बहुत कुछ निश्चय करता होगा सही, पर उसका वास्तविक निर्णायक सान्धि-विग्रहिक वा परराष्ट्रसचिव ही होता होगा। मनुस्मृतिकी बात यदि मान लें, तो दूतको दूत नहीं, परराष्ट्र-

---

१ विभज्यमात्यविभवं देशकालौ च कर्म च।
अमात्याः सर्व एवैते कार्याः स्युर्न तु मंत्रिणः ॥३३॥ अधि० १ अ० ८

सचिव समझना होगा। शुक्रनीतिसारमें अर्थमन्त्रीका नाम सुमन्त्र बताया गया है, परंतु गोविन्दराज उसे 'अर्थसंचयकृत' कहते हैं। अर्थशास्त्रमें यह काम समाहर्त्ता और सन्निधाताके अधीन रखा गया है। सेनापति अवश्य युद्धमन्त्री होगा। शुक्रनीतिसारमें वह सचिव बताया गया है। युवराजकी गिनती यद्यपि मन्त्रियोंमें नहीं होती, तथापि चन्द्रगुप्त मौर्यके समयमें शासक-मंडलमें उसका चौथा स्थान था। वैदिक साहित्यमें युवराज शब्द नहीं मिलता, क्योंकि उस समय-तक तो वंशानुक्रमके अनुसार राजघरानोंकी स्थापना ही नहीं हो पायी थी। परन्तु वाल्मीकिने रामायणमें और कौटिल्यने अर्थशास्त्रमें उसको महत्व दिया है और शुक्रनीतिसार तो इस प्रकार युवराज बनानेको कहता है, मानो उसके बिना काम ही न चलता हो। वह कहता है कि राजा अपने औरस पुत्र, छोटे भाई, चाचा वा बड़े भाईके बेटे, पुत्र वा पुत्र बनाये हुए दत्तकको युवराज बनावे। इनके अभावमें नाती वा दौहित्र वा अपने किसी प्रियको युवराजपद दे, क्योंकि युवराज और मन्त्रियों के बिना राजा बाहु, कानों और नेत्रोंसे हीन होता है।[1] अशोकका पुत्र कुणाल तो तक्षशिलाका शासक था, परन्तु पौत्र सम्पदि युवराज था। इससे जान पड़ता है कि मौर्योंके समयमें युवराजका अभिषेक आवश्यक समझा जाने लगा था। जैसे इंगलैंडमें राजाके अभिषेकके साथ ही युवराज वा प्रिन्स आव वेल्सका निश्चय कर लिया जाता है, वैसे ही उस समय युवराज का

---

१ बाहुकर्णाक्षिहीनः स्याद्विना ताभ्यामतो नृपः।
योजयेच्चिन्तयित्वा तौ महानाशाय चान्यथा ॥१३॥
मुद्रां विनाखिलं राजकृत्यं कर्त्तुं क्षमं सदा।
कल्पयेद्युवराजार्थमौरसं धर्मपत्निजम् ॥१४॥
स्वकनिष्ठं पितृव्यं वानुजं वाग्रजसम्भवम्।
पुत्रं पुत्रीकृतं दत्तं यौवराज्येऽभिषेचयेत् ॥१५॥
क्रमादभावे दौहित्रं स्वस्त्रीयं वा नियोजयेत्।
स्वहितायापि मनसा नैतान्सङ्कर्षयेत्कचित् ॥१६॥ अ० २

अभिषेक होता होगा। मन्त्री प्रधान मंत्री ही था, क्योंकि जहाँ कौटिल्यने अधिकारियोंका वेतन निश्चित किया है, वहाँ मन्त्री, पुरोहित, राजमहिषी और राजमाताको एकसा वेतन पानेवालोंमें रखा है तथा मन्त्रिपरिषद्का वेतन मन्त्रीके वेतनसे बहुत कम निर्धारित किया है। इससे भी मन्त्री और मन्त्रिपरिषद्के सदस्योंमें अन्तर स्पष्ट हो जाता है।

उपयुक्त और युक्त

केवल मन्त्रियोंसे ही राजकार्य नहीं चल सकता, इसलिये उनसे नीचे कई अन्य कर्मचारी रखे जाते थे। ये दो प्रकारके होते थे, एक उपयुक्त और दूसरे युक्त। उपयुक्त तो राज्यके बड़े अधिकारी (Official) होते थे और छोटे अधिकारी युक्त वा आफिसरं कहाते थे। इन्हींको पिछले समयमें कदाचित् तीर्थ कहने लगे हों। उपयुक्त ही विभागोंके अध्यक्ष भी होते थे।

राजाका काम मन्त्रियोंका निर्णय स्वीकार करना भर था।

मन्त्रणाके दो प्रकार थे। जो मन्त्री राजधानी वा पुरमें उपस्थित रहते थे, उनसे तो साथ बैठकर मन्त्रणा कर ली जाती थी और बहुमतसे जो सिद्धान्त होता था, उसीके अनुसार काम होता था। परन्तु जो मन्त्री पुरमें नहीं होते थे, बाहर होते थे अथवा आ नहीं सकते थे, उनसे पत्रद्वारा मन्त्रणा की जाती थी। इसके सिवा नित्यके शासनकार्यके लिये मन्त्रिपरिषद्का अधिवेशन नहीं होता था। किसी विभागके मन्त्रीके सामने कोई प्रश्न आता था; तो वह अन्य मन्त्रियोंको अपना मत लिखकर भेज देता था और वे भी उस विषयपर अपना मत लिख दिया करते थे। अन्तमें जब वह राजाके हाथमें पहुँचता था, तब उसपर सबके अनुकूल मत देखकर वह उसे स्वीकार कर लेता था और उसपर 'स्वीकृत' लिख देता था। इस प्रकार वह राजा और मन्त्रिपरिषद् दोनोका निर्णय समझा जाता था। शुक्रनीतिसारमें विशद रूपसे इस व्यवस्थाका जो वर्णन मिलता है, उससे जाना जाता है कि पहले मन्त्री वा प्रधान-मन्त्री, प्राड्विवाक, पण्डित और दूत लेख वा प्रस्तावको

देखकर यदि अनुकूल समझते, तो उसपर लिखते 'स्वाविरुद्धंलेख्यं' अर्थात् जो लेख्य वा प्रस्ताव है, वह हमारे प्रतिकूल नहीं है। अनन्तर अमात्यके सामने जाता, तो वह लिखता 'साधु लिखितम्' (बहुत ठीक) और फिर सुमन्त्र लिखता 'सम्यग् विचारितं' (भलीभाँति विचार किया)। तत्पश्चात् प्रधान लिखता 'सत्यं' (यथार्थ) और प्रतिनिधि लिखता 'अङ्गीकर्त्तुं योग्यं' (अङ्गीकार करने योग्य है), युवराज स्वयं लिखता 'अङ्गीकर्त्तव्यम्' (अंगीकार करने योग्य है)। इसके पश्चात् जब पुरोहित देखता, तो वह लिखता 'लेख्यं स्वाभिमतं चैतत्' (यह प्रस्ताव मुझे पसन्द है)। मतके नीचे हस्ताक्षर भरकर देना यथेष्ट नहीं समझा जाता था, क्योंकि यह भी लिखा है कि सब अपने अपने लेख वा मतके अंतमें अपनी अपनी मुद्रा वा मुहर लगा दें। इसके बाद वह राजाके पास जाय और वह उसपर 'अङ्गीकृतं' लिखकर अपनी मुहर लगा दे। यदि अन्य कार्यमें व्यस्त रहनेके कारण राजा भलीभाँति न देख सके, तो युवराजादि उसका मत लिख दें।

मन्त्रणा कैसे की जाती थी ?

तदुपरान्त सब मन्त्री मिलकर अपनी-अपनी मुहर लगाकर लिखें और राजा भलीभाँति देखनेमें अक्षम हो तो लिख दे 'दृष्टम्' (देखा)।[1] इससे स्पष्ट होता है कि मन्त्रियोंका मत स्वीकार करनेके सिवा राजाके लिये कोई गति ही

---

१ लेखानुरूपे कुर्याद्धि दृष्ट्वा लेख्यं विचार्य च ॥ ३५४ ॥
मन्त्री च प्राड्विवाकश्च पण्डितो दूतसंज्ञकः ।
स्वाविरुद्धं लेख्यमिदं लिखेयुः प्रथमं त्विमे ॥ ३५५ ॥
अमात्यः साधुलिखितमस्त्येतत्प्राग् लिखेदयम् ॥
सम्यग् विचारितमिति सुमंत्रो विलिखेत्ततः ॥३५६॥
सत्यं यथार्थमितिच प्रधानश्च लिखेत्स्वयम् ।
अङ्गीकर्त्तुं योग्यमिति ततः प्रतिनिधिर्लिखेत् ॥३५७॥
अङ्गीकर्त्तव्यमिति च युवराजो विलिखेत्स्वयम् ।
लेख्यं स्वाभिमतं चैतद्विलिखेच्च पुरोहितः ॥३५८॥

नहीं थी। इसमें कोई भूलचूक न हो और किसीको शिकायत न रहे कि मैंने ध्यान नहीं दिया और जल्दीमें सही कर दी, इसलिये मंत्री और राजा के सामने दुबारा वह प्रस्ताव रखा जाता था और जब वह दूसरी बार भी पास हो जाता था, तब उसके अनुसार कार्य होता था।

जिसमें मंत्रियोंके जाने बिना कोई काम न हो इसलिये शुक्रनीतिसारमें कहा गया है कि राजा बिना लिखे किसी कार्यके करनेकी आज्ञा न दे और जो राजा बिना लिखे आज्ञा देता है और जो कर्मचारी बिना लिखी आज्ञा पाये काम करता है, वे दोनो चोर हैं। यही नहीं, राजा स्वतन्त्र नहीं, मन्त्रितन्त्र है यह दिखानेको शुक्रनीतिसारमें यह भी लिखा है कि राजाके सेवक भी मन्त्रीकी मर्जीसे ही रखे जायँ। यह सिद्धान्त पुराना है, क्योंकि आपस्तम्ब धर्मसूत्रमें लिखा है कि यदि मन्त्री विरोध करें तो राजा ब्राह्मणोंको भी दान न दे।[1] बौद्ध ग्रन्थ दिव्यावदानसे जाना जाता है कि मन्त्रियोंने सचमुच राजाको स्वेच्छासे दान करनेसे रोक दिया था। जब सम्राट् अशोक ने बौद्ध सङ्घ—कुक्कुटाराम विहारको फिर दान देना चाहा, तब अशोकके सुमन्त्र राधगुप्तने उसे रोका। इसने अशोकके युवराज सम्पदिसे कहा कि महाराज अशोक स्वल्पकालके लिये राजा हैं। वे कुक्कुटाराममें धन

मन्त्रियोंके अधिकारों से राजाके अधिकार मर्यादित हुए ?

स्वस्व मुद्राचिह्नितं च लेख्यान्ते कुर्युरेव हि।
अङ्गीकृतमिति लिखेन्मुद्रयेच्च ततो नृपः ॥ ३५९॥
कार्यान्तरस्याकुलत्वात्सम्यग् द्रष्टुं न शक्यते।
युवराजादिभिर्लेख्यं तदानेन च दर्शितम् ॥३६०॥
समुद्रं विलिखेयुर्वै सर्वे मंत्रिगणास्ततः।
राजा दृष्टमिति लिखेद्राक् सम्यग्दर्शनाक्षमः ॥३६१॥ अ० २

१ भृत्यानामनुपरोधेन क्षेत्रं वित्तञ्च दद्याद् ब्राह्मणेभ्यो यथार्हमनन्ताँल्लोकानभिजयति ॥ आपस्तम्ब धर्मसूत्र। २।१०।२६।१

भेज रहे हैं। कोश ही राजशक्ति है। इसलिये उन्हें रोकना चाहिये। सम्पदिने भांडागारिक वा कोशाध्यक्षको धन देनेसे रोक दिया। इसपर अशोकने बहुत घबराकर पौरों और मन्त्रियोंकी सभा बुलायी और पूछा कि इस समय कौन पृथिवीपति है। इसपर प्रधान मन्त्रीने राजाके आसनके पास जाकर उसे प्रणाम करके कहा, 'महाराज, श्रीमान् ही पृथिवीपति हैं।' यह सुन आंसू बहाते हुए महाराज अशोकने कहा कि 'दाक्षिण्य—शिष्टाचारके कारण झूठ क्यों कहते हो? हम तो भ्रष्टाधिराज्य हैं।'[1] इससे सिद्ध होता है कि अशोकके समयतक मन्त्रियोंकी इच्छाके विरूद्ध राजा कुछ नहीं कर सकता था।

राजा स्वामी किस बातका ?

इसी प्रसङ्गमें एक बात और ध्यान देने योग्य है और वह यह कि राजा कभी राज्यका स्वामी नहीं माना जाता था। इसलिये मन्त्रियोंकी अनुमतिके बिना वह भूमि, धन आदिका दान नहीं कर सकता था। प्रश्न किया गया है कि यदि राजा चक्रवर्ती हो, क्या तो भी दान नहीं कर सकता? इसका उत्तर यह मिला कि चक्रवर्त्तित्वसे उसका उत्तरदायित्व बढ़ता है। पर दानकी शक्ति नहीं बढ़ती। मिलिन्द पन्हो (मिलिन्द प्रश्न) नामक बौद्ध ग्रन्थमें कहा गया है कि राजाके अधिकार सङ्कुचित हैं। एक

---

१ तस्मिन्समये कुनालस्य सम्पदि नाम पुत्रो युवराज्ये प्रवर्त्तते। तस्यामात्यैरभिहितम्। कुमार, अशोको राजा स्वल्पकालावस्थायी, इदं च द्रव्यं कुक्कुटारामं प्रेष्यते, कोशबलिनश्च राजानो, निवारितव्यः। यावत् कुमारेण भाण्डागारिकः प्रतिषिद्धः। अथ राजाशोकः संविग्नोऽमात्यान् पौरांश्च सन्निपात्य कथयति। कः साम्प्रतं पृथिव्यामीश्वरः? ततो अमात्य उत्थायासनाद्ऽयेन राजाशोकस्तेनांजलिं प्रणम्योवाच, देव पृथिव्यामीश्वरः। अथ राजाशोकः साश्रुदुर्दिननयनवदनोऽमात्यानुवाच, 'दाक्षिण्यादनृतं हि किं कथयथ, भ्रष्टाधिराज्या वयम्।' दिव्यावदान पृ० ४३०

जातकमें लिखा है कि जब वहाँके राजाकी यक्षिणी रानीने राजासे कहा कि समस्त राज्यके ऊपर मुझे स्वामित्व दे दीजिये, तो उसने उत्तर दिया, 'भद्रे ! ये सकल राष्ट्रवासी मेरे कुछ नहीं होते और न मैं उनका स्वामी ही हूँ। परन्तु जो कोपसे अकर्त्तव्य करते हैं, मैं उनको दंड देने भरके लिये स्वामी हूँ। इसलिये तुम्हें समस्त राष्ट्रका ईश्वरत्व नहीं दे सकता।'[1]

दिव्यावदानके उल्लिखित वर्णनका समर्थन अशोकके शिलालेखसे भी होता है। अशोकने एक बार अपने 'सावकं' (घोषणा वा उपदेश) और 'दापकं'के (दानके) विषयमें आज्ञा प्रचारित की, परन्तु 'परिसा' वा मन्त्रिपरिषद्‌ने विचारकर इसे एक कोने रख दिया। इसपर राजाने आज्ञा दी कि जब मेरी मौखिक आज्ञा रद्द कर दी जाय, तब मुझे उसकी सूचना दे दी जाय।'[2] इससे स्पष्ट होता है कि मन्त्री उस समय राजासे प्रबल थे। कदाचित् मन्त्रियोंका महत्त्व समझकर ही भारद्वाज द्रोणने राजासे बढ़कर मन्त्रियोंको बताया है।

राजाका व्यसन अधिक गरीय है वा मंत्रीका ?

एक प्रश्न था कि राजा और मन्त्रीमें किसका व्यसन अधिक हानिकारक है। गुणोंका विपरीत भाव वा अभाव व्यसन कहाता है। कामन्दकका कहना है कि मनुष्य जिस बड़े इष्ट अर्थसे भ्रष्ट हो जाता है, वह व्यसन कहाता है।[3] दुर्गुणोंके कारण अथवा गुणोंके अभावसे मनुष्यका इष्ट अर्थसे भ्रष्ट होना स्वाभाविक है।

---

१ भद्दे मह्य सकल रट्ठवासिनो न किञ्चि होन्ति नाहं तेसँ सामिको ये पन राजानं कोपेत्वा अकर्त्तव्यं करोन्ति ते सञ्जेवाहं सामिको ति इमना कारणेन सक्का तुह्यं सकलं रट्ठे इस्सरियञ्च आणञ्च दातुंति। जातक फासबायलका संस्करण प्रथम खंड पृ० ३९८

२ इंडियन ऐंटिक्वेरी सन् १९१३ पृ० २८२

३ यस्मात् तद्व्यस्यति श्रेयस्तस्माद् व्यसनमुच्यते।
व्यसत्यधो वा व्रजति तस्मात्तत् परिवर्जयेत् ॥१९॥ सर्ग १४

प्रश्न हुआ कि यदि राजामें गुणोंका अभाव और दुर्गुणोंका सद्भाव हो, तो उससे राष्ट्रकी अधिक हानि होती है या मन्त्रियोंमें होनेसे? भारद्वाजने मन्त्रीका व्यसन इसलिये गर्हित बताया है कि उसके अधिकारमें (अ) मन्त्र (आ) मन्त्रफलकी प्राप्ति, (इ) कार्यका अनुष्ठान, (ई) आय-व्ययका कार्य (उ) सेना और उसका सञ्चालन, (ऊ) शत्रु और वनस्थ जातियोंसे रक्षाकी व्यवस्था, (ए) राज्यरक्षा, (ऐ) दोषोंका प्रतिकार तथा (औ) राजकुमारोंकी रक्षा और पदोंपर उनकी नियुक्ति है।[1] कौटिल्यने राजाका व्यसन इसलिये गरीय ठहराया है कि राजाका जैसा शील होता है, प्रकृतिका भी वैसा ही हो जाता है। इसलिये मुख्य राजा ही है। यह बात माननेकी है, परन्तु फिर भी मन्त्रीका व्यसन बहुत गरीय है इसमें सन्देह नहीं।

कौटिल्यने वेतनकी जो व्यवस्था बतायी है, उनके अनुसार राज्यमें बड़ेसे बड़े योग्य कर्मचारीको जितना वेतन मिलता है, उससे तिगुना राजाको मिलना चाहिये, यदि विद्या और गुणोंमें यह उसके समान हो।[2] इसके बाद मंत्री, ऋत्विक्, आचार्य, पुरोहित, युवराज, राजमाता और राजमहिषी प्रत्येकका वेतन ४८।४८ हजार पण वार्षिक रखा है। मन्त्रिपरिषद्के प्रत्येक सदस्यका वेतन १२।१२ हजार पण है, जिससे जाना जाता है कि इनसे चौगुनी योग्यताका मनुष्य प्रधान मन्त्री होता था। परन्तु दौवारिक, अन्तर्वेशिक, समाहर्ता और सन्निधाताका वेतन मन्त्रिपरिषद्के सदस्यसे दूना रखा है। इससे यही जाना जाता है कि मन्त्रिपरिषद्के सदस्योंका शासनकार्यसे सम्बन्ध न था। होता तो क्या

राजाका वेतन मन्त्रीसे तिगुना

---

१ स्वाम्यामात्य व्यसनयोरमात्यव्यसनं गरीय इति ॥७॥ मंत्रो, मंत्रफलावाप्तिः, कर्मानुष्ठानमायव्यय-कर्मदंडप्रणयनमित्राटवीऽतिषेधोराज्यरक्षणं व्यसनप्रतीकारः कुमाररक्षणमभिषेकश्च कुमाराणामायत्तममात्येषु ॥ अधि० ८ अ० १

२ समानविद्येभ्यस्त्रिगुणवेतनो राजा...। २३॥ अधि ५ प्र० ९१ अ० २

उन्हें दौवारिक आदिसे भी कम वेतन देनेकी व्यवस्था कौटिल्य करते? दौवारिक नगरके मुख्य द्वारका रक्षक और अंतर्वंशिक अन्तःपुर वा रनवासका रक्षक था, परन्तु आयुधाध्यक्ष, समाहर्त्ता और सन्निधाता राज्य-शकटके मुख्य सञ्चालक थे। समाहर्त्ता आदि तो अध्यक्ष कहाते ही थे और कभी कभी उनकी अधीनतामें कार्य करनेवाले युक्त भी अध्यक्ष कहे जाते थे। शुक्रनीतिसारके अनुसार प्रत्येक अधिकार वा विभागपर तीन पुरुष वा मन्त्री नियुक्त होते थे, जिनमें एक मुख्य और दो सहायक होते थे।[1] मुख्य मन्त्री महामात्र कहाता था। दो उपमन्त्री वर्तमान भाषामें अंडर सेक्रेटरी थे। गुप्तकालमें ये ही मन्त्री महाप्रधान, महादण्डनायक, और महासान्धि-विग्रहिक कहाते थे। इनके सहकारी कदाचित् प्रधान, दण्डनायक वा दण्डनायक कुमारामात्य, सान्धिविग्रहिक आदि नामोंसे प्रसिद्ध होते थे। कुमारामात्य, जूनियर मिनिस्टर वा सेक्रेटरी होता था, जैसा उसके नामसे जाना जाता है।

उपर्युक्तोंके कार्य

कौटिल्यकी व्यवस्थामें मन्त्री वा प्रधान मन्त्रीके बाद सबसे बड़ा अधिकारी सन्निधाता प्रतीत होता है। इसीकी जोड़का दूसरा अधिकारी समाहर्त्ता है। सन्निधाता राज्यका प्रधान कोशाध्यक्ष और समाहर्त्ता कर-संग्रहकर्त्ता था। सन्निधाताको जानना चाहिये कि राष्ट्रसे कितनी और किस किस रूपमें आय होती है और राजधानी वा दुर्गसे किस किस रूपमें। कोशगृह (ट्रेजरी), पण्यगृह (स्टोर्स,) कोष्ठागार (खाद्य पदार्थोंका संग्रहालय) कुप्यगृह (जंगली वस्तुओंका संग्रहालय), आयुधागार और बन्धनागार वा जेलकी व्यवस्था इसीके अधीन थी। जहाँ सन्निधाता कोश और उसके आनुषङ्गिक विभागोंका रक्षक, निरीक्षक और व्यवस्थापक था, वहाँ

---

१ एकस्मिन्नधिकारे तु पुरुषाणां त्रयं सदा।
नियुञ्जीत प्राज्ञतमं मुख्यमेकं तु तेषु वै ॥१०६॥ अ० २

समाहर्त्ता कर-संग्रह द्वारा इसके कोशकी वृद्धि किया करता था। इसे बोर्ड आव रेवेन्यूका मुख्य अधिकारी वा सीनियर मेम्बर समझना चाहिये। इनका तथा प्रशास्ताका पद मन्त्रीसे निम्न कोटिका था। प्रशास्ता किसी प्रदेशका शासक वा गवर्नर था।

कौटिल्यने 'उपयुक्त परीक्षा' प्रकरणमें बताया है कि अमात्यकी योग्यताके ही अध्यक्ष नियुक्त करने चाहिये। इससे उपयुक्त अध्यक्ष ही ठहरते हैं। सन्निधाताके अधीन कई विभाग होनेके कारण इन सबके अलग अलग अध्यक्ष वा विभाग के मुखिये थे, जैसे कोशाध्यक्ष, पण्याध्यक्ष, कोष्ठागाराध्यक्ष, कुप्याध्यक्ष, आयुधागाराध्यक्ष, आकराध्यक्ष (खानोंके अध्यक्ष) तथा बन्धनागाराध्यक्ष थे। इसी प्रकार समाहर्त्ताके अधीन शुल्काध्यक्ष (customs offcer) लक्षणाध्यक्ष (survey offcer) मुद्राध्यक्ष (Passport offcer) सुराध्यक्ष (excise offcer), सूनाध्यक्ष (master of the slaughter-house) सूत्राध्यक्ष (yarn officer), गणिकाध्यक्ष (controller of prostitutes), सीताध्यक्ष (director of agirculture), आकराध्यक्ष (director of mines) नावाध्यक्ष (port officer) विवीताध्यक्ष (controller of pasture lands), नगराध्यक्ष (city officer), पौतवाध्यक्ष (officer of weights and measures), सुवर्णाध्यक्ष (gold officer), गोऽध्यक्ष (master of cattle), देवताध्यक्ष (director of temples) सेनापतिका वेतन मन्त्रीके समान बताया गया है। इसका कारण यह है कि सेनापति यथेष्ट वेतन पावेगा, तो काम अच्छा करेगा। कौटिल्यका बड़ा जोर इस बातपर था कि जैसा काम हो, उसीके अनुकूल कर्मकर्त्ता भी हों। इसी कारण इसको मन्त्रीके बराबर वेतन देनेको कहा है। इसके अधीन हस्त्यध्यक्ष, अश्वाध्यक्ष, रथाध्यक्ष और पत्यध्यक्ष थे। आयुधागाराध्यक्ष खर्च-वर्चके मामलेमें तो सन्निधाताके अधीन और हथियार,कवच आदि देनेके मामलेमेंमा

उपयुक्तों के अधिकार

सेनापतिके अधीन था। एक अधिकारी अक्षपटलाध्यक्ष था और बहुत करके यह एकाउंटैन्ट जेनरल था और इसकी शाला वा आफिस अक्षपटल प्रसिद्ध थी। इसके अधीन बहुतसे गाणनिक्य वा एकाउंटैन्ट रहा करते थे। प्रदेष्टा कण्टकशोधन संस्थाका मुख्याधिकारी था और राजकीय अथवा गुरुतर अपराधोंका विचार करता था। महत्त्वपूर्ण कार्य होनेपर भी इसे हस्त्यध्यक्ष आदिके समान ८००० पण वेतन मिलता था। मन्त्रियोंके अधीन इस प्रकार ३२ अधिकारी वा उपयुक्त थे। इनके सिवा और बहुतसे उपयुक्त और युक्त शासनकार्य चलाते थे।

———

७ सङ्घराज्य और राष्ट्रसभा

सप्ताङ्ग राज्यकी कल्पना कितनी पुरानी है यह तो नहीं कहा जा सकता, परन्तु जिन राज्योंमें राजा नहीं होता था, उनमें राजा वा स्वामी राज्यका अंग अवश्य ही न माना जाता होगा। उनमें राज्य के कितने अंग माने जाते थे और इनमें किनका समावेश होता था इसका निर्णय कठिन है, क्योंकि इसकी चर्चा कहीं देखनेमें नहीं आयी, यद्यपि महाभारत, स्मृतियों और कौटिलीय अर्थशास्त्रमें भी ऐसे राज्योंका वर्णन है, जिनमें राजा नहीं होता था। अमरकोशमें सप्ताङ्ग राज्यकी चर्चामें राज्यांग और प्रकृतिका उल्लेख कर 'पौरोंकी श्रेणियाँ' भी कह दिया है।[1] संघराज्योंमें तो, जैसा आगेके वर्णनसे जाना जायगा, राजकार्य चलानेके लिये सभाएं वा संघ होते थे। पौरोंकी श्रेणियाँ राज्योंमें पीछे होने लगी होंगी और जैसा 'पौर और जानपद' प्रकरणसे जाना जायगा, राज्यमें पौर जानपदका विशेष स्थान बन गया था। परन्तु संघराज्योंमें तो सन्थागारों वा राष्ट्रसभाओंका ही पता लगता है।

राज्यांगके साथ पौरोंकी श्रेणी भी।

इस विषयको भलीभाँति समझनेके लिये समूह, संघ, पूग, गण, ग्राम, पौर, जानपद, श्रेणी, नैगम, श्रेष्ठि और कुल शब्दोंके पारिभाषिक अर्थ जान लेना आवश्यक है। समूहका साधारण अर्थ वृन्द वा दल है, परन्तु यह अनियन्त्रित दल नहीं होता था। इसे एक संस्था वा पार्टीका रूप प्राप्त था।। समूह भी कई प्रकारके थे और उनकी संज्ञाएं भी उतने ही प्रकार की थीं। जैसे जैनों और बौद्धोंके समूह संघ कहाते

कई पारिभाषिक शब्द।

१ स्वाम्यमात्य-सुहृत्कोश राष्ट्रदुर्गबलानिच ।
राज्याङ्गानि प्रकृतयः पौराणां श्रेणयोऽपिच ॥

थे; वैश्यों आदिके समूहकी संज्ञा पूग थी, कुलोंके समूहकी गण और पुरवासियोंके समूहकी संज्ञा पौर थी।[१] इसी प्रकारकी संस्था ग्राम वा राजधानीसे इतर नगर वा ग्राम कहाती थी।[२] जनपदकी संस्था जानपद कहाती थी। नैगम व्यापारियोंकी सभा होती थी। पौर जानपदोंके साथ नैगम भी हाथ जोड़े श्रीरामके अभिषेककी प्रतीक्षा करते थे। श्रेणी उन कारीगरोंकी संस्था होती थी, जो एक ही प्रकारकी वस्तुएं बनाते और बेचते थे। कौटिल्यने 'सङ्घवृत्तम्' अधिकरणमें काम्बोज-सुराष्ट्र क्षत्रिय श्रेणी आदिको वार्ताशस्त्रोपजीवी कहा है अर्थात् इनका जीवन निर्वाह वार्ता और शस्त्रद्वारा होता था।[3] इससे जाना जाता है कि श्रेणी भी कोई संस्था होती थी। श्रेष्ठि नगरसेठ होता था और कदाचित् पौरका प्रेसिडेंट वा अध्यक्ष होनेके कारण उसकी संज्ञा श्रेष्ठि थी।

प्राचीनकालमें जिन राज्योंमें राजा नहीं होता था, वे सङ्घराज्य कहाते थे। ये सङ्घ दो प्रकारके थे एक कुलसङ्घ और दूसरे गणसङ्घ। कुलसङ्घ शाक्यों और ऐसे ही अन्य कुलोंके थे। गणसङ्घमें एकाधिक कुलोंके लोग भी

---

१ आर्हत सौगतानां तु समूहः सङ्घ उच्यते। कात्यायन कृत विवादरत्नाकर पृ० ६६६

समूहः वणिजादीनां पूगः परिकीर्त्तितः। विवादरत्नाकर ६६६
कुलानां हि समूहस्तु गणः सम्प्रकीर्त्तितः। वीरमित्रोदय पृ० ४२६
पौरः पुरवासिनां समूहः। वीरमित्रोदय पृ० ११

२ पुर वा नगर राजधानीकी संज्ञा थी। राज्यके इतर नगर ग्राम कहाते थे। शाकल जो किसी समय मद्रकी राजधानी वा पुर था और जिसके नामपर ऋग्वेदकी शाकल संहिता प्रसिद्ध है, पुष्यमित्रके समयमें वाहीक वा पंजाबका साधारण ग्राम रह गया था। वाहीकमें पंजाब और सिन्धु प्रदेशों दोनोका समावेश होता था।

३ काम्बोजसुराष्ट्रक्षत्रियश्रेण्यादयो वार्त्ताशस्त्रोपजीविनः॥ ५॥ अधि० ११ अ० १

कुलसङ्घ और गण सङ्घ तथा इनका समय

होते थे। जिस समय कुलोंके राज्य होते थे, उस समय कुलवृद्ध उनका राजा होता होगा और उसका प्रभुत्व सारे कुलपर रहता होगा। भरत, पाञ्चाल, वैदेह, ऐक्ष्वाकु, आदि ऐसे ही कुल राज्य थे। ये जान-राज्य थे अर्थात् इनके राजाका प्रभुत्व स्वजनोंपरही रहता था। कालान्तरमें पृथिवीपर राजाका प्रभुत्व प्रस्थापित हुआ, जिससे स्वकुलके अतिरिक्त अन्य कुलोंका भी वह राजा हुआ। महाभारतके समयसे बृहद्रथके समयतक अर्थात् ईस्वी सन्से पूर्व ७०० वर्षों तक भारतमें कुल-राज्य ही अधिक थे। अनन्तर दो वा अधिक राज्योंके मेलसे अथवा प्रभुत्वविस्तारकी लालसासे नये और बड़े राज्योंकी उत्पत्ति हुई। जो ऐक्ष्वाकु कुल-राज्य था, वही आगे चलकर दो राज्योंके मेल से एक हो जानेसे काशी-कोशल राज्य कहाने लगा। मगध राज्यमें मगध और अङ्ग मिल गये। इस प्रकार बड़े बड़े राज्यों वा साम्राज्योंकी नीव पड़ी। बुद्ध-देव यद्यपि जन-सत्तावादी थे, तथापि धर्मकी दृष्टिसे वे 'सकल जम्बूद्वीपको' एक राज्य बनाना चाहते थे।

पहले यद्यपि कुलोंका समूह गण कहाता था, तथापि कालान्तरमें अराजक राज्यके लिये गण शब्दका प्रयोग होने लगा। अवदानशतक नामक बौद्ध

राजाओंके राज्यों के साथ ही गण राज्य भी थे।

ग्रन्थसे जाना जाता है कि जब उत्तरके व्यापारी दक्षिण गये, तब दक्षिणके राजाके पूछनेपर कि उत्तरमें कौन राजा है, उन्होंने कहा कि कुछ देश गणाधीन हैं और कुछ राजाधीन हैं। महाभारतमें गणराज्य सभा-तंत्र राज्य अर्थमें आया है और अमरकोशमें गणका अर्थ सहवासियोंकी सभा बताया गया है। पाणिनिने भी सङ्घको गण अर्थ-वाची बताया है। इसलिये सङ्घ और गण पर्यायवाची हैं। परन्तु गण कुलसे बड़ा और दो वा अधिक कुलोंका भी होता था, जैसे अन्धक-वृष्णी सङ्घ अन्धकों और वृष्णियोंका था। वृष्णियोंमें राजा नहीं था, जैसा सभापर्वके ५ वें अध्यायसे जाना जाता है और उनका सङ्घराज्य था यह कौटिल्यकी

इस बातसे सिद्ध है कि प्राचीन कालमें द्वैपायनको असन्तुष्ट करनेके कारण वृष्णि सङ्घका नाश हुआ था।[1] महाभारतसे[2] जाना जाता है कि अन्धक-वृष्णि सङ्घमें दो दल वा वर्ग थे। वृष्णियोंका नेता आहुक और अन्धकोंका अक्रूर था तथा बभ्रु उग्रसेन और श्रीकृष्ण दोनो निर्वाचित सङ्घमुख्य थे। राजाओंकी सभा तो राजक कहाती थी, पर क्षत्रियोंको राजन्यक प्रसिद्ध थी।

पाणिनि और महाभारतकार दोनोने गणोंकी चर्चा की है। महाभारतमें कहा गया है कि उत्सव-संकेत आदि सात पर्वतवासी दस्यु गुणोंको पाण्डव अर्जुनने जीता।[3] वास्तवमें ये गण चोरों वा डाकुओंके नहीं जान पड़ते, वरञ्च पहाड़ियों; यथा मोहमन्दों, वजीरियों आदिके पूर्व पुरुषोंके थे। वे युद्धप्रिय और युद्धजीवी थे और जैसे ब्रिटिश सरकार पहले सीमान्तके पठान कबीलोंको अपनी सेनामें भर्ती कर लेती थी, वैसे ही उस समय भी ये पर्वतवासी वेतन लेकर किसीकी ओरसे लड़नेमें संकोच नहीं करते थे। महाभारतमें कुरुक्षेत्र युद्धका जो वर्णन है, उससे जाना जाता है कि यद्यपि श्रीकृष्ण उस युद्धमें पाण्डवोंकी ओर थे, तथापि उनकी नारायणी सेना कौरवोंकी ओरसे लड़ती थी। कौरव धनी थे, इसलिये वेतन दे सकते थे।

महाभारतमें गणों की चर्चा

गणोंकी विशेषता महाभारतमें यह बतायी गयी है कि इनमें मन्त्रणा नहीं हो सकती, क्योंकि बहुत लोग होते हैं और इसीलिये भेदसे इनका विनाश होता है। ये सब एक जाति और कुलके होते हैं, इसलिये दान और भेदसे ये फूट जाते हैं। ये भेदसे नष्ट होते थे। धनी, शूर तथा शास्त्र और शस्त्र विद्याओंमें पारंगत

गण दण्ड और

---

१ हर्षाद्वातापिरगस्त्यमत्यासादयन् वृष्णिसङ्घश्च द्वैपायनमिति ॥१३॥ अधि० १ अ० ६

२ शान्तिपर्व अध्याय ८१

३ पौरवं युधि निर्जित्य दस्यून् पर्वतवासिनः। गणान् उत्सवसंकेतान जयत सप्त पाण्डवः । १६ सभापर्व अ० २६

होते हैं ।[1] भेदसे सङ्घके नष्ट होनेके विषयमें वज्जीसङ्घका ऐतिहासिक प्रमाण है। कौटिल्यको भी इनकी इस दुर्बलताका ज्ञान अवश्य होगा, नहीं तो सङ्घका लाभ, मित्र और सेनाके लाभसे अधिक मानकर भी वे न कहते कि यदि सङ्घ प्रतिकूल हो, तो भेद और दण्डद्वारा उसका उपयोग करे।[2]

बुद्धद्वारा गणोंकी प्रशंसा तथा उनके पतनके विषयमें भविष्यकथन।

जब मगधके सिंहासनपर अजातशत्रु था, तब उसने गौतम बुद्धसे पूछा था कि वज्जी सङ्घको हम अपने अधीन कैसे करें! इसपर उसके ब्राह्मण मन्त्री वस्सकार या वर्षकारके सामने बुद्धदेवने अपने अग्र-श्रावक आनन्दसे पूछा, 'आनन्द, क्या तुमने सुना है कि वज्जी समय समयपर पूरी सभाएँ करते हैं?' आनन्दने उत्तर दिया 'भगवन्, मैंने ऐसा ही सुना है।' इसपर बुद्धने कहा 'आनन्द, जबतक वज्जी समय समय-पर पूरी सभाएँ करते रहेंगे, मेलसे मिलेंगे और मेलसे ही उठें-बैठेंगे तथा मेलसे ही अपने उत्तरदायित्वका निर्वाह करते रहेंगे, जबतक वे ऐसा नया काम न करेंगे, जो पहलेसे नहीं चला आता और जो चला आता है, उसे बन्द न करेंगे और पुराकालमें संस्थापित वज्जियोंकी संस्थाओंके अनुसार कार्य करते रहेंगे, जबतक वे बड़े बूढ़े वज्जियोंकी प्रतिष्ठा और आदर करते

---

१ भेदमूलो विनाशो हि गणानामुपलक्षये।
मंत्रसंवरणं दुःखं बहूनामिति मे मतिः ॥८॥
न गणा कृत्स्नशो मंत्रं श्रोतुमर्हंति भारत ॥२४॥
अन्योन्यं नाभिभाषन्ते तत्पराभवलक्षणम्।
जात्या च सदृशाः सर्वे कुलेन सदृशास्तथा ॥३०॥
न चोद्योगेनबुद्ध्या वा रूपद्रव्येण वा पुनः।
भेदाच्चैव प्रदानाच्च भिद्यन्ते रिपुभिर्गणाः ॥३१॥
शान्तिपर्व अ० १०७

२ताननुगुणान् भुञ्जीत सामदानाभ्याम् ॥३॥ विगुणान्भेददण्डाभ्याम् ॥४॥ अधि० ११ अ० १

रहेंगे, तबतक वज्जियोंकी अवनतिकी अपेक्षा उन्नतिकी ही आशा है।' यह सुनकर अजात-शत्रुने वज्जी संघपर चढ़ाई करनेका विचार छोड़ दिया। परन्तु इसी प्रसंगमें बुद्धने यह भविष्यद्वाणी भी की थी कि 'भविष्यमें लिच्छिवी सुकुमार होंगे, उनके हाथ पैर नरम होंगे, वे बड़े गुलगुले बिछौनोंपर रुईके मुलायम तकिये रखकर सूर्योदयतक सोया करेंगे। किसी और उपायसे वज्जी जीते न जायँगे, केवल धनसे संतुष्ट किये जा सकेंगे और भेदसे उनका संघ नष्ट किया जा सकेगा।'

वज्जी संघ तोड़नेमें वर्षकारकी चतुरता।

वर्षकारने भेदनीतिसे ही वज्जी संघ तोड़ना निश्चय किया। इसने अजातशत्रुसे कहा कि मन्त्रियोंकी सभा बुलाइये और जब मैं सभाके बीचसे यह कहकर उठ जाऊँ कि 'महाराज' उनसे क्या चाहते हैं? उन्हें अपने राज्यके कृषि-वाणिज्य की व्यवस्था में लगे रहने दीजिये, तब मुझे मारे बांधे बिना मुझपर अभियोग लगाइये कि इसने मन्त्रणामें हस्तक्षेप किया है। आपकी राजधानीकी खाइयां और बुर्ज मैंने ही बनवाये हैं और मैं जानता हूँ कि आपकी किलेबन्दी कहाँ कमजोर और कहाँ मजबूत है। इसलिये वज्जियोंसे कह सकूंगा कि आप जो बाधा खड़ी करेंगे, उसे मैं दूर कर सकूंगा।' निदान अजातशत्रुने वर्षकारके बताये उपायसे कार्य करना निश्चय किया। जब वज्जियोंने अजातशत्रुके यहांसे वस्सकार के प्रस्थानका समाचार सुना, तब कुछने तो कहा कि इसे नदी पार न करने दो, परन्तु औरोंने कहा कि इसने हमारा पक्ष ग्रहण किया है, इससे इसके साथ ऐसा दुर्व्यवहार किया गया है। इसलिये नदीमार्गके रक्षकोंसे कहा कि इसे नदी पार करने दो। इस प्रकार वह वज्जियोंके देशमें प्रवेश करने पाया। वर्षकारने अपने बहिष्कारका सारा ब्योरा बताकर कहा कि मैं अजातशत्रुके यहां प्रधान धर्माधिकारी था, इसलिये वज्जियोंने भी इसे धर्माधिकारीके पदपर प्रतिष्ठित किया। इसने इतनी सुन्दर न्याय-व्यवस्था की कि वज्जी राजकुमार इससे शिक्षा ग्रहण करने लगे।

इस प्रकार वर्षकार जब वज्जियोंका विश्वासपात्र बन गया, तब भेद-नीतिका प्रयोग उसने प्रारम्भ किया। एक दिन उसने एक लिच्छिवी राजा से पूछा कि 'क्या लोग खेत जोतते हैं।' उत्तर मिला, 'हाँ, दो बैलोंसे जोतते हैं।' दूसरी बार एक और लिच्छिवीसे पूछा कि तुम किस तरकारीके साथ खाते हो और उत्तर पाकर तीसरे लिच्छिवीको बता दिया। तीसरी बार एक और लिच्छिवीको किनारे ले जाकर पूछा 'क्या तू बिल्कुल भिखमंगा है?' इसने जब पूछा कि किसने कहा, तो किसी और लिच्छिवीका नाम बता दिया। इस प्रकार इधर-उधर बेसिर-पैरकी बातें फैलाकर वर्षकारने लिच्छिवियोंमें फूट डाल दी। जब भेदनीति सफल हो गयी, तब उसने नियमानुसार भयध्वनि की। लिच्छिवी राजाओंने कहा कि धनियों और वीरोंको एकत्र होने दो; हम तो ग्वाले और भिखमगे हैं। इसपर वर्षकारने आजतशत्रुको कहला भेजा कि 'यही समय है; शीघ्र आइये।' फिर क्या था? अजातशत्रुने डौंडी पिटवा कर सेना इकट्ठीकर धावा बोल दिया। उसका आना सुनकर वज्जियोंने भयध्वनि की और कहा 'हमें राजाको नदी पार न करने देना चाहिये।' परन्तु इसपर भी किसीने ध्यान न दिया। वज्जी एकत्र न हुए और बोले, 'बीर राजा जायँ।' फिर भयध्वनि की गयी और कहा गया, 'हमें राजाको नगरमें प्रवेश न करने देना चाहिये। हमें नगरद्वार बन्द कर आत्मरक्षा करनी चाहिये।' परन्तु सबने सुनी-अनसुनी कर दी। अजातशत्रु खुले हुए द्वारसे घुस गया और वज्जियोंपर बड़ी मुसीबत ढाकर उसी प्रकार अपनी राजधानी राजगृहको लौट आया।

वर्षकारकी भेद नीति काम कर गयी।

परन्तु अजातशत्रुके देहावसान के २०० वर्ष उपरान्त भी कौटिल्यने लिच्छिवी, वृजी, मद्र, कुकुर, कुरु, पाञ्चालको राजशब्दोपजीवी नामसे प्रसिद्ध कहा है।[1] इससे जान पड़ता है कि चन्द्रगुप्तके साम्राज्यके प्रभात-

---

१ लिच्छिविवृजिक-मद्र-कुकुर-कुरु-पांचालादयो राजशब्दोपजीविनः ॥६॥
अधि० ११ अ० १

यवन ग्रन्थोंमें भारतीय प्रजा-तंत्रकी चर्चा।

कालमें भी उक्त जातियोंके सङ्घ थे, चाहे उनका प्राचीन गौरव भले ही नष्ट हो गया हो। यद्यपि इन सङ्घोंकी शासनपद्धतिका कोई क्रमवद्ध वर्णन नहीं मिलता यह खेदकी बात है, तथापि ग्रीकों वा यूनानियोंके लिखे भारत-सम्बन्धी वर्णनोंसे जाना जाता है कि सिकन्दरकी चढ़ाईके पहले और बाद भी भारतमें अनेक गण राज्य थे। सम्राट् चन्द्रगुप्त मौर्यके दरबारमें यवन दूत मेगस्थनीज कुछ समय तक रहा था। इसने और 'एरियन' नामक लेखकने अपने ग्रंथमें लिखा है:—'भारतके लोग डायोनिसाससे सैन्ड्रकोटसतक १५३ राजाओं और ६०४२ वर्षोंका समय मानते हैं, पर इसी बीचमें ३ बार प्रजातंत्र स्थापित हुआ था।..................दूसरी बार ३०० वर्षोंतक और एक बार १२० वर्षोंतक रहा था।[1] भारतवासी कहते हैं कि डायोनिसास हिरेकेल्ससे १५ पीढ़ियों पहले हुआ था।' डायोनिसास कौन था? कोई कोई इसे इक्ष्वाकु कहते हैं, पर स्व० चिन्तामणि विनायक वैद्यका मत था

---

1 From the time of Dionysos to Sandrakottos the Indians counted 153 kings and a period of 6042 years, but among these a republic was thrice established..............and another to 300 years, and another to 120 years.

Ancient India as described by Megasthenes and Arrian p. 208 मेगस्थनीज और एरियन द्वारा वर्णित प्राचीन भारत)

ग्रीक वा यूनानी भाषासे अँग्रजीमें इन लेखकोंके लेखोंका उल्था पटना कालेजके प्रिन्सिपल मैक्रिंडेल साहबने किया है। इस अंशपर आपने यह टिप्पणी दी है:—

कि वह 'दत्त' था। डायोनिसासको यूनानियोंने 'बक्स' लिखा भी है। जब चन्द्रगुप्त सैन्ड्रकोटस हो सकता है, तब 'दत्त' का 'बक्स' बन जाना कौन आश्चर्य है ? हिरेकेल्स-हरिकुलेश वा श्रीकृष्णका नाम माना जाता है। महाभारत अनुशासन पर्वमें दी हुई वंशावलीसे वैद्य महाशयने श्रीकृष्णको दत्तसे १६ वां पुरुष ठहराया भी है। यदि २५ वर्षों की एक पीढ़ी मान ली जाय तो दत्तसे ३७५ वर्षों बाद श्रीकृष्ण हुए थे। अर्थात् दत्तसे ४०० वर्ष बाद श्रीकृष्ण थे। श्रीकृष्ण द्वापरके अन्तमें हुए थे और चन्द्रगुप्त कलि संवत् २७८० में हुआ था। इसलिये दत्तसे चन्द्रगुप्त तक ३२०० वर्ष ही होते हैं। कलि संवत् ईस्वी सन् से ३१०२ वर्ष पहले चला था और चन्द्रगुप्तके अभिषेकका समय ईस्वी सन् ३२२ वर्ष पूर्व माना जाता है। इस हिसाबसे चन्द्रगुप्त तक २८०० वर्ष ही होते हैं। यद्यपि इस हिसाबमें कुछ भूल जान पड़ती है, तथापि इस प्रसंगकी मुख्य बातमें कोई भूल नहीं है अर्थात् यहां प्रजातंत्र थे यह स्वदेशी और विदेशी सभी लेखकोंके लेखोंसे जाना जाता है।

संघोंके तीन युग

अध्यापक विनयकुमार सरकारने अपने ग्रन्थमें लिखा है कि गणतों वा प्रजातंत्रोंके तीन युग थे। एक ईसासे ६०० से ४५० वर्ष पूर्व, दूसरा ईसासे ३५० से ३०० वर्ष पूर्व और तीसरा ईसासे पूर्व १५० वर्षोंसे ईस्वी सन् ३५० तक। इस प्रकार पहले युगमें १५०, दूसरेमें ५० और तीसरेमें ५०० वर्षोंका समय व्यतीत हुआ। पहले युगमें ये ११ गण वा संघराज्य थे:—(१) सुससुमर पहाड़ीके भग्ग, (२) अल्लकप्पाके बुली, (३) केशपुत्तके कालाम, (४) पिप्पलीवनके मोरिया (मौर्य), (५) रामगामके कोलिया

It is not known from what sources Megasthenes derived these figures which are extremely modest when compared with those of Indian chronology.

कुशीनगरके मल्ल, (७) पावा के[1] मल्ल, (८) काशीके मल्ल, (९) कपिलवस्तुके[2] शाक्य, (१०) मिथिलाके विदेह और (११) वेशालीके लिच्छिवी। लिच्छिवी, शाक्य, विदेह, मल्ल आदि आठ जातियोंका संयुक्त संघ वृजिक वा वज्जी संघ कहाता था। इसकी राजधानी वैशाली थी, जो आजकल मुजफ्फरपुर जिलेमें बसाढ़ नामका गाँव है। दूसरे युगके गणोंमें उन्होंने पटल, अराट, मालव, क्षुद्रक, सम्बष्टई, आगलस्सोई और निसाई संघोंका उल्लेख किया है और तीसरे युगके गणोंकी सूचीमें यौधेय, मालव, कुनिन्द और वृष्णि संघ बताये हैं। यौधेयोंका प्रभुत्व पंजाबकी सतलज नदीके दोनों किनारोंपर था, पर प्रभाव यमुनाके पूर्वी किनारे और राजपूतानेके कुछ भागोंपर भी था। मालव चम्बल और वेतवा नदियोंके बीचमें रहते थे। इसके पश्चिममें सिबी लोग थे। यौधेयोंके पूर्व कुनिन्द लोग रहते थे। वृष्णि तो यादवोंकी शाखा मात्र थे, जिसके मुखिया श्रीकृष्ण थे। दूसरे युगमें अराट बहुत प्रसिद्ध थे और ये पंजाबमें रहते थे तथा इन्होंने चन्द्रगुप्तकी बड़ी सहायता भी की थी।

प्रथम युगके गणोंमें शाक्य संघका बड़ा महत्त्व था, क्योंकि गौतम बुद्धने शाक्य जातिमें ही जन्म लिया था। प्रथम युगके सङ्घ प्रायः सभी व्रात्य क्षत्रियोंके थे। गौतमबुद्ध कपिलवस्तुके शाक्य संघके मुखिया शुद्धोदनके पुत्र थे। ये गणपति वा राष्ट्रपति थे और राजा कहाते थे। शाक्योंकी संख्या १० लाख थी और उनका राज्य पूर्वसे पश्चिम तक ५० मील तक लम्बा और हिमालयकी तराई से ३०।४० मील चौड़ा था। राजधानी कपिलवस्तुमें उनका सन्थागार था, जहाँ राजकाज होता था।

प्रथम युगके संघ

---

१ पावा पटने और राजगिरके बीच नालन्दाके पास है।

२ कपिलवस्तु नेपालकी तराईमें है और आज बस्ती जिलेमें भूरला गांव नामसे प्रसिद्ध है। फैजाबादसे २५ मील उत्तर पूर्व, वस्तीसे १२ मील उत्तर पश्चिम और काशीसे १२० मील उत्तर है तथा राजगृहसे ४५० मील वैशालीसे ३७५ मील और श्रावस्तीसे ५०-६० मील है।

गणोंकी शासनपद्धतिका कोई विवरण प्राप्य नहीं है। परन्तु अनुमान है कि लिच्छिवी वा वज्जी संङ्घके आदर्शपर बौद्धसङ्घका संगठन हुआ था।

सङ्घमें प्रस्ताव कैसे होता था?

इसका कारण यह है कि बुद्ध लिच्छिवी वा वज्जी सङ्घकी बड़ी प्रशंसा करते थे और 'महापरिनिब्बाण सुतन्त' से जाना जाता है कि लिच्छिवी सङ्घकी प्रशंसा करके उन्होंने राजगृहके प्रार्थना मन्दिरमें उस नगरके पासके सब बौद्धोंको एकत्र करके समझाया था कि जिन गुणोंकी हमने प्रशंसा की है, वे योगक्षेमकी अभिलाषा रखनेवाले प्रत्येक सङ्गठित सङ्घके लिये अनिवार्य हैं। विनयपिटकके 'पातिमोक्ख' प्रकरणमें उपसम्पदा संस्कारका जो वर्णन है, उससे लिच्छिवी सङ्घके सङ्घटनका कुछ आभास मिलता है। बौद्ध सङ्घमें पहले एक कर्मचारी निर्वाचित किया जाता था, जो 'आसन-पञ्ञापक' (आसनप्रज्ञापक) कहाता था। सबको यथास्थान बैठाना इसका काम था। लिच्छिवी सङ्घमें भी बड़े बूढ़ोंकी प्रतिष्ठा की जाती थी, इसीलिये वहाँ भी आसनपञ्ञापककी नियुक्ति होती होगी। सब लोगोंके यथास्थान बैठ जानेपर जिसे जो प्रस्ताव करना होता था, वह इसकी सूचना देता था। यह सूचना 'नत्ति' (ज्ञप्ति) कहाती थी। नत्तिके उपरान्त प्रस्तावक उपस्थित भिक्खुओंसे पूछता था, 'क्या आप यह प्रास्तव पसन्द करते हैं?' यह प्रश्न एक वा तीन बार किया जाता था। एक बारका प्रश्न 'नत्ति दुतीय कम्म' (ज्ञप्ति द्वितीय कर्म) और तीन बारका 'नत्ति चतुत्थ कम्म' (ज्ञप्ति चतुर्थकर्म) कहाता था। बुद्धदेवने नत्तिका प्रकार भी बताया था। वह यह था कि एक विद्वान् योग्य भिक्खु संघके सामने निम्नलिखित घोषणा करेः—'आदरणीय सज्जनो, संघ सुने, यह पुरुष देवदत्त पूजनीय यज्ञदत्तसे (अर्थात् पूजनीय यज्ञदत्तको उपज्झाय वा उपाध्याय बनाकर) उपसम्पदा लेना चाहता है। यदि संघ प्रस्तुत हो तो वह देवदत्तको यज्ञदत्तसे उपज्झाय रूपसे उपसम्पदा दिला दे यही नत्ति है।' आदरणीय सज्जनो, संघ सुने। यह पुरुष देवदत्त पूजनीय यज्ञदत्तसे उपसम्पदा लेना चाहता है। संघ देवदत्तको यज्ञदत्त उप-ज्झाय द्वारा उपसम्पदा देता है। पूजनीय भाइयोंमें जो देवदत्तको यज्ञदत्त

उपज्झायसे उपसम्पदा मिलनेके पक्षमें हो, वह मौन रहे और जो पक्षमें न हो, वह बोले।' दूसरी और तीसरी बार इसी प्रकार सूचना देकर अन्तमें कहे, 'देवदत्तने संघसे यज्ञदत्त उपज्झाय द्वारा उपसम्पदा प्राप्त की है। संघ इसके पक्षमें है, इसलिये वह मौन है यह मैं समझता हूँ।'

वादग्रस्त विषयोंमें सन्थागार वा सभाभवनमें बड़े झगड़े होते थे और इनका निर्णय करनेके लिये उभयपक्षके मत लिये जाते थे। मतदाताओंको

वोटिंगकी व्यवस्था

वोटिंगपेपरके बदले लकड़ीकी रंगी हुई शलाका दी जाती थी और शलाका संग्रह करनेके लिये एक सच्चा निरपेक्ष मनुष्य समस्त संघ द्वारा चुना जाता था। यह 'शलाकागाहक' (शलाकाग्राहक) कहाता था। शलाकागाहकमें जिन विशेष गुणोंकी आवश्यकता होती थी, वे बुद्धदेवके मतानुसार ये थे :—वह (अ) निरपेक्ष हो, (आ) द्वेषरहित हो, (इ) मूर्ख न हो, (ई) भीत न हो, और (उ) जानता हो कि कौन मत लिये गये हैं और कौन नहीं।' संघके अनुपस्थित सदस्यका मत भी लिया जाता था। इस प्रकारका मत ग्रहण 'छन्द' कहाता था। मत संग्रह करनेकी तीन रीतियाँ भी बुद्धने बतायी थीं, एक गुप्तरीति, दूसरी कानाफूसीकी और तीसरी खुल्लम-खुल्ला। गुप्तरीति यह थी कि मत देनेवाला जब मत संग्राहकके पास जाता था, तब यह भिन्न-भिन्न रंगोंकी शलाकाएँ दिखाकर बताता था कि 'अमुक मतके मनुष्यके लियें यह शलाका है और अमुकके लिये वह। आप जो चाहें ले लें।' जब वह ले लेता था, तब उससे कहा जाता था कि इसे किसीको न दिखाना। कोरमकी भी व्यवस्था थी, जिसका विशेष व्योरा अज्ञात है। कोरम है या नहीं यह देखनेवाला 'गणपूरक' कहाता था।

---

८ राज्यों और राजाओंके भेद

सप्ताङ्ग राज्यमें राजाका स्थान अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। राजाकी महिमा बतानेके लिये महाभारतमें कहा भी गया है कि राजा, भोज, विराट्, सम्राट्, क्षत्रिय, भूपति और नृप शब्दोंसे जिसकी स्तुति की जाती है, उसकी पूजा कौन न करेगा ?[1] इससे जाना जाता है कि ये शब्द पर्यायवाची हैं और राजाका महत्त्व बढ़ानेके लिये इनका प्रयोग किया जाता है। परन्तु क्या इन शब्दोंका वास्तवमें कोई अर्थ नहीं है ? हम जानते हैं कि युधिष्ठिरने राजसूय यज्ञ किया था जिससे उन्हें सम्राट् पदकी प्राप्ति हुई थी। मत्स्य देशके राजा विराट् कहाते थे, जो युधिष्ठिरकी अपेक्षा प्रतिपत्तिमें केवल बहुत कम ही न थे, वरंच सुशर्मा जैसे छोटे राजासे भी डरा करते थे। महाभारतसे ही यह भी जाना जाता है कि विदर्भके (बरार और सौराष्ट्र वा काठियावाड़के) राजा भोज कहाते थे। इससे स्पष्ट है कि महाभारतके समयमें इन नामोंसे स्थान विशेषके राजाओंका बोध होता था, जैसे रोमके सम्राट् सीजर, जर्मनीके कैसर, तुर्कीके सुलतान और रूसके जार कहाते थे और जैसे आज जापानके सम्राट् मिकाडो, इंग्लैण्डके बादशाह किंग, ईरानके शाह शाह कहाते हैं।

राजाके विविध नामोंका प्रयोजन

सम्राट्का महत्त्व जाननेके लिये हमारे पास बहुतसे साधन हैं। राजासे सम्राट् बड़ा होता है, इसलिये सम्राट् पदवी प्राप्त करनेको राजाको राजसूय वा अश्वमेध अथवा वाजपेय यज्ञ करना चाहिये। परन्तु शतपथ ब्राह्मणमें बताया गया है कि राजसूय करनेसे राजा और वाजपेय करनेसे सम्राट् होता है।[2] राजा छोटा होता है, इसलिये यह सम्राट्

राजसूय और वाजपेय यज्ञोंकी महत्ता

---

१ राजा भोजो विराट् सम्राट् क्षत्रियो भूपतिर्नृपः।
य एभिः स्तूयते शब्दैः कस्तं नार्चितुमर्हति ॥५४॥ शां० अ० ६८

२ राजा वै राजसूयेनेष्ट्वा भवति। सम्राट् वाजपेयेनावरं हि राज्यं परं

बननेकी इच्छा कर सकता है। परन्तु सम्राट् राजा बननेकी इच्छा नहीं कर सकता। लाट्यायन श्रौत सूत्र भी वाजपेयको ही महत्व देता है। कहता है कि ब्राह्मण और क्षत्रिय जिसे अपना मुखिया बनावें, वह वाजपेय करे।[1] परन्तु तैत्तिरीय संहितामें कहा गया है कि वाजपेय सम्राट्सव है और राजसुय वरुणसव है। वरुण समस्त संसारके अधिपति हैं, इससे राजसूय वाजपेयसे बड़ा है। यह बहुत सम्भव है कि शतपथके समयमें राजसूयका महत्व घट और वाजपेयका बढ़ गया हो। इसलिये वाजपेय करके लोग सम्राट् हुआ करते थे और इसीसे उनकी सज्ञा स्वराट् भी होती थी। अश्वमेध यज्ञ दिग्विजय करके किया जाता था, पर इसका फल वाजपेयके समान होता था। तैत्तिरीय ब्राह्मणमें कहा गया है कि जो बुद्धिमान् वाजपेय यज्ञ करता है, वह स्वाराज्य प्राप्त करता है, अपने बराबरवालोंसे बढ़ जाता है और ज्यैष्ठ वा बड़प्पन पाता है।[2]

शुक्रनीतिसारके अनुसार राजाओं-की पदवियाँ

शुक्रनीतिसारका मत है भूसम्पति, अधिकार अथवा शक्तिके आधार पर राजा सामन्त, मांडलिक, राजा, स्वराट्, सम्राट्, विराट् अथवा सार्वभौम जैसी उपाधियोंसे विभूषित होता है। सामन्त और माण्डलिक तो राजाके अधीन होते हैं। सामन्तको तो वर्त्तमान समयका ठिकानेदार

साम्राज्यं कामयेत् वै राजा सम्राट् भवितुमवरं हि राज्यं परं साम्राज्यम् ॥५।१।१

१ यं ब्राह्मणा राजानश्च पुरस्कुर्वीरन् स वाजपेयेन यजेत् ॥८।११।१

• राजसूयं यदेते ग्रहाः सवोऽग्निर्वरुणो राजसूयमग्निसवाश्चित्यस्ताभ्यामेव सूयतेऽथो उभावेव लोकानवभिजयति यश्च राजसूयेने जानस्य यश्चाग्नि चितः ॥५।६।२।१ इसपर टीका है कि कदाचित् वरुण ही राजसूय करके पहले अभिषिक्त हुआ हो, इससे राजसूय वरुणसव है और जो चित्य है, वह अग्निसव है।

२ य एवं विद्वान् वाजपेयेन यजति। गच्छति स्वाराज्यम्। अग्रं समानानां पर्येति। तिष्ठन्तेऽस्मै ज्यैष्ठ्या ॥१:३।२।२

वा ठाकुर समझना चाहिये, जिसकी पदवी बहुधा 'राव' होती है। माण्डलिक इससे बड़ा होता है, पर इसका अधिकार प्रायः राजाके बराबर होता है। राजाके अधीन सामन्त होते हैं, पर माण्डलिकके अधीन कोई नहीं होता। सम्भवतः मण्डल वा भूभाग विशेष अथवा प्रदेशके अधिकारीको पदवी माण्डलिक होती होगी। सम्राट् चक्रवर्त्ती अथवा मण्डलेश्वर भी कहाता है, क्योंकि चक्र वा मण्डलका मुखिया होता है। प्रजाके उत्पीड़नके बिना भूमिसे जिसकी वार्षिक आय एकसे ३ लाख तक अथवा जिसका प्रभुत्व सौ गाँवोंपर हो, वह सामन्त है। जिसकी आय ४ से १० लाख तक हो, वह माण्डलिक, जिसकी १० से २० लाख तक हो, वह राजा, जिसकी २० से ५० लाख तक हो वह महाराज, ५० लाखसे १ करोड़तक हो, वह सम्राट् ५० करोड़ हो, वह विराट् है और जो सप्तद्वीपा वसुन्धराका अधिपति हो, वह सार्वभौम है। सौ ग्रामोंका अधिकारी वा कर-संग्राहक अनुसामन्त, १० ग्रामोंका अधिकारी नायक, १० हजार ग्रामोंके भागका भागी आशापाल कहाता है। जिस एक कोसके भूभागमें राजाका भाग एक हजार रुपये हो, वह ग्राम कहाता है। ग्रामका आधा पल्ली और पल्लीका आधा कुम्भ है।[1]

---

१ लक्षकर्षमितो भागो राजतो यस्य जायते।
वत्सरे वत्सरे नित्य प्रजानां त्वविपीडिनैः ॥१८२॥
सामन्तः स नृपः प्रोक्तो यावल्लक्षत्रयावधि।
तदूर्ध्वं दशलक्षान्तो नृपो माण्डलिकः स्मृतः ॥१८३॥
तदूर्ध्वन्तु भवेद्राजा यावद्विशंतिलक्षक
पञ्चाशल्लक्षपर्यन्तो महाराजः प्रकीर्त्तितः ॥१८४॥
ततस्तु कोटिपर्यन्तः स्वराट् सम्राट् ततः परम्।
दशकोटिमितो यावद्विराट तु तदनन्तरम् ॥१८५॥
पञ्चाशतकोटिपर्यन्तं सार्वभौमस्ततः परम्।
सप्तद्वीपा च पृथिवी यस्य वश्या भवेत्सदा ॥१८६॥
शतग्रामाधिपो यस्तु सोऽपि सामन्त संज्ञकः।
शतग्रामे चाधिकृतोऽनुसामन्तो नृपेण सः ॥१९०॥

नारदका कहना है कि राजा तीन प्रकारका होता है सम्राट्, सकर और अकर। जो सब राजाओंसे नित्य कर लिया करता है, वह सम्राट् और वही चक्रवर्ती कहाता है जो महीने-महीने वा वर्ष वर्ष भर कर लिया करता है और राजलक्षणसे युक्त होता है, वह सकर और जो नजर वा दर्शनीके बहाने स्वेच्छा से कर देता है वह अधीश्वर वा महाराज कहाता है।

नारद का मत

शुक्रनीतिसारकी अपेक्षा नारदका मत कुछ समीचीन प्रतीत होता है, पर यह भी सन्तोषजनक नहीं है। धन वा वार्षिक आय महत्वकी होनेपर भी राजाका विशेषत्व उसकी ईश्वरताके कारण होता है। वर्त्तमान समयमें हमारे देशमें कितने ही राजाओंकी आय एक लाख वार्षिक भी नहीं है और कई ऐसे जमीन्दार हैं जिनकी वार्षिक आय एक करोड़ तक पहुँच जाती है; परन्तु न ये वास्तविक राजा हैं, यद्यपि इनकी पदवी 'महाराजाधिराज' तक देखी जाती है, क्योंकि ये राजलक्षण युक्त नहीं हैं और न वे राजा कम आय होनेके कारण जमीन्दार ही कहे जा सकते हैं। जिस राजाको अन्य राजा अपना प्रभु वा नेता मानें, वही सम्राट् वा चक्रवर्ती कहानेका अधिकारी है, दूसरा नहीं। इसी सिद्धान्त के अनुसार इंग्लैण्डके बादशाह भारतके सम्राट् थे, क्योंकि यहाँका राजन्य-वर्ग उन्हें अपना अधीश्वर मानता था।

नारदका मत शुक्र नीतिसारसे समीचीन है।

ऐतेरेय ब्राह्मणके ऐन्द्रमहाभिषेककी प्रतिज्ञासे जाना जाता है कि राज्य, साम्राज्य, भौज्य, स्वाराज्य, वैराज्य, महाराज्य, पारमेष्ठ्य, आधिपत्य और सार्वभौमत्व विविध प्रकारके राज्य थे। इसपर कुछ प्रकाश वाजसनेयी संहिता

अधिकृतो दशग्रामे नायकः स च कीर्त्तितः।
आशापालो युतग्राम भागभाक् च स्वराडपि ॥१६१॥
भवेत्क्रोशात्मको ग्रामो रूप्य कर्ष सहस्रकः।
ग्रामार्द्धकं पल्लिसंज्ञं पल्ल्यर्धं कुम्भ संज्ञकम् ॥१६२॥ अ० १

ऐतेरेय ब्राह्मण और शुक्ल यजुर्वेद में राज्योंके प्रकारों का उल्लेख

वा शुक्ल यजुर्वेदसे पड़ता है। वहाँ इष्टकाकी स्तुतिमें पाँच मन्त्र हैं जिनसे जाना जाता है कि इष्टका पूर्व दिशा में राज्ञी है, जहाँ वसुदेवता अधिपति हैं, दक्षिण दिशामें विराट् है, जहाँ रुद्र देवता अधिपति हैं, पश्चिम दिशामें सम्राट् है, जहाँ आदित्यदेवता अधिपति हैं उत्तर दिशामें स्वराट् तथा उर्ध्व दिशामें अधिपत्नी है, जहाँ विश्वेदेवा देवता अधिपति हैं[1]। इससे क्या जाना जाता है ? यही न कि पूर्वके राजा राजा, दक्षिणके विराट्, पश्चिमके सम्राट्, उत्तरके स्वराट् और ऊर्द्धके अधिपति होते थे ? ऐतरेय ब्राह्मणसे पता लगता है कि पूर्वियोंके राजाओंका अभिषेक साम्राज्यके लिये, दक्षिणियोंके राजाओंका भौज्यके लिये, हिमालयके उत्तरके उत्तर कुरु और उत्तर मद्रके राजाओंका वैराज्यके लिये तथा मध्यदेशके कुरु पांचाल और उशीनरके राजाओंका अभिषेक राज्यके लिये होता है।[2] अथर्ववेदके गोपथ ब्राह्मणमें बताया गया है कि प्रजापति राजसूय करके राजा, वाजपेय करके

---

१ राज्ञ्यसि प्राचीदिग्वसवस्ते देवा अधिपतयो.........॥१०॥
विराडसि दक्षिणा दिग्रुद्रास्ते देवा अधिपतय.........॥११॥
सम्राडसि प्रतीची दिगादित्यास्ते देवा अधिपतयो.........॥१२॥
स्वराडस्युदीची दिङ्मरुतस्ते देवा अधिपतयः.........॥१३॥
अधिपत्न्यसि बृहती दिग्विश्वे ते देवा अधिपतयो.........॥१४॥
अ० १५

२ साम्राज्याय तस्मादेतस्यां प्राच्यां दिशि ये के च प्राच्यानां राजानः साम्राज्यायैव तेऽभिषिच्यन्ते। तस्मादेतस्यां दक्षिणस्यां दिशि ये के च सत्वतां राजानो भौज्यायैव तेऽभिष्यच्यन्ते। तस्मादेतस्यां प्रतीच्यां दिशि ये के च नीच्यानां येऽपाच्यानां स्वराज्यायैव ते अभिषिच्यन्ते। तस्मादेतस्यामुदीच्यां दिशि ये के च परेण हिमवन्तं जनपदा उत्तरकुरव उत्तरमद्रा इति वैराज्येन तेऽभिषिच्यंते। तस्मादेतस्यां ध्रुवायां मध्यमायां प्रतिष्ठायां दिशि ये के च कुरुपांचालानां राजानः स वशोशीनराणां राज्यायैव तेऽभिषिच्यन्ते राज्येते नानभिषिक्ता नाचक्षते।८।१४।२।३

सम्राट्, अश्वमेध करके विराट्, पुरुषमेध करके विराट्, और सर्वमेध करके सर्वराट् हुआ।

सायणाचार्यने ऐतरेय ब्राह्मणकी इन पदवियोंके सम्बन्धमें कहा है कि कोशका आधिपत्य राज्य, धर्मसे पालित साम्राज्य, अपराधीनत्व स्वाराज्य, अन्य राजाओंसे वैशिष्ट्य वैराज्य है। इन सबका इसी लोकसे सम्बन्ध है। इसके उपरान्त उनका मत है कि अन्य पदवियोंका सम्बन्ध परलोकसे है। इनमें पारमेष्ठ्यका अर्थ प्रजापति लोककी प्राप्ति, राज्यका अर्थ वहाँ राज्य पाना, महाराज्यका अर्थ बड़ा राज्य, स्ववश्यका स्वाधीनता और आतिष्ठत्वका बाहुकाल-पर्यन्त निवास है। श्रीधर स्वामीने भागवत पुराणके दशमस्कन्धके एक प्रसंगकी टीकामें इन पदवियोंका आध्यात्मिक अर्थ किया है। कहा है कि साम्राज्य सार्वभौम पद, स्वाराज्य इन्द्रपद, भौज्य सार्वभौमपद समेत इन्द्र-पद तथा पारमेष्ठ्य ब्रह्मपद है। अणिमा आदि सिद्धियोंकी प्राप्तिसे विराट् होता है।

सायणाचार्य और श्रीधर स्वामीद्वारा राज्यके प्रकारोंकी व्याख्या

सायणाचार्य और श्रीधर स्वामीकी टीकाओंसे राज्यके प्रकारोंका महत्त्व प्रकट नहीं होता, वरञ्च जो कुछ हम ऐतरेय ब्राह्मण और शुक्ल यजुर्वेदमें उनके उल्लेखसे जान भी पाते हैं, वह भी टीकाएँ देखकर भ्रममें पड़ जाते हैं। इसलिये टीकाकारोंके विषयमें हमें यही समझ लेना चाहिये कि उन्होंने जिस दृष्टिसे इन पारिभाषिक शब्दोंके अर्थ किये हैं, उस दृष्टिसे हम इनका विचार नहीं कर रहे हैं। इसलिये हमें मूलमें ही तत्त्व टटोलना चाहिये। परन्तु वहाँ यह कठिनाई है कि यजुर्वेद और ऐतरेय ब्राह्मणके वर्णनोंमें कुछ असामञ्जस्य-सा जान पड़ता है, क्योंकि जहाँ यजुर्वेदमें पश्चिमी लोगोंके राजाकी संज्ञा सम्राट् बतायी गयी है, वहाँ ऐतरेय ब्राह्मण कहता है कि वह पूर्वियोंके राजाकी है। इसे हम इस प्रकार हल करते हैं कि यजुर्वेदके इन मन्त्रोंको जिस ऋषिने देखा था,

साम्राज्यके लिये मगधके राजा अभिषिक्त होते थे।

वह या तो मगधसे पूर्व रहता था या देखनेके समय वह पूर्वमें था। कारण यह है कि मगधमें ही पहले पहल साम्राज्यकी स्थापना हुई थी और मगधके राजा ही सम्राट् कहाये थे यह सर्ववादिसम्मत है। इसलिये यजुर्वेदमें पश्चिमी लोगोंके राजाका अभिषेक जहाँ साम्राज्यके लिये लिखा है, वहाँ ऐतरेय ब्राह्मणमें पूर्वियोंके राजाके लिये लिखा है। दोनोंका अभिप्राय मगधके साम्राज्यसे ही है। जरासन्धका घराना वृहद्रथका घराना कहाता था। पुराणों और महाभारतके अनुसार जरासन्ध सम्राट् था। जिसे हम आज सम्राट् कहते हैं, जरासन्ध वैसा सम्राट् न था, वरञ्च कई राज्योंके समूहका अध्यक्ष था। ये राज्य एक प्रकार के Confederacy वा संघ रूपमें थे। चेदिराज शिशुपाल इस संघका सेनानायक था। महाभारतसे जाना जाता है कि सम्राट्को अन्य राजा निर्वाचित करते थे और इस सम्राट्निर्वाचनका उद्देश आत्मरक्षण था। जरासन्ध इन राज्योंका रक्षक होनेके बदले भक्षक निकला, क्योंकि इसने अपने संघके अन्य राजाओंको, अवश्यही शिशुपालको छोड़ अपना दास ही बना डाला था। इन सब बातोंपर विचार करनेसे यही जान पड़ता है कि यजुर्वेद और ऐतरेय ब्राह्मण के वर्णनोंमें कोई विषमता नहीं है। शुक्ल यजुषोंको प्रकट करनेवाले याज्ञवल्क्य मिथिलामें रहते थे और मगधसे पूर्व थे, इसलिये यजुर्वेदमें सम्राटोंका स्थान पश्चिम बताया गया है और ऐतरेय ब्राह्मणका लेखक मगधसे पश्चिममें था, इसलिये उसे स्वभावतः साम्राज्यके लिये अभिषिक्त राजाओंका राज्य पूर्वमें समझ पड़ना ही चाहिये।

भौज्य और स्वाराज्य आदि

अन्य देशोंके राजाओंकी भी ये पदवियाँ थीं यह इससे भी जानना चाहिये कि विदर्भ वा बरारके राजा महाभारतके समयमें कुन्तिभोज कहाते थे। मालवेकी धारा नगरीके राजा भी भोज ही प्रसिद्ध थे। इससे यह सिद्ध हुआ कि भोज दक्षिण देशके राजाओंकी उपाधि थी और राज्य भौज्य कहाता था। कच्छके पास भुज है और इसलिये वहाँके राजा भोज और राज्य भौज्य कहा जा सकता है।

सम्भवतः दक्षिणसे ही राजा भुज गये हों और वहाँ उसे भौज्य नाम दिया हो, जो आज भुज ही रह गया हो। पश्चिममें सौराष्ट्र है, जो सम्भवतः पहले सुराष्ट्र वा स्वराट् कहाता होगा, जिससे बिगड़ कर सुराट् वा सूरत बन गया हो। स्वराट्का अर्थ स्वयं प्रकाशमान् वा स्वयं शासन करनेवाला है। यह वहाँके राजाकी पदवी थी और राज्य स्वराज्य वा स्वाराज्य कहाता था। स्वराज्यके विषयमें हमें ऋग्वेदमें एक मन्त्र और अथर्ववेदमें एक मन्त्र मिलता है जिनमें पहलेका अर्थ है, 'हे मित्रो, जिनकी दृष्टि विशाल हुई है तुम और हम सब विद्वान् मिलकर अनेकोंकी सहायतासे पालन होनेवाले स्वराज्यमें भलीभाँति यत्न करें।'[1] दूसरेका अर्थ है, 'जो अज वा नेता पहले उत्पन्न हुआ, उसीने उस स्वराज्यको प्राप्त किया जिससे श्रेष्ठ और कोई वस्तु नहीं है।'[2] इन दोनो मन्त्रोंसे हम जान गये कि स्वराज्य पद्धतिके लिये बहुत कुशल मनुष्योंकी अपेक्षा होती है जिनकी दृष्टि विशाल हुई हो और स्वराज्य शासनपद्धतिसे बढ़कर कोई पद्धति नहीं है। स्वाराज्य पद्धति नीचों और अपाच्योंमें प्रचलित थी।[3] हिमालय पारके उत्तर कुरु और उत्तर मद्र राज्य वैराज्य कहाते थे यह ऐतरेय ब्राह्मणसे स्पष्ट है। कदाचित् नैपालका बिराट नगर इनमें किसीकी राजधानी हो और यहींसे मत्स्य देशके विराट् राजा गये हों। हिमालयकी तराई और उत्तर बिहार के संघ राज्योंके रूपमें जो वैराज्य राज्य थे, वे विराट् (बिना राजाके) थे, इसलिये जिन राज्योंमें राज, न हो, वे ही वैराज्य समझने चाहिये।

---

१ आयद् वामीय चक्षसा मित्रं वयं सूरयः।
व्यचिष्टे बहुपाय्ये यतेमहि स्वराज्ये ॥८।६६।६

२ यदजः प्रथमं संबभूव।
सहतत् स्वराज्यमियाय।
यस्मान्नान्यत् परमास्तिभूतम् ॥१०॥७ ३१

३ जायसवालजीके मतानुसार सिन्धु नदीके मुहानेके आसपास नीच्य और उससे ऊपर अपाच्य बसते थे।

वैराज्यकी एक विशेषता जो ऐतरेय ब्राह्मणमें बतायी गयी है, वह यह है कि समाजके सभी पुरुष अभिषिक्त होते थे। कौटिल्यने लिच्छिवी आदि जातियोंको जो राजशब्दोपजीवी कहा है, उसका अभिप्राय भी तो यही है कि उनमें सभी राजा कहाते थे। बौद्धग्रन्थ महावत्थु वा महावस्तुमें कहा भी गया है कि वैशालीमें ८४ हजारसे दूने राजा रहते थे अर्थात् वैशालीके सभी लिच्छिवी राजा थे। एकपण्ण जातकमें वैशालीके ७७०७ राजाओंकी चर्चा है। उत्तरमद्र और उत्तरकुरु हिमालयके पार कहाँ थे यह हमें विचारना नहीं है, परन्तु हमारा काम इसीसे हो जाता है कि उत्तरमद्रों और उत्तरकुरुओंमें जैसी विशेषता थी, जब वही हमें लिच्छिवियों वा वज्जियोंमें मिलती है, तब यह माननेमें कोई बाधा नहीं है कि यहाँ सं भी वैराज्य था। महाराज्य, आधिपत्य, पारमेष्ठ्य, राज्य और सार्वभौमत्व भी विशिष्ट पद्धतियोंके राज्य होते होंगे। जायसवालजीने अपने ग्रंथमें[1] पाणिनिके आधारपर मद्र, वृजी, राजन्य, अन्धक-वृष्णी और महाराज इन छ जातियोंके सङ्घ बताये हैं। परन्तु यह महाराज सङ्घ कहाँ था और इसकी शासनपद्धतिकी क्या विशेषता थी यह नहीं लिखा। जैन राजा खारवेलका अभिषेक महाराज्यके लिये हुआ था, इससे सम्भव है कि वहीं महाराज्य देश हो। यजुर्वेदके उल्लिखित १४ वें मंत्रसे जाना जाता है कि इष्टका ऊर्ध्व दिशामें अधिपत्नी है। इससे समझा जाता है कि आधिपत्यका सम्बन्ध ऊर्ध्व दिशासे है। ऊर्ध्वका अर्थ उत्तुंग वा ऊँचा है। सम्भवतः इस आधिपत्यका सम्बन्ध भी किसी पार्वत्य देशसे ही हो। खारवेलने विजय और राजसूय किये थे, इसलिये यह अधिपति और चक्रवर्ती दोनो था। पारमेष्ठ्य पद्धति कहाँ प्रचलित थी यह अज्ञात है, परन्तु अनुमान है कि इस पद्धतिमें परमेष्ठी वा राजा कुलपतिके समान होता होगा और उसे लोग अपना पिता वा पितामह समझकर उसके अनुवर्त्ती रहते होंगे। राज्य पद्धतिका प्रचलन कुरु पांचालों और उशीनर वा गान्धारके राज्योंमें था। यहाँके राजा राजा कहाते थे। सार्वभौम राज्यकी परिधि प्राकृतिक सीमाओं

१ Hindu Polity Pt. I, p, 39

तक होती है, समस्त भूमि पर नहीं। कौटिल्यके मतसे[1] सार्वभौम वा चक्रवर्त्ती राजाके राज्यकी सीमा हिमालयसे कन्याकुमारीतक है। शतपथ ब्राह्मणमें एक शब्द राज्य सम्बन्धी और आया है और यह है जानराज्य। इसके विषयमें यह भ्रम हो सकता है कि यह जनों वा सर्वसाधारणका राज्य था, परन्तु उस समय जनसत्तात्मक राज्योंका पता नहीं लगता; बहुत सम्भव है कि 'जन' शब्द कुल वा कुटुम्ब अर्थमें प्रयुक्त हुआ हो। अर्थात् वह जन विशेषका राज्य, था, जैसे, भरतोंका राज्य, ऐक्ष्वाकुओंका राज्य आदि।

और भी राज्य-पद्धतियाँ थीं।

कौटिल्यने वैराज्यके साथ द्वैराज्यकी भी चर्चा की है। उनके मतसे वैराज्य तो वह है जिसका कोई राजा न हो और द्वैराज्य वह है जिसमें दो राजा हों। पूर्वाचार्योंके मतसे द्वैराज्यसे वैराज्य अच्छा होता है, क्योंकि दोनो पक्षोंके द्वेष और अनुरागके कारण द्वैराज्य नष्ट हो जाता है, परन्तु वैराज्य प्रजाके विचारोंके अनुसार चलनेके कारण भोगा जा सकता है। इसके विपरीत कौटिल्यका कहना है कि द्वैराज्य पिता और पुत्रका अथवा दो भाइयोंका ही हो सकता है और उनका योगक्षेम समान ही होता है, इसलिये मंत्रियोंद्वारा दोनोका झगड़ा निपटाया जा सकता है। परन्तु वैराज्यमें जीवित शत्रुका उच्छेद करके भी कोई उसे अपना नहीं मानता, राजनीतिक संस्थाका भाव ही नहीं रहता, चाहे जो देशको वेंच सकता है, कोई अपनेको उत्तरदायी नहीं मानता और विरक्त होकर राज्य से चला जाता है।[2] जैन आचारांग सूत्रसे दोरज्जाणि (द्वैराज्य) और

---

१ देशः पृथिवी ॥ १७ ॥ तस्यां हिमवत्समुद्रान्तरमुदीचनं योजनसहस्र-परिमाणं तिर्यक् चक्रवर्तिक्षेत्रम् ॥ १८ ॥ अधि० ६ अ० १

२ द्वैराज्यवैराज्ययोर्द्वैराज्यमन्यपक्षे द्वेषानुरागाभ्यां परस्पर संघर्षेण वा विनश्यति ॥ ६ ॥ वैराज्यन्तु प्रकृतिचित्तग्रहणापेक्षि यथास्थितमन्यै-र्भुज्यत इत्याचार्याः ॥ ७ ॥ नेति कौटिल्यः ॥ ८ ॥ पितापुत्रयोर्भ्रात्रोर्वा द्वैराज्यं तुल्ययोगक्षेममभात्यवग्रहं वर्त्तयेतेति ॥ ६ ॥ वैराज्ये तु जीवितः परस्याच्छिद्य नैतन्ममेति मन्यमानः कर्षयत्यपवाहयति ॥ १० ॥

वेरज्जाणि (वैराज्य) वा विरुद्ध रज्जाणिके सिवा अरायाणि (अराजक राज्य) गण रायाणि (गण राज्य) जुवरायाणि (यौवराज्य) का भी उल्लेख है।[१] उग्रकुल, भोजकुल, राजन्यकुल, क्षत्रियकुल और इक्ष्वाकुकुलके नाम भी पाये जाते हैं।

द्वराज्योंकेदो ऐतिहासिक उदाहरण

अराजक राज्यका उल्लेख महाभारतमें भी है। वहाँ वह मात्स्य न्याय रूपमें ही दिखाया गया है, परन्तु वास्तवमें जब लोग मेलसे न चलने लगे और बली दुर्बलोंका पीड़न करने लगे, तब मात्स्यन्याय उत्पन्न हो गया और फिर राजक राज्यकी स्थापना की गयी। द्वैराज्य शासनपद्धति किसी समय अवन्तीमें थी जहाँ बिन्दु और अनुविन्द राज्य करते थे। इन्हें दिग्विजय करते हुए सहदेवने हराया था।[२] छठी और सातवीं ईस्वी शताब्दीमें नेपालमें भी ऐसी शासनपद्धतिका प्रशस्तियोंसे पता लगता है। काठमांडूमें लिच्छिवी और ठाकुरी वंशोंके लेख भी मिले हैं। ये एक ही राजधानीके दो स्थानोंसे प्रचारित आज्ञाएँ हैं, जिनकी तारीखोंसे जाना जाता है कि दोनो घराने एक साथ शासन करते थे। आश्चर्यकी बात तो यह है कि दोनो घरानोंमें कोई रक्त सम्बन्ध न था और फिर भी दोनो एक ही राज्यके राजा थे। यौवराज्य वह शासनपद्धति है जिसमें राजा अभिषिक्त होनेके पहले युवराज रूपसे शासन करता है। खारवेलने ऐसे ही युवराज रूपसे शासन किया था और राज्य 'योवराजम् प्रसासितम्' था। विरुद्ध राज्य का अर्थ वह शासनपद्धति माना जाता है जिसमें बारी-बारी से पार्टियों वा दलोंका शासन होता था ऐसा राज्य अन्धकवृष्णी संघका था। गण

पण्यं वा करोति ॥ ११ ॥ विरक्तं वा परित्यज्यापगच्छतीति ॥ १२ ॥
अधि० ८ अ० २

१ आचारांगसूत्र दूसरा भाग ३।१०।१०

२ ततस्तेनैव सहितो नर्मदामभितो ययौ।
विन्दानुविन्दावावन्त्यौ सैन्येन महतावृतौ ॥
जिगाय समरे वीरावाश्विनेयः प्रतापवान् ॥१०॥ सभापर्व अ० ३१

राज्योंमें तो कई कुलोंके लोग राज्य करते थे, पर कुलराज्योंमें कुल विशेष ही शासक होते थे। सम्भव है कुल राज्योंकी पद्धति ही पारमेष्ठ्य हो।

सारांश, राजाओंकी जिन पदवियोंकी चर्चा ऊपर हुई है, वे स्थान विशेषके राजाओंकी पदवियाँ ही न थीं, प्रत्युत उन पदवियोंमें राज्यपद्धतिका वैशिष्ट्य भी था। राज्य एकतंत्री शासन, स्वराज्य प्रातिनिधिक शासन, साम्राज्य अधीन राजाओंपर शासन वैराज्य प्रजातंत्र शासन, पारमेष्ठ्य कुलपति-प्रभुत्वमूलक शासन, समन्तपर्यायी सार्वभौम शासन अंगरेजों द्वारा भारतके शासन सदृश था। साम्राज्य चक्रवर्तित्व है।

रजाओंकी ये उपाधियाँ सार्थक थीं।

चक्रवर्ती, परमेश्वर, परमभट्टारक, महाराजाधिराज, अखण्ड भूमिप, राजराज, विश्वराज और चतुरन्तेश इत्यादि अन्य पदवियां भी राजाओंकी मिलती हैं। चक्रवर्ती वा चक्रवर्तीका प्रयोग बौद्ध साहित्यमें भी देखा जाता है और वहाँ अभिप्राय सार्वभौम राजासे है। संस्कृतमें चक्रवर्तीके दो अर्थ बताये जाते हैं। पहला अर्थ तो यह है कि जिस राजाके रथके चक्र वा पहिये बेरोक-टोक सर्वत्र घूमते रहें, वह चक्रवर्ती अर्थात् संसारका अधिपति, चक्रका शासक, इस समुद्रसे उस समुद्रतक जिसके राज्यका विस्तार हो। दूसरा अर्थ यह है कि जिस राजाके हाथमें चक्रका चिह्न हो और जिसका पराक्रम देवता भी न सह सकें, वह चक्रवर्ती है। परमभट्टारक, परमेश्वर और महाराजाधिराजका प्रयोग चक्रवर्ती अर्थमें ही होता है। डा० फ्लीटका कहना है की चक्रवर्तीका अर्थ 'प्रभुराजा' है, पर यह प्रभु अपने राज्यमें ही प्रभु रहता है।यह आवश्यक नहीं कि समग्र भारतपर उसका शासन हो। इससे जान पड़ता है कि पिछले दिनो इन पदवियोंमें वास्तविकताकी अपेक्षा कवित्व अधिक रह गया था।

पौर और जानपद

पुरमें रहनेवाला पौर और जनपदमें रहनेवाला जानपद कहाता है, जैसे नगरमें रहनेवाला नागर कहा जाता है। परन्तु इन सबके पारिभाषिक अर्थ भी हैं। राजनीतिक अर्थमें पौर और जानपद संगठित राजनीतिक और म्युनिसिपल संस्थाएँ सिद्ध होती हैं। रामायणमें पौरका जो वर्णन मिलता है, उससे जाना जाता है कि उसके दो रूप थे एक अन्तरङ्ग सभा और दूसरा वहिरंग सभा। अन्तरङ्ग सभामें बहुधा नगरवृद्ध होते थे। कदाचित् इसीलिये व्यास स्मृतिमें कहा गया है कि वह सभा सभा ही नहीं है जिसमें वृद्ध न हों और वे वृद्ध ही नहीं हैं, जो धर्म न कहें तथा वह धर्म धर्म ही नहीं है जिसमें सत्य न हो और वह सत्य सत्य ही नहीं है, जिसमें छल मिला हो।[1] पौरके सदस्यके तो अधिकार थे ही, भूतपूर्व सदस्य के भी थे चाहे वह शूद्र ही क्यों न हो। गौतम सूत्रमें बताया गया है कि जब पौरका भूतपूर्व शूद्र सदस्य आवे, जो चाहे ८० वर्षसे न्यून वयका ही क्यों न हो, तो भी ब्राह्मणको उसके सम्मानार्थ खड़े हो जाना चाहिये। इससे जान पड़ता है कि पौरमें शूद्र भी होते थे और सभी वर्णोंकी वह प्रतिनिधि संस्था होती थी। पौरका लेखक कदाचित् पुर कायस्थ[2] कहाता था। तथा पौरके लेखोंकी संज्ञा लौकिक लेख्य थी, जिससे राजकीय लेख्योंसे इनकी भिन्नता जानी जाती है।

पौरके दो रूप तथा पौरके सदस्यका सम्मान

ईस्वी सन् ४८८ वा गुप्त संवत् १६९ का जो ताम्रपत्र मिला है, उससे उस समयकी पौर संस्थाके संगठनपर भी प्रकाश पड़ता है। उससे जाना

---

१ न सा सभा यत्र न सन्ति वृद्धाः, वृद्धा न ते ये न वदन्ति धर्मम्।
नासौ धर्मो यत्र न सत्यमस्ति, न तत्सत्यं यच्छलेनानुविद्धम्॥

२ आज भी बंगालमें पुरकायस्थ उपाधिधारी लोग पाये जाते हैं।

पौरके संगठनके विषयमें एक ताम्रपत्र

जाता है कि उस समय पौरमें अयुक्त वा नागरक और नगरश्रेष्ठ, कारीगरोंका मुखिया वा प्रथम कुलिक, प्रथम सार्थवाह, बारबरदार, काफिलेका सरदार और 'प्रथम कायस्थ' होते थे। और कौन होता था मालूम नहीं। जब कोई किसी ब्राह्मण वा मन्दिर के लिये कुछ भूमि दान करना चाहता था, तब पौर सभा उसकी इच्छा पुस्तपाल वा मुहाफिज दफ़्तरको बताती थी और इस प्रकारके दानसे राज्यको जो धन और राजाको जो पुण्य मिलता था, उसका विचार कर वह सम्मति दे दिया करता था।

पौरके कार्योंके तीन भाग किये जा सकते हैं, शान्तिक, पौष्टिक और धार्मिक। शान्तिक कर्मका सम्बन्ध पुरकी रक्षासे था। जान पड़ता है कि

पौरके कार्य और अधिकार

जैसे पहले अंगरेजी भारतमें नगर में शान्ति सुव्यवस्था के लिये म्युनिसिपल पुलिस थी, वैसी ही पौर पुलिस होती थी, जिसका काम शान्तिरक्षा था। पौष्टिक कर्म (Productive Work) वह था जिससे पुरकी आर्थिक उन्नति होती थी। धार्मिक वा न्यायकर्मका सम्बंध म्यूनिसिपल व्यवस्थासे तो था ही, पर लेन देन, जमीन जायदाद के दीवानी मामलोंका विचार भी पौर सभा कर सकती थी। पौर न्यायालय का अधिकारी (Municipal Magistrate) कुलिक कहाता था जिसका निर्णय राजा स्वीकार करता था। सभागृह, प्रपा (पौंसला), तटाक (तालाब), आराम (पान्थशाला वा उपवन) और देवगृहकी मरम्मत कराने और सुव्यवस्था रखनेका काम पौरके हाथमें था। पौरको राजकीय टकसालसे अपने नामके सुवर्ण नाणक वा सोनेके सिक्के ढलवा लेनेका भी अधिकार था। उल्लिखित कार्योंके सिवा पौरको राजकार्यमें सहायता और सम्मति देनेका सम्मानपूर्ण अधिकार भी प्राप्त था।

पौरके साथ ही नैगम शब्द भी आता है। यह व्यापारियोंकी संस्थाका वाचक है। सम्भवतः आजकलकी चेम्बर आवकामर्सकी भांति यह नैगम

संस्था हो। इसे भी नाणक ढलवा लेनेका अधिकार था। पौरमें नैगमका प्रभाव वैसा ही था, जैसा आज म्यूनिसिपल कार्पोरेशन वा एसेम्वलीमें चेम्बर आव कामर्स का है। यही कारण है कि उस समय नगरश्रेष्ठ पौरमुख्य वा प्रेसीडेंट बनाया जाता था। वीर मित्रोदयमें पौर, ग्राम और गण वर्गों वा संगठित दल बताये गये हैं, पर यह नहीं जान पड़ता कि पौरमें एकाधिक वर्ग वा पार्टी थी। नैगम की बैठकें उनके सभाभवनमें हुआ करती थीं।

नैगमका महत्त्व

पौरके साथ ही एक दूसरा शब्द भी है जिससे इसका चोली दामनका साथ देखा जाता है। यह है जानपद। जानपद यद्यपि जनपदभरकी संस्था थी, तथापि वह पौर से मिलकर ही काम करती थी, इसलिये इसका कार्यालय भी पुरमें ही रहता था। पौर-जानपदके संयुक्त अधिवेशन महत्वपूर्ण कार्योंपर विचार करनेको हुआ करते थे। पौरजानपद संस्थाएँ जैसे किसी कुमारके यौवराज्यका समर्थन करती थीं, वैसे ही किसीके अभिषेकका विरोध कर उसमें बाधा भी डाल सकती थीं। महाभारतसे[1] जाना जाता है कि प्रतीपने अपने ज्येष्ठ कुमार देवापिका अभिषेक करनेकी पूरी तैयारी कर ली थी, परंतु ब्राह्मणों, वृद्धों और पौर-जानपदने यह कहकर इसका विरोध किया कि देवता हीनाङ्ग राजाका अभिनन्दन नहीं करते, क्योंकि देवापि कोढ़ी था। इसपर देवापिका अभिषेक नहीं हुआ और मंझले भाई वाह्लीकको अनुमतिसे छोटे शान्तनुका अभिषेक हुआ। मृच्छकटिक नाटकसे[2] पौरजानपदकी एक और शक्तिका पता लगता है और वह यह है कि पदच्युत राजा के स्थानपर दूसरेको सिंहासनपर बैठा देनेकी क्षमता भी इनमें थी। राजा सिंहासनच्युत कर दिया गया था, क्योंकि सार्थवाह विनयदत्त के नाती सागरदत्तके पुत चारुदत्तके साथ उसने अन्याय किया था। पौरको जब पदच्युत राजाके भाईने आश्वासन दिया कि मैं न्याय-व्यवहार करूँगा,

पौरजानपदका महत्त्व राजकार्यमें

---

१ उद्योगपर्व अ० १४९ श्लोक १२ से २८।

२ चारुदत्तका विचार अंक ९। १०

तब इसे राज्य मिल गया। इसके बाद जनपद समवाय वा सभाशालामें इस क्रांति या विवर्तनका संदेश लेकर जब मनुष्य पहुँचा, तब उसने पौर रूपसे से उसे सम्बोधन करके कहा कि संस्थानकको दंड दीजिये। सिंहलके पुराण महावंशके[1] अनुसार भारतके पौर अधार्मिक कार्योंके लिये राजाको पद-च्युत कर सकते थे और अपनी सभामें लोकहितकी दृष्टिसे राजवंशके बाहरके भी किसी मनुष्यको सिंहासनपर बैठानेका निश्चय कर सकते थे। दशकुमार चरितकी इस बातसे भी पौर-जानपदकी शक्तिका पता लगता है कि राजाके भाइयोंका पौर-जानपदसे मेल है, इसलिये वक्ताको आशका है कि यदि राजा मर जाय, तो उसके भाइयोंको ही सिंहासन मिलेगा।[2] महाभारतमें लिखा है कि जिस मन्त्रीपर पौर-जानपदका विश्वास हो, राजा उसीको मन्त्र और दंडका अधिकारी बनावें।[3] इसके दो अध्यायोंके बाद बताया गया है कि राज्य संबंधी जिस मंत्रपर राजाने मंत्रि-परिषद्में विचार किया हो, उसे राष्ट्रीय वा जसपदके अध्यक्षोंको दिखावे और राष्ट्रमें भेजे।[4] सम्भवतः यह असाधारण करके विसयमें हैं जिसके लगानेके लिये पौर-जानपद की अनुकूलताकी आवश्यकता होती थी। पौर-जानपदके विश्वास और सदिच्छापर ही बहुत अधिक मात्रामें मंत्रियोंका कार्यकाल अवलम्बित रहता था। स्कन्दगुप्तके काठियावाड़के शासक मंत्री चक्रपालितके शासनपत्रमें लिखा है कि पौरोंने मुझपर विश्वास किया और कुछ ही समयमें मैंने पौरवर्गको संतुष्ट कर लिया। अंतमें उसने प्रार्थना की है कि नगरकी समृद्धि हो और वह पौरववर्गके अनुकूल हो।[5]

---

१ महावंश ४ (५-६)

२ तीसरा परिच्छेद

३ तस्मै मंत्रः प्रयोक्तव्यो दंडमाधित्सता नृप ॥४५॥
पौरजानपदा यस्मिन् विश्वासो धर्मतोगतः ॥४६॥शां० अ० ८३

४ अष्टानां मंत्रिणां मध्ये मंत्रं राजोपधारयेत् ॥११॥
ततः सम्प्रेषयेद्राष्ट्रे राष्ट्रीयाय च दर्शयेत् ॥ शां० अ० ८५

५ विश्रम्भमल्पेन शशाम योऽस्मिन् कालेन लोकेषु स नागरेषु।

साम्राज्योंमें प्रादेशिक पुर भी होते थे और उनमें स्वतंत्र पौर संस्था भी होती थी। दिव्यावदानसे जाना जाता है कि एक बार तक्षशिलाके पौर वहांके मन्त्रियोंके दुर्व्यवहारसे विरुद्ध हो गये थे। यह सुनकर राजा अशोक आप वहाँ जानेको तैयार हुआ। इसपर मन्त्रियोंने कहा, 'महाराज! कुमारको भेजिये।' राजाने कुनालको बुलाकर कहा, 'बेटा कुनाल, लोगोंको शांत करने तक्षशिला जाओ। कुनाल तक्षशिला पहुँचा। उसका आगमन सुन तक्षशिलाके पौर आगेसे पहुँचकर मार्गशोभा (जुलूस) बनाकर और शोभा (नगर सजाकर) पूर्णकुम्भ लेकर पहुँचे और हाथ जोड़कर बोले, 'न हम कुमारके विरुद्ध हैं और न राजा अशोकके दुष्ट अमात्य आकर हमारा अपमान करते हैं'[1] कदाचित् इसीपर अशोकने अपने शिलालेखमें आज्ञा दी थी कि तक्षशिलाके मंत्री प्रति तीसरे वर्ष बदल दिये जाया करें।

पौरोंके विरोधका ऐतिहासिक उदाहरण

पौर जो प्रस्ताव पास करते थे, वे कानून समझे जाते थे। उनकी संज्ञा

यो लालयामास च पौरवर्गान्.........।
जूनागढ़ शिलालेख ४५७-८ ई० ·
नगरमपि च भूयाद् वृद्धिमत्पौरजुष्टम्। p.6

१ राज्ञोऽशोकस्योत्तरापथे तक्षशिला नगरं विरुद्धम्। श्रुत्वा च राजा स्वयं मेवाभिप्रस्थितः। ततोऽमात्यैरभिहितः। देव, कुमारः प्रेष्यताम् स संनामयिष्यति। अथ राजा कुनालमाहूय कथयति। वत्स कुनाल! गमिष्यसि तक्षशिला नगरं संनामयितुम्। कुनाल उवाच। परं देव गमिष्यामि.........अनुपूर्वेण तक्षशिला मनुप्राप्तः। श्रुत्वा च तक्षशिला पौरा अर्धत्रिकानि योजनानि मार्गशोभां नगरशोभां च कृत्वा पूर्णकुम्भैः प्रत्युद्गम्य कृताञ्जलिरुवाच। न वयं कुमारस्यविरुद्धा न राज्ञोऽशोकस्या पितुर्दुष्टात्मानोऽमात्या आगत्यास्माकमपमानं कुर्वन्ति।

'समय' थी। मनु और याज्ञवल्क्यने इन समयोंको धर्म (कानून) माना भी है। 'समय', 'स्थिति' और 'संविद्' वा 'देशस्थिति' भी मन्तव्योंको कहते थे। स्थितिका अर्थ दृढ़ वा अटूट था। इसका प्रयोग देशके प्रत्येक मनुष्यपर हो सकता था। जानपदके समयकी संज्ञा 'संविद्' थी। ये राजाके हितके विरुद्ध भी होते थे, इसलिये कई स्मृतिकारोंका कहना है कि उन्हीं संविदोंका प्रयोग किया जाय जो राजाके विरुद्ध न हों।

पौर-जानपदमें नित्य काम होता था और राजा भी उनके कार्योंका निरीक्षण किया करता था। पौरजानपद अपने कार्योंका विचार अपनी अपनी सभा-शालाओंमें किया करते थे। उनके चत्वर वा चौतरे वा प्लैटफार्म भी थे, जिनमें कदाचित् सार्वजनिक सभाएं होती थीं। इस प्रकारः—

निष्कर्ष

अ—पौरजानपद किसीको राज्यका उत्तराधिकारी मनोनीत कर सकते थे।

आ—राजपरिवारके किसी मनुष्यपर पौरजानपदका कृपाभाव रहनेसे वह गद्दी पा सकता था।

इ—पौरजानपद किसी राजाको पदच्युत कर सकते थे।

ई—मन्त्रिपरिषद्में राज्यकी जो नीति स्थिर होती थी, उसकी सूचना पौरजानपदको देना राजाका कर्त्तव्य होता था।

उ—नये कर लगानेके लिये राजा पौरजानपदकी अनुकूलता और अनुग्रह प्राप्त करनेका प्रयत्न करता था।

ऊ—किसी मंत्रीपर पौरजानपदका विश्वास होना उसके प्रधानमन्त्री होनेकी योग्यता थी।

ए—जो राजा अशोककी भाँति नये धर्मका प्रचार करना चाहता था, वह पौरजानपदसे आदरपूर्वक परामर्श करता था जो अपने देशके लिये राजासे औद्योगिक, व्यापारिक और आर्थिक अधिकार चाहते थे।

ऐ—पौरजानपदका क्रोध प्रशास्ताओं और प्रादेशिक मंत्रियोंका सर्वनाश कर सकता था।

ओ—सार्वजनिक घोषणामें राजा अत्यन्त मीठे शब्दोंमें पौरजानपदकी चर्चा करता था।

औ—पौरजानपद राजाके हितके विरुद्ध 'संविद' बना सकते थे।

पौरजानपदके उपर्युक्त अधिकारोंसे जाना जाता है कि ये राज्यसे सम्बन्ध रखनेवाली नहीं, प्रत्युत सार्वजनिक संस्थाएं थीं। परन्तु प्रभाव इनका इतना अधिक था कि राज्यको ये जैसे चलाना चाहती थीं, वैसे *पौरजानपदका प्रभाव* ही उसे चलना पड़ता था। पौरजानपद लोकमतके प्रतिनिधि थे, इसी लिये राजा और मन्त्री सभी इनकी अनुकूलता वा अनुग्रह प्राप्त करनेका सदा यत्न किया करते थे। जिस समय पौरजानपद जीवित संस्थाएं होंगी, उस समय राजा और मन्त्री सभी उनकी मतिगतिका ध्यान रखते होंगे।

राष्ट्रगुप्ति वा राष्ट्ररक्षा

राष्ट्ररक्षाकी पद्धतिका नाम राष्ट्रगुप्ति है अथवा दण्डनीतिका सुप्रयोग वा सद्व्यवहार ही राष्ट्रगुप्ति है। इस राष्ट्रगुप्तिके दो मुख्य अंग हैं स्वराष्ट्रनीति और परराष्ट्रनीति। शासन-व्यवस्था और देश-रक्षा स्वराष्ट्रनीतिके अधीन हैं और षाड्गुण्य परराष्ट्रनीतिके। दण्डका सम्बन्ध दोनोंसे है, क्योंकि चतुरङ्ग बल वा अष्टाङ्ग बलके रूपमें यह षाड्गुण्यका सहायक है और परराष्ट्रके आक्रमणसे देशरक्षाका भार भी इसीपर है। इसके साथ ही शासनव्यवस्था भी इसीपर अवलम्बित है, क्योंकि दंडके भयसे लोग धर्मका उल्लङ्घन नहीं करते और धर्मसे विचलित मनुष्यको सुमार्गपर लानेवाला भी दंड ही है। इन कार्योंके लिये चारों, न्यायालयों और देशशान्तिक सैन्यका प्रयोजन होता है।

राष्ट्रगुप्ति और उसके भेद

देशकी आभ्यन्तरिक शान्तिके लिये जिस प्रकार मिलिटरी पुलिसकी टुकड़ी रहती है, उसी प्रकार हिन्दू राजत्वकालमें 'गुल्म' रहा करते थे। महाभारतमें बताया गया है कि दुर्गों, सीमाओं, नगरके उपवनों, पुरोंके उद्यानों, सब संस्थाओं, सब पुरों और नगरोंमें ही नहीं, राष्ट्रके मध्य और राजप्रासादमें भी गुल्म रखने चाहिये।[1] एक गुल्ममें ४५ पदाति, २७ अश्व, ९ रथ और ९ हाथी होते थे। कौटिल्यने समस्त राष्ट्रके लिये एक राष्ट्रपालकी व्यवस्था बतायी है जिसका वार्षिक वेतन १२००० पण निर्दिष्ट

राज्यरक्षाकी व्यवस्था

---

१ न्यसेत गुल्मान् दुर्गेषु सन्धौ च कुरुनन्दन।
नगरोपवने चैव पुरोद्यानेषु चैव हि ॥ ६ ॥
संस्थानेषु च सर्वेषु पुरेषु नगरेषु च।
मध्ये च नरशार्दूल तथा राजनिवेशने ॥७॥ शां० अ० ६९

किया है। यह एक प्रकारका इन्सपेक्टर जेनरल था, जिसके अधीन गुल्म भी होते थे। इसके साथ ही सीमाकी रक्षाके लिये एक अन्तपालकी योजना भी उन्होंने की है। इसका वेतन भी राष्ट्रपालके समान ही था और इसका काम था कि शत्रुको स्वराष्ट्रमें प्रवेश न करने दे।

देशमें अशान्तिके दो प्रकार

किसी राज्यमें दो प्रकारसे अशान्ति होती है एक परचक्रसे और दूसरे अपनी प्रजामें विरक्ति वा अनाचार उत्पन्न होनेसे। अन्तपालके अधीन सीमान्तमें गुल्मोंकी व्यवस्थासे शत्रु आक्रमणका साहस नहीं कर सकता था। राजाके प्रति युवराज, कुमारों, मंत्रियों, सामन्तों, तथा अन्य कर्मचारियोंके ही नहीं, प्रजाके भी क्या भाव हैं यह जाननेके लिये अनेक वेषोंमें गुप्तचर वा चार रहा करते थे और अपने कार्योंका विवरण अपने अफसरोंको दिया करते थे। जिन अधिकारियोंकी विरक्तिके यथेष्ट कारण होते, उन्हें धन और सम्मानसे राजा सन्तुष्ट करता था और जो षड्यंत्र करते रहते और जिनकी विरक्तिके ठीक ठीक कारण न होते, उन्हें गुप्त रीतिसे दंड देता था। जो राज्यके सुशासनमें बाधा डालते थे, उनपर भी चारोंकी दृष्टि रहा करती थी। ये चार वर्तमान समयके सी० आई० डी० की तरह थे।

न्याय व्यवस्था

न्यायव्यवस्थाके लिये दो प्रकारके न्यायालय थे, जिनमें एक कण्टक-शोधन और दूसरे धर्माधिकरण कहाते थे। कण्टकशोधन न्यायालय राज-नीतिक अपराधियोंका विचार कर उनके लिये दण्ड विधान करते थे। ये ही अनाचारियोंका विचार कर उन्हें दण्डित करते थे। एक प्रकारसे ये खास अदालत वा स्पेशल ट्राइब्यूनल और फौजदारी अदालतका काम करते थे। दीवानी मामलों वा लेनदेन, घरबार, जमीन जायदादका विचार करनेके लिये धर्माधिकरण थे।

राष्ट्रगुप्तिका मूलाधार शासनव्यवस्था है, क्योंकि इसके बिना राज्यमें न सेना रह सकती है और न न्यायालय। इसलिये किसीको एक ग्रामपर,

शासन व्यवस्था

किसीको १० और किसी को २० ग्रामोंपर, किसीको सौ और किसीको सहस्र ग्रामोंपर नियुक्त करनेकी सम्मति कौटिल्यने दी है। इनमें प्रत्येक अधिकारी अपने ऊपर-वाले अधिकारीको प्रजाके दोष बताया करता और प्रजाकी रक्षामें यत्नशील रहता था। यही नहीं, एक ग्रामाधिकारी दस ग्रामोंके अधिकारीको कर भी दिया करता था। इन सब ग्रामपतियोंके ग्राम और संग्राम वा ग्रामसमूह सम्बन्धी कार्योंकी देखभालके लिये एक निरालस विचक्षण मंत्री और प्रत्येक नगरकी देखभालके लिये एक सर्वाध्यक्ष नियुक्त करनेकी सम्मति भी कौटिल्यने दी है। ग्रामाधिपतियोंका यह भी कर्त्तव्य था कि चोर-डाकुओंसे अपने अधीन लोगोंकी रक्षा ही न करें, वरंच अपने ग्रामके चारो ओरके भूभागको दो मील तक चोरोंसे शून्य कर दें। यदि ग्रामाधिपतिके अधीन अधिक भूमि हो, तो चारो ओर आठ मीलतक डाकुओंसे सुरक्षित रखना चाहिये। प्रजाकी कोई वस्तु यदि चोरी जाती, तो ये उसकी क्षतिपूर्ति करनेको बाध्य थे।

कौटिल्यके मतानुसार राष्ट्र वा जनपदको करसंग्राहक वा समाहर्त्ता चार भागोंमें बाँटे तथा फिर ग्रामको ज्येष्ठ, मध्यम और अधम श्रेणियोंमें विभक्त करे। कौन ग्राम किस प्रकार राष्ट्रकी सहायता करनेमें समर्थ है यह जाननेके लिये परिहारक, आयुधीय, धान्यपशुहिरण्यदाता, कुप्यदाता और विष्टिदाता वर्गोंमें ग्रामोंको बांटना चाहिये। जो अग्रहार वा मन्दिरों-में लगे माफीके गांव हैं वे परिहारक, जो योद्धा दे सकते हैं वे आयुधोय, जो अन्नपशु आदि दे सकते हैं, वे धान्यपशुहिरण्यदाता, जो वन्य पदार्थ दे सकते हैं,वे कुप्यदाता और जो नौकर चाकर, मजूर या बोझ ढोनेवाले दे सकते हैं, वे विष्टिदाता कहाते थे। फिर दस दस पांच पांच गांवोंपर 'गोप' नामक अधिकारीको नियुक्त करनेको कहा है। यही कारिन्दा, तहसीलदार और पटवारी होता था तथा ग्राम पंचायतका सरपञ्च भी था। जनपदको जिन चार भागोंमें बाँटनेको कहा है, उनमें प्रत्येक अधिकारी की संज्ञा स्थानिक होती थी।

गावों की व्यवस्था और कार्यके लिये उनकी क्षमताका विवरण

भूमिका विवरण और आयका ब्योरा

समाहर्त्ताको ग्रामोंकी सीमा, खेतीकी भूमि, पड़ती भूमि, स्थल (ऊँची भूमि), केदार (साठी आदिके खेतोंकी भूमि), आराम (नगरवाटिका), षण्ड (केलेके खेत), वाट (उँखारी), वन (लकड़ीके जंगल), देवालय, सेतुबन्ध, (पब्लिक वर्क्स), सत्र (सदाव्रतके स्थान), प्रपा (प्याऊ वा पौंसला), पुण्यस्थान, विवीत (चरागाह) तथा रथ, गाड़ी और पैदल आने जानेके मार्गोंका ब्योरा अपनी पुस्तकमें लिखना चाहिये। ग्रामोंके स्त्रीपुरुषों, बच्चों और वृद्धोंकी संख्या, वर्णों, व्यवसायियोंकी संख्या तथा लोगोंकी आजीविकाका भी विवरण उसमें लिखना चाहिंये। पशुओंकी गणना भी लिखी रहे। आयका परिणाम ब्योरेवार अर्थात अलग अलग लिखे कि इतना हिरण्य, इतनी विष्टि, इतना कुप्य, इतना शुल्क और इतना दण्ड प्राप्त हुआ।

नगर और उसका विवरण

समाहर्त्ताकी भांति ही नागरक वा नगराध्यक्षको नगरकी व्यवस्था करनी चाहिये। नगरका विभाग कुलोंके अनुसार करे तथा दस, बीस और चालीस कुलोंपर 'गोप' नामक अधिकारी रखे। ये मुहल्ले वा वार्ड थे। इनके वर्ण, गोत्र, नाम और आयका पता गोपको रहे। जनपदकी भाँति दुर्ग भी चार भागोंमें बांटा जाय और प्रत्येक भाग 'स्थानीय' के अधीन रखा जाय। समाहर्त्ता और नागरक आदि कर्मचारी व्ययको अलग लिखकर शुद्ध (net) आय ही दिखावें। भीतर और बाहर जो काम किये गये हों, चाहे लुक छिपकर किये गये हों या खुल्लमखुल्ला अथवा विघ्नपूर्वक वा उपेक्षापूर्वक किये गये हों, सब अपनी पुस्तकमें लिख लें और राजाके सामने स्पष्ट रखें।

तृतीय भाग

१ राज्यका आयव्यय

राजनीतिशास्त्रके अनुसार राजा दंडधर और योगक्षेमवाह ही नहीं हुआ था, वरञ्च उसके लिये दंड और कोशकी व्यवस्था भी प्रजाने कर दी थी। शुक्रनीतिसारके मतसे कोशका मूल बल है और बलका मूल कोश है।[1] बलका ही नामान्तर दंड है, इसलिये कोश और दंडका अन्योन्याश्रयसम्बन्ध है। राजाके पास यथेष्ट बल होगा, तभी वह प्रजाकी रक्षा कर सकेगा और जब राजा प्रजारक्षण आदि अपने कर्त्तव्योंका पालन करेगा, तभी प्रजा उसे कर देगी और राजाके पास कर आवेगा, तभी उसका कोश भरेगा और जब राजाका कोश भरा होगा, तभी राजा बलकी व्यवस्था कर सकेगा। जो राजा इस साधारण कर्त्तव्यका पालन नहीं करता, वह कर रूपी वेतनका अधिकारी नहीं हो सकता। इसलिये राजकोश दंडमूलक है और दंड वा बल कोशमूलक है।

कोश और बलका अन्योन्याश्रय सम्बन्ध

राजाकी आयके मुख्य दो द्वार हैं एक वार्त्ता और दूसरा दंड। वैवस्वत मनुको निर्वाचित कर जब प्रजाने मात्स्यन्यायका अन्त किया, तब उन्हें अपने धान्यका छठा भाग, पण्यका दसवां भाग और कुछ सुवर्ण दिया।[2] महाभारतके अनुसार प्रजाने मनुको कोशवृद्धिके लिये पशुओं और हिरण्य-

राज्यकी आयके दो मुख्य मार्ग

---

१ बलमूलोभवत् कोशः कोशमूलो बलं स्मृतम् ॥१२६॥ अ० ४

२ मात्स्यन्यायाभिभूताः प्रजा मनुं वैवस्वतं राजानं चक्रिरे ॥६॥ धान्य-षड्भागं पण्यभागं हिरण्यं चास्यभागधेयं प्रकल्पयामासुः ॥७॥

१ अधि० अ० १३

का पचासवां भाग देना निश्चय किया था।[1] इसलिये सबसे पहले यही राजस्व वा राजकर था, जो राजवेतन कहलाया था। परन्तु राष्ट्रका बढ़ता हुआ व्यय इतनेसे ही पूरा नहीं हो सकता था। इसलिये आयके अन्य मार्गोंका विचार किया गया। प्रारम्भमें राजाके लिये ही कोशका प्रयोजन था, अनन्तर सेना, मंत्रियों और अन्य कर्मचारियोंको वेतनादि देनेके लिये धनकी आवश्यकता हुई, इसलिये नये नये राजकरों वा राज्यकरोंकी कल्पना की गयी।

कोशकी व्यवस्था

राजा निरङ्कुश कभी नहीं होता था और जब निरङ्कुश हो जाता था, तब उसके राजत्वका अन्त हो जाता था। इसलिये आयव्यय सम्बन्धी भी कुछ नियम थे। पाश्चात्य देशोंमें अनियंत्रित राजशक्ति नियंत्रित होनेसे ऐसे नियम बनाये गये कि राजा भी उनका उलङ्घन करनेका साहस न कर सकने लगा। हिन्दू राज्यशास्त्रमें राजकरके नियम तो पहलेसे ही थे, जिनका उल्लंघन राजा प्रजा किसीके लिये सहज नहीं था। परन्तु फिर भी राजकोशकी सुव्यवस्थाके लिये शुक्रनीतिसारका यह विधान बड़े कामका है कि आयके चार भाग किये जायं; एक मंत्रियोंके लिये, दूसरा अन्य अधिकारियोंके लिये, तीसरा अपने लिये और चौथा कोशमें डालनेके लिये।[2] अभिप्राय यह था कि राज्यकी आयका चतुर्थ भाग सदा रिजर्व फंड वा रक्षित निधिमें रहे और तीन चतुर्थ भागोंसे ही राज्यका व्यय निर्वाह किया जाय। कौटिल्यका भी मत है कि दुर्ग वा नगर और जनपद वा राष्ट्रकी शक्तिके

---

१ पशूनामधिपञ्चाशद्धिरण्यस्य तथैव च ॥२३॥
धान्यस्य दशमं भागं दास्यामः कोशवर्द्धनम्।
कन्यां शुल्के चारुरूपां विवाहेषूद्यतासु च ॥२४॥ शां० अ० ६७

२ अर्द्धांशेन प्रकृतयो ह्यर्द्धांशेनाधिकारिणः।
अर्द्धांशेनात्मभोगश्च कोशो शेषेण रक्ष्यते ॥ १८७ ॥ अ० १

अनुसार आयका चौथा कर्मचारियोंके लिये व्यय करना चाहिये। यदि अधिकसे योग्यतर कर्मचारी मिलें, तो उन्हें अधिक वेतन भी दिया जाय।[1]

राजकर राजाका वेतन है यह शुक्रनीतिसारका ही नहीं, महाभारतका भी मत है और कौटिल्यने तो यह स्पष्ट ही कह दिया है कि राजाके समान योग्यतावाले कर्मचारीका जितना वेतन हो, उसका तिगुना राजाका होना चाहिये।[2] इग्लैंडके राजाका वेतन वा सिविल लिस्ट राज्यारोहणके समय निश्चित हो जाता है, परन्तु कौटिल्यने उसका निर्द्धारण राज्यकी आयके आधारपर नहीं, राजाके गुणोंके आधारपर किया है। शुक्रनीतिसारने राजाको स्वामित्व और दासत्व दोनो इसी प्रसङ्गमें दे दिये है। कहा है कि परमेश्वरने राजाको स्वामी रूपसे प्रजाका दास बनाया है, जो निरन्तर कर्त्तव्य पालन करनेके कारण कर रूपसे अपना वेतन पाता है।[3] महाभारतमें कहा गया है कि शास्त्रानुसार एकत्र किया हुआ बलिका छठा भाग, शुल्क और अपराधियोंका दंड तुम्हारे वेतन रूपसे तुम्हारी आय है।[4] कौटिल्यने मन्त्री, पुरोहित सेनापति जैसे मुख्याधिकारियोंका वेतन ४८००० पण बताया है। इसका तिगुना राजाका वेतन हो तो वह १४४००० पण वार्षिक होगा।

राजाका वेतन

कौटिल्यने राज्यके व्ययके ये आठ अंग बताये हैं:—(अ) राजाका धर्मकार्य, (आ) राजाका गृहव्यय, (इ) दूतप्रेषण, (ई) भांडार,

---

१ दुर्गजनपदशक्त्या भृत्यकर्म समुदायवादेन स्थापयेत् ॥१॥ कार्यसाधनसहेन वा भृत्यलाभेन शरीरमवेक्षेत ॥२॥ अधि० ५ अ० ३

२ समानविद्येभ्यस्त्रिगुणवेतनो राजा········॥२३॥ अधि० ५ अ० ३

३ स्वभागभृत्या दास्यत्वे प्रजानां च नृपः कृतः।
ब्रह्मणा स्वामिरूपस्तु पालनार्थं हि सर्वदा ॥१८७॥ अ० १

४ बलिषष्ठेन शुल्केन दंडेनापराधिनाम्।
शास्त्रानीतेन लिप्सेथा वेतनेन धनागमम् ॥१०॥ शां० अ० ७१

कौटिल्यके अनुसार व्ययके खाते

कुप्यगृह, पण्यगृह और कर्मान्त, (उ) विष्टि वा बारबरदारी, (ऊ) आयुधागार तथा चतुरंगबल, (ए) पालतू तथा जंगली जानवरोंकी रक्षा और (ऐ) लकड़ी, घास, वनस्पति तथा उपवन। वर्त्तमान पारिभाषिक शब्दोंमें इस व्ययके ये खाते होते हैं :—(१) राजाका निजी खर्च (सिविल लिस्ट) तथा राजपरिवारके अन्य लोगोंका वेतन, देवपितृपूजा, दान स्वस्तिवाचन वा वेदपाठ, अन्तःपुर, महानस वा पाकशालाके व्यय उल्लिखित (अ) और (आ) के अन्तर्गत आ जाते हैं। (२) परराष्ट्र विभाग (३) राजकीय कोष्ठागार, जंगली चीजोंका भांडार, बिक्रीके मालका गोदाम और खेतीका सामान, (४) सेना विभाग और बारबरदारी, (५) पशुशाला और वन्य पशुओंकी कौतुक-शाला और (६) जंगल विभाग। इस सूचीमें नौबल और चारबलकी चर्चा नहीं है और इसमें मंत्रियों तथा अन्य अधिकारियोंके वेतनादिकका कोई हिसाब नहीं रखा गया है। सम्भवतः विभागोंके व्ययमें अधिकारियोंका वेतन आ जाता होगा, क्योंकि अर्थशास्त्रमें अधिकारियों और उनके वेतनोंकी लम्बी सूची है।

राजाओंके प्रजा-हितकर कार्य

यूनानी लेखकोंके वर्णनोंसे जाना जाता है कि मौर्य साम्राज्यमें सिंचाई और सड़कोंकी अच्छी व्यवस्था थी तथा कारुशिल्पियोंकी रक्षा, पोत तथा शस्त्रास्त्र बनाने और रुग्णालयोंका सुप्रबन्ध था। इन कामोंमें साम्राज्यकी चौथाई आय चली जाती थी। मौर्योंके बाद गुप्तों तथा काश्मीर, द्रविड़ और सिंहलके राजाओंने भी प्रजाहितके बहुतसे काम कर रखे थे। दक्षिणके चोल राजा तो सड़कोंकी स्वच्छता, लोगोंकी स्वास्थ्य-रक्षा और नगरोंकी सुन्दरता बढ़ानेमें राजकोशसे धन दिया करते थे। पाण्ड्य राजा साहित्यपरिषदोंको धन देते थे और गुप्त तथा पाल राजा विश्वविद्यालयोंके लिये अर्थ व्यय करना कर्त्तव्य समझते थे। नालन्दा विश्वविद्यालयके दस हजार विद्यार्थियोंकी शिक्षा आदिकी सुव्यवस्था

राज्यकी ओरसे ही थी। ईस्वी सातवीं शताब्दीमें वर्द्धन और चालुक्य सम्राटोंने मन्दिर और विहार राजकोशसे बनवाये थे। कलाशालाएँ और संग्रहालय भी थे। यद्यपि आजकलकी तुलनामें प्रजाहितके बहुतसे कार्य नहीं होते थे, तथापि समयके देखते जो होते थे, वे नगण्य नहीं थे। प्रजा भी सब कामोंमें हाथ बटाती थी। गुप्त साम्राज्यमें पाटलिपुत्रके लोगोंने रुग्णालय बनवाये थे। आन्ध्रके सेनानायक उशवदत्तने नासिकके गोवर्द्धन स्थानमें निज व्ययसे पहाड़ी गुफा बनवायी थी, ३ लक्ष गायोंका दान किया था, नदीका घाट और सीढ़ियां बनवायी थीं और १६ गाँव धर्मार्थ लगा दिये थे। और भी अनेक कार्य किये थे।

महाभारतमें खान, लवण, शुल्क, तर (उतारा) और हाथियोंके जङ्गलोंपर हितैषी आप्त पुरुषों वा अमात्योंको नियुक्त करनेका जो उपदेश दिया गया है, उससे आयके इन और मार्गोंका पता लगता है। कौटिल्यने भी कहा है कि कोशकी उन्नति खानोंसे होती है और कोश उन्नत होनेपर ही सेना भी तैयार की जा सकती है, कोशसे भूषित पृथिवी कोश और दण्ड द्वारा ही प्राप्तकी जा सकती है।[1] इसका अभिप्राय यही है कि खानोंसे सोना, चाँदी, लोहा, तांबा आदि धातुएँ, हीरा, माणिक्य, नीलम आदि मणि, लवण आदि रस प्राप्त होते हैं तथा सोना चाँदी यथेष्ट मात्रामें कोशमें रहनेसे सेना खड़ी की जा सकती है और फिर कोश और सेनाकी सहायतासे धन सम्पन्न देश जीते जा सकते हैं।

आयकी दृष्टिसे खनिका महत्त्व

कौटिल्यने आयके ७ द्वार वा अंग माने हैं, जिनमें दुर्ग और राष्ट्रके सिवा खनि, सेतु, वन, व्रज और वणिक्पथ हैं। खनि खानें हैं जिनसे धातु, पत्थर, मिट्टी, रस आदिकी प्राप्ति होती है। सेतुसे पुष्पफलवाट वा फल फूलोंके बाग, षण्डकेदार वा केले सुपारीके पेड़, अन्नोंके खेत और हल्दी,

आयके ७ साधन

---

१ आकरे लवणे शुल्के तरे नागबले तथा।
न्यसेदमात्यान्नृपतिः स्वाप्तान् वा पुरुषान् हितान् ॥२६॥ शां० अ० ६६

अद्रख आदिके उत्पत्तिस्थान समझना चाहिये। वनसे वनमें रहनेवाले पशु, हिरन, हाथियोंके जङ्गल और लकड़ी घास आदि द्रव्यका अभिप्राय हैं। व्रजका अर्थ गाय, बैल, भैंस, बकरी, भेड़, ऊंट, घोड़ा, गधा, खच्चर आदि हैं, तथा वणिकपथसे जल तथा स्थलके व्यापारमार्ग समझे जाते थे।

दुर्गकी आयके २१ खाते

दुर्गसे जो आय होती थी, उसके २१ भेद होते थे, यथा शुल्क, दण्ड, पौतव, नागरिक, लक्षणाध्यक्ष, मुद्राध्यक्ष, सुरा, सूना, सूत्र, तैल, घृत, क्षार, सौवर्णिक, पण्यसंस्था, वेश्या, द्यूत, वास्तुक, कारुशिल्पीगण, देवताध्यक्ष, द्वार और बाहिरिकादेय। शुल्क तो चुङ्गी है और दण्ड जुर्माना है। पौतव बांट, तराजू और तुलाईका टैक्स है। दुर्गके अन्दर ही नगर होता था, जिसकी व्यवस्था नगराध्यक्ष करता था। नगराध्यक्षके द्वारा जो आय होती थी, उसी खातेमें जमा होती थी। लक्षणाध्यक्षको किसी किसीने अमीन या कानूनगो बतलाया है, परन्तु कौटिल्यने लक्षणाध्यक्षके कार्योंका जो वर्णन २ अधि० १२ अ० सू० २७, २८ और २९ में किया गया है, उससे तो वह मिंट-मास्टर वा टकसालका अध्यक्ष जान पड़ता है। इसलिये सिक्के ढलनेसे जो आय होती थी, वह लक्षणाध्यक्ष खातेमें जमा होती थी। मुद्राध्यक्षका काम था कि एक मापक लेकर मुद्रा वा पर्मिट अथवा पास दे। बिना मुद्राके कोई दुर्गमें न प्रवेश कर सकता था और न निष्क्रमण, इसलिये मुद्राध्यक्षके खातेसे भी अच्छी आय होती होगी। सुरा, सूना, सूत्र, तैल, घृत, क्षार, वेश्या, और द्यूतके लिये भी अलग अलग अध्यक्षकी व्यवस्था थी। सुराध्यक्षका काम सुरा वा मदिरा बनवाना और उसका व्यापार कराना था तथा जो मनुष्य नियत स्थानोंसे अतिरिक्त बेचने, खरीदने या बनानेका काम करते थे वा नियत परिमाणसे अधिक ले जाते थे, उनपर जुर्माना भी यही करता था। इसलिये राज्यकी आयका यह भी अच्छा साधन था। यह एक प्रकारका एक्साइज़ आफिसर था। सूना मांसको कहते हैं। इसकी व्यवस्था करनेके लिये सूनाध्यक्षकी नियुक्ति होती थी। इसका काम था कि जिन पशुओंको मारनेका निषेध

है, उनका बध न होने दे और जो बध करे, उसपर दण्ड लगावे तथा बधालयके अतिरिक्त कहीं बध न होने दे। बछड़ा, बैल और गाय अबध्य होनेसे इनके मारनेवालेको दंड देना पड़ता था और बध्य पशुओंको जो अत्यन्त कष्ट पहुँचा कर मारता था, उसे भी दण्ड दिया जाता था। यदि सूनाध्यक्ष असावधानी करता, तो वह प्रथम साहस दण्डका दोषी होता था। ऊन या कपासका सूत कताने और बुनवाने और रस्सी आदि बनवानेका विभाग सूत्राध्यक्षके अधीन था। यहां भी दण्डादिकी व्यवस्था थी। तैल, घृत और क्षारसे भी ऐसी ही आय होती थी। वेश्या वा गणिका तथा नट, गाने, बजाने और नाचनेवाले, खेल तमाशे दिखानेवाले, कथा बांचनेवाले, कुशीलव (रासधारी), प्लवक (नट वा रस्सीपर चढ़नेका खेल करनेवाले), सौभिक (बाजीगर), चारण (भांड़, मल्ल, भाट), चित्रकारी करनेवाले, वीणा, वंशी, मृदंग बजानेवाले चित्त पहचाननेवाले, गन्ध बनानेवाले, माला गूंथनेवाले और अंग दाबनेवाले, शरीर सजाने और रंगमंचपर अभिनय करनेवाले गणिकाध्यक्षके अधीन थे। यही गणिकाओं-को राजसेवामें नियुक्त करता था, उनका वेतन निश्चित करता और नियमोल्लङ्घनकारियोंको दंड देता था। इसके खातेमें भी बहुधा दंडसे ही आय होती थी। द्यूतको नियंत्रण करने, उसके स्थान निर्दिष्ट करने, ज्वारियोंको पांसे आदि उपकरण देने, कपटपूर्वक वा धोखा देकर खेलने-वालेको दण्ड देने तथा जीतनेवालोंसे ५ प्रतिशत जितौनी लेनेके लिये द्यूताध्यक्ष नियुक्त था। इसके द्वारा आय द्यूत खातेमें जमा होती थी। सौवर्णिक सुवर्णाध्यक्षके अधीन कर्मचारी होता था, जो विशिखा वा सोना-पट्टीमें लोगोंके सोने चाँदीके गहने चतुर कारीगरोंसे बनवाता ही न था, समयपर देने दिलानेकी व्यवस्था भी ठीक रखता था। कारीगरोंका वेतन ठीक करना और काम समयपर न तैयार होने या बिगड़नेपर जुर्माना करना इसीका काम था। इसके खातेमें इसी प्रकार आय होती थी। पण्यसंस्था बाजार थी और जो लोग माल बेंचने आते, उनसे पण्याध्यक्ष मापसे बिकनेवाले मालपर १६ वां भाग, तुलनेवालेपर २०वां भाग और गिने

जानेवालेपर ११वां भाग लेता था। इस पण्यसंस्थासे राज्यको यही आय थी। घर, खेत, बाग बगीचे, तालाब और बांध आदिकी संज्ञा वास्तुक वा वास्तु थी। इनकी विक्रीपर राज्यको टैक्स मिलता था। कारुशिल्पीगणमें कारु तो मोटा काम करनेवाले और शिल्पी महीन काम करनेवाले होते हैं। ये यदि समयपर काम न करते या काम बिगाड़ देते तो इनका वेतन कटता और इनपर जुर्माना होता था। देवताध्यक्ष देवमन्दिरोंकी आमदनी राजकोशमें देता था। द्वारपाल प्रवेश और निष्क्रमण करनेवालोंसे जो धन लेता था, वह दुर्ग खातेमें जमा होता था। इसी प्रकार नट, नर्त्तक आदिसे मिलनेवाला टैक्स वाहिरिकादेय कहाता था।

राष्ट्रकी आयके ये १३ खाते थेः—सीता, भाग, बलि, कर, वणिक्, नदीपाल, तर, नाव, पट्टन, विवीत, वर्त्तिनी, रज्जू और चोररज्जू। सीता राज्यकी वह आय थी, जो राजकीय खेतोंकी उपजसे होती थी। प्रजाके खेतोंमें जो अन्न उपजता था, उसका राजभाग भाग कहाता था। बलि उपहार वा राजाके धर्मकार्यका टैक्स था। कर फलों वा वृक्षोंका टैक्स था। वणिक् मालकी तुलाईका वेतन वा टैक्स था। नदी-पालका काम यह था कि किसीको चोरीसे नदी पार न करने दे और कोई करे, तो उसपर जुर्माना करे। यह धन नदीपाल खातेमें जमा होता था। तर नदी पार करनेकी उतराई थी। राजकीय नावें किरायेपर देने और इनका भाड़ा लेनेकी भी व्यवस्था थी। यह धन नाव खातेमें जमा होता था। नदी वा समुद्र किनारेके बन्दरोंपर जो व्यापारी टैक्स था, वह पट्टन कहाता था। विवीत पशुचर भूमिको कहते हैं। जो लोग कपट मुद्रा वा बिना मुद्राके विवीत मार्गसे निकल जाते हों, उन्हें पकड़कर दंड देना विवीताध्यक्षका काम था। यही छिपे हुए शत्रुओंकी सूचना भी अन्तपालको देता था। द्रव्यवनों और हस्तिवनोंमें घास, ईंधन, कोयला आदिकी संज्ञा वर्त्तिनी थी। इनसे होनेवाली आय वर्त्तिनी कहाती थी। भयके स्थानसे

राष्ट्रीय आयके १३ खाते

होकर व्यापारियोंकी सुखपूर्वक यात्रा करा देनेके टैक्सका नाम रज्जू और चोरोंसे रक्षा करनेका टैक्स चोररज्जू कहाता था।

राज्यकी आयके ये मोटे खाते दिखाये गये हैं, परन्तु इनके अतिरिक्त भी थे। करोंकी व्यवस्था देखनेसे जाना जाता है कि उपभोग्य पदार्थोंपर, करां और प्रत्यक्ष करोंके सिवा राज्यको दंड तथा औद्योगिक कार्योंसे भी कर रूपसे भाग मिलता था। कोई खाता ऐसा न था, जहाँसे कुछ प्राप्तिका ढङ्ग बैठ सके और राज्य उसकी अपेक्षा कर दे। जहाँ तक होता था, करकी कोई मद छूटने न पाती थी। कौटिल्यने क्षीणकोश राजाको बताया है कि जहाँ बहुत अन्न हो और लोगोंको वर्षाका जल मिलता हो, वहाँवालोंसे तिहाई वा चौथाई अन्न मांगो। परन्तु श्रोत्रिय, ब्राह्मणों, राज्यकी सीमापर बसनेवालों, खानोंसे रत्नादि निकालनेवालों, सड़कें बनानेवालों, किलेबन्दी करनेवालों, पड़ती जमीन उठानेमें सहायता देनेवालोंसे तथा जिनके पास यथेष्ठ सामग्री जीवन-निर्वाहकी न हो, उनसे न लो। जो अन्न छिपावे, उससे अन्नके दामका अठगुना और जो दूसरेकी फसल चुरावे और स्ववर्ग हो, तो उसपर ५० गुना जुर्माना किया जाय और विदेशी हो तो उसे बधका दंड दिया जाय। जिनसे कर न लिया जाय, उनसे चन्दा माँगा जाय। कम चन्दा देनेवालेकी निन्दा भेदिये करें और अधिक चन्दा देनेवालेको राजा छत्र वा किरीट देकर सम्मानित करे। लोगोंसे चन्दा वसूल करनेके लिये झूठे चन्दोंकी सूचना दी जाय। पाषण्डों, मन्दिरों तथा मृतकोंकी और जिनके घर जल गये हों, उनकी सम्पत्ति मंगा ली जाय। कंटकशोधनके लिये राजद्रोहियोंको नाना प्रकारसे फंसाकर उनकी सम्पत्तिको राजधन बना लेना भी आवश्यक बताया गया है, क्योंकि कंटकशोधनके साथ ही इससे आर्थिक लाभ भी होता था।

कौटिल्यका कोश भरने का ढंग

प्रजासे कर लेनेके अनेक साधनोंका वर्णन महाभारतमें भी है, परन्तु इसके लिये उसके उत्पीड़नका तीव्र निषेध है। किस प्रकार कर लेना चाहिये इस विषयमें कहा गया है कि राजा भलीभाँति समझ

राजा लालचसे राष्ट्रको न उजाड़े

बूझ कर बराबर कर लगावे। लालचसे अपने और दूसरोंके मूल—राष्ट्रको न उजाड़े। लोभके द्वारोंको बन्द कर राजा प्रेम दिखावे। बहुत खानेवाले राजासे प्रजा द्वेष करने लगती है और ज़िससे द्वेष किया जाता है, उसका कल्याण नहीं होता और अप्रियको फल भी नहीं मिलता। सुबुद्धिसे राष्ट्रका दोहन उसी प्रकार करे, जैसे बछड़ा करता है। दूध पीकर जो बछड़ा मोटा होता है, वही बहुत कष्ट सह और भारी बोझ ढों सकता है। जैसे दुर्बल बछड़ेसे कुछ काम नहीं होता, वैसे ही बहुत दूहे हुए राष्ट्रसे बड़ा काम नहीं हो सकता। जो राजा राष्ट्रपर अनुग्रह करके उसकी रक्षा करता है, वह सत्कार्योंका अनुष्ठान करता हुआ महत्फल प्राप्त करता है और उसकी विपद् दूर करनेके लिये राष्ट्र धन देता है। परन्तु जो राजा शास्त्रविरुद्ध कर लादकर अर्थके लिये प्रजाका उत्पीड़न करता है, वह आत्मघात करता है। नित्य सोनेका अंडा देनेवाली मुर्गीको मारकर एक साथ सब अंडे निकाल लेनेवाले लालची मनुष्यकी भांति प्रजाका कर्षण करनेवाले राजाकी कुगति होती है। इस उदाहरणके बदले महाभारत ने लालची राजाकी उपमा दूधके उस लोभीसे दी है जों बहुत दूध पानेकी आशासे गायके थन काट लेता है। उसका कहना है कि जो दुधारी गायकी सेवा करता है, वही नित्य दूध पाता है। इसी प्रकार जो राजा सुरक्षित राष्ट्रके साथ व्यवहार करता है, उसके कोशकी नित्य वृद्धि होती है।[1]

---

१ संवेद्य तु तथा राज्ञा प्रक्षेप्याः सततं कराः।
नोच्छिन्द्यादात्मनो मूलं परेषाञ्चापि तृष्णया॥ १८॥
ईहाद्वाराणि संरुध्य राजा सम्प्रीतदर्शनः।
प्रद्विषन्ति परिख्यातं राजानमतिखादिनम्॥ १६॥
प्रद्विष्टस्य कुतः श्रेयो नाप्रियो लभते फलम्।
वत्सौपम्येन दोग्धव्यं राष्ट्रमक्षीणबुद्धिना॥ २०॥

महाभारत और शुक्रनीतिसार[1] दोनोका मत है कि कर लेनेके समय राजा मालीकासा आचरण करे और राष्ट्रपर संकट आवे, तब प्रजासे ऋण ले और संकट दूर हो जानेपर व्याजसहित ऋण चुका दे। महाभारतका कहना है कि राजा मालीकी भाँति कर ले, अंगार न बने। माली बननेसे राज्यका पालन करता हुआ उसे चिरकाल तक भोगेगा। पर राज्यके आक्रमणसे यदि तेरा धन नष्ट हो जाय, तो अब्राह्मणों-

राजा कर लेनेके समय मालीका सा आचरण करे

भृतो वत्सो जातबलः पीडां सहति भारत।
न कर्म कुरुते वत्सो भृशं दुग्धो युधिष्ठिर ॥ २१ ॥
राष्ट्रमप्यतिदुग्धं हि न कर्म कुरुते महत्।
यो राष्ट्रमनुगृह्णाति परिरक्षन् स्वयं नृपः ॥ २२ ॥
संजातमुपजीवन् स लभते सुमहत्फलम्।
आपदर्थे च निर्यातं धनं त्विह विवर्द्धयेत् ॥ २३ ॥ शां० अ० ८७
अर्थमूलोऽपि हिंसा च कुरुते स्वयमात्मनः।
करैरशास्त्रदृष्टैर्हि मोहात्संपीडयन् प्रजाः ॥ १५ ॥
ऊधश्छिन्द्यात्तु यो धेन्वाः क्षीरार्थी न लभेत् पयः।
एवं राष्ट्रमयोगेन पीडितं न विवर्द्धते ॥ १६ ॥
यो हि दोग्ध्रीमुपास्ते च स नित्यं विन्दते पयः ॥
एवं राष्ट्रमुपायेन भुञ्जानो लभते फलम् ॥ १७ ॥
अथ राष्ट्रमुपायेन भुज्यमानं सुरक्षितं।
जनयत्यतुलां नित्यं कोशवृद्धिं युधिष्ठिर ॥ १८ ॥ शां० प० अ० ७१

१ मालाकारस्य वृत्त्यैव स्वप्रजारक्षणेन च।
शत्रुं हि करदीकृत्य तद्धनैः कोशवर्द्धनम् ॥ १३३ ॥
करोति स नृपः श्रेष्ठो मध्यमो वैश्यवृत्तितः।
अधमः सेवया दण्डतीर्थदेवकरग्रहैः ॥ १३४ ॥ अ० ४ शुक्रनीतिसार

को समझा बुझाकर उनका धन ले ले।[1] कैसे समझावे इस विषयमें कहते हैं कि इस घोर आपत्कालमें दारुण भय उपस्थित हुआ है, इससे आपकी रक्षाके लिये मैं आपसे धन माँगता हूँ। संकट दूर होनेपर मैं आपका धन लौटा दूँगा।[2]

सारांश राजाको प्रजासे कर लेनेके लिये हिन्दू राज्यशास्त्रका यह आदेश है कि इन सिद्धान्तोंपर कर लगाना चाहिये :—

प्रजापर कर लगाने के सिद्धांत

(अ) प्रजा भविष्यमें अधिक मात्रामें लगनेवाले करोंका भार सह सके।

(आ) प्रजाको करका भार न जान पड़े।

(इ) कर बढ़ाना हो, तो थोड़ाथोड़ा बढ़ावे और उस समय बढ़ावे, जब राज्यकी समृद्धि बढ़ रही हो।

(ई) उद्योगधन्धोंपर क्या लागत बैठती है और क्या मजूरी पड़ती है इसका निश्चव करके कर लगावे, क्योंकि बना लाभके कोई नया काम नहीं करता और राज्यको उससे लाभ भी नहीं होता।[3]

(उ) कच्चे माल, खर्च, मजूरी और मजूरकी अवस्थाका विचार करके देख ले कि पक्का माल बनानेमें क्या खर्च बैठता है।[4]

---

१ मालाकारोपमो राजन् भव माङ्गारिकोपमः।
तथा युक्तश्चिरं राज्यं भोक्तुं शक्ष्यसि पालयन्॥ २०॥
परचक्राभियानेन यदि ते स्याद्धनक्षयः।
अथ साम्नैव लिप्सेथा धनमब्राह्मणेषु यत्॥ २१॥ शां० अ० ७१

२ अस्यामापदि घोरायां सम्प्राप्ते दारुणे भये।
परित्राणाय भवतः प्रार्थयिष्ये धनानि वः॥ २९॥
प्रतिदास्ये च भवतां सर्वं चाहं भयक्षये॥ शां० अ० ८७

३ फलं कर्म च संप्रेक्ष्य ततः सर्वं प्रकल्पयेत्॥ १६॥ शां० अ० ८७

४ फलं कर्म च निर्हेतु न कश्चित्सम्प्रवर्त्तते॥ शां० प० ८७

(ऊ) बाहरी मालपर इस विचारसे कर लगावे कि पूंजी कितनी लगी, कितनी दूरसे माल आया, मँगानेमें क्या खर्च पड़ा, कुल खर्च कितना हुआ और व्यापारीने कितनी झोंकी उठायी तथा माल कितनेको बिका।

(ए) राज्यकी हानि करनेवाली विलासिताकी सामग्रीका आगमन, कर लगाकर घटाना चाहिये।

(ऐ) लाभदायक माल बिना करके ही आने देना चाहिये।

(ओ) जो माल देशमें न पैदा होता हो और जिसमें भविष्यमें उत्पादनका बीज हो, उसके आनेमें कर न लगावे।

(औ) शस्त्र, वर्म, कवच, लोह, रथ, रत्न, धान्य और पशु बिना करके आने तो पावें, पर जाने न पावें।

———

२ धर्माधिकरण

जिस स्थानमें धर्मशास्त्रानुसार व्यवहारके विवेचनका प्रस्ताव होता है, वह धर्माधिकरण कहाता है।[1] दूसरे शब्दोंमें कह सकते हैं कि व्यवहारका विवेचन और विवादकी मीमांसा करनेवाली संस्था धर्माधिकरण कहाती है। वैदिक युगमें राजा राष्ट्रसभामें बैठकर व्यवहारों और विवादोंका निर्णय किया करता था। संघराज्योंमें संघमुख्य वा राष्ट्रपति यही काम किया करते थे। कालान्तरमें धर्मसभा वा धर्माधिकरण इन्हीं राष्ट्र सभाओंका काम प्रायः वैसे ही चलाने लगे, जैसे आज प्रिवी कौंसिलकी जुडीसल कमिटी चलाती है। इन धर्मसभाओंमें कितने और किस योग्यताके मनुष्य बैठने चाहिये इस विषयमें धर्मशास्त्र वा स्मृति ग्रन्थोंमें विस्तारपूर्वक विचार किया गया है। ये धर्माधिकरण व्यवहार अर्थात् लेन देन, जमीन जायदादके विशेष रूपसे और साधारण रूपसे चोरी, जारी, गाली-गलौज और मारपीटके मामलों-पर विचार करते थे।

धर्माधिकरण और उसका कार्य

मौर्य साम्राज्यमें ग्राम पंचायतें ग्रामके विवादोंपर विचार करती थीं, जिनमें गोप वा ग्रामाधिकारी न्यायाधीशका आसन ग्रहण करता था। ग्राम पंचायत चोर वा जारको गांवसे बहिष्कृत कर देती थी। प्रत्येक नगर वा संग्रहणमें न्यायालय होते थे, जिनमें आसपासके दस गांवोंके विवादोंका विचार होता था। इन्हें परगना अदालत कह सकते हैं। इनके ऊपर ४०० गांववाले नगरों वा द्रोणमुखोंके न्यायालय थे, तह-

मौर्य साम्राज्यकी न्याय व्यवस्था

---

१ धर्मशास्त्रानुसारेण अर्थशास्त्रं विवेचनम्।
यत्राधिक्रियते स्थाने धर्माधिकरणं हि तत्॥ ५६५॥ अ० ४ शुक्र-नीतिसार।

सील वा सब-डिविजनकी अदालत कहे जा सकते हैं। इनके ऊपर स्थानीय वा जिलेका न्यायालय था। इनके ऊपर साम्राज्यके दो प्रदेशोंके मध्य भागके न्यायालय तथा इनके ऊपर पाटलिपुत्रके न्यायालय थे तथा सबसे ऊपर सम्राट्का न्यायालय था जिसमें न्यायकर्त्ताओंके साथ बैठकर सम्राट् व्यवहारपर विचार करता था।

धर्मस्थका अर्थ

न्यायकर्त्ताको कौटिल्यने धर्मस्थ कहा है और बताया है कि देव, ब्राह्मण, तपस्वी, स्त्री, बालक, बूढ़े, रोगी तथा अपने दुःखोंको कहनेमें असमर्थ अनाथोंके कार्योंको धर्मस्थ स्वयं कर दें। देशकालका बहाना करके न तो उनके धनका अपरण करें और न उन्हें तंग करें तथा जो पुरुष विद्या बुद्धि, पौरुष, कुल आदिके कारण बढ़े हुए हों, उनकी सदा प्रतिष्ठा करें। इस प्रकार धर्मस्थ छलकपटरहित होकर अपने सब कार्य करें और सबका बराबर निरीक्षण करते हुए जनताके विश्वासपात्र तथा लोकप्रिय बनें।[1]

प्राड्विवाकका अर्थ तथा सभाका संगठन

राजधानी व पुरमें जो धर्मसभा होती थीं, उसका सभापति राजा और उसकी अनुपस्थितिमें प्राड्विवाक होता था। शूद्रकके 'मृच्छकटिक' नाटकमें जो लगभग ईस्वी ५ वीं शताब्दी में रचा गया था तथा पीछे बने हुए धर्मशास्त्रोंमें कहा गया है कि न्यायाधीशकी गद्दीपर प्राड्विवाक बैठे वा धर्मसभा न्याय करे। शाकुन्तल नाटकसे जाना जाता है कि जब राजा दुष्यन्त धर्मसभामें नहीं गये, तब ब्राह्मण मंत्री पिशुण-

---

१ देवब्राह्मणतपस्विस्त्रीबालकवृद्धव्याधितानामनाथानामनभिसरतां धर्मस्थाः कार्याणि कुर्युः ॥ २८॥ न च देशकालभोगच्छलेनातिहरेयुः ॥ २९ ॥ पूज्या विद्याबुद्धपौरुषाभिजन कर्मातिशयतश्च पुरुषाः ॥३०॥
एवं कार्याणि धर्मस्थाः कुर्युरच्छलदर्शिनः।
समाः सर्वेषु भावेषु विश्वास्या लोकसंप्रियाः ॥३१॥ अधि० ३ अ० २०

को धर्मासनपर बैठनेका आदेश दिया। वादी और विवादीसे प्रश्न करनेके कारण 'प्राट्' और सत्यासत्यका विवेचन करनेके कारण 'विवाक' होता है, इसलिये उसे 'प्राड्विवाक' कहते हैं। अथवा सभ्योंके साथ बैठकर जो धर्माधर्मका विचार करता है, वह प्राड्विबाक है।[1] प्राड्विवक के सिवा धर्म सभामें और भी सभासद वा सभ्य होते थे। मनुका मत है कि प्राड्-विवाकके अतिरिक्त तीन सभ्य सभामें होने चाहिये।[2] कौटिल्यका कहना है कि जनपद-सन्धि (सीमाप्रान्त), संग्रह, द्रोणमुख और स्थानीयमें अमात्य-वत् तीन धर्मस्थ (जज) होने चाहिये।[3] शुक्रनीतिसारके अनुसार धर्मस्थोंकी संख्या ऊन रहनी चाहिये, चाहे सात हो वा पांच वा तीन। जिस सभामें ब्राह्मण बैठे हों, वह सभा यज्ञसमान होती है और राजा उस सभामें कार्योंके सुननेवाले, अच्छे पंडित वैश्योंको नियुक्त करे। राजाद्वारा नियुक्त हो वा अनियुक्त हो, धर्मज्ञाता सभामें बोल सकता है, क्योंकि जो धर्मशास्त्र जानता है, वह दैवी वाणी बोलता है।[4]

---

१ वादिनौ पृच्छति प्राड् वा विवाको विविनक्त्यतः।
विचारयति सभ्यै र्वा धर्माधर्मौ विवक्ति वा ॥५८४॥ अ०४ शुक्रनीतिसार

२ यदा स्वयं न कुर्यात्तु नृपतिः कार्यदर्शनम्।
तदा नियुञ्ज्याद्विद्वांसं ब्राह्मणं कार्यदर्शने ॥ ९ ॥
सोऽस्य कार्याणि संपश्येत्सभ्यैरेव त्रिभिर्वृतः।
सभामेव प्रविश्याग्र्यामासीनः स्थित एव वा ॥ १० ॥ अ० ८

३ धर्मस्थास्त्रयस्त्रयोऽमात्या जनपदसन्धि-संग्रह द्रोणमुख-स्थानीयेषु व्याव-हारिकानर्थान् कुर्युः ॥ ३८ ॥ अधि० ३ अ० १

४ व्यवहारधुरं वोढुं ये सक्ताः पुङ्गवा इव।
लोकवेदज्ञधर्मज्ञाः सप्त पञ्च त्रयोऽपिवा ॥ ५४८ ॥
यत्रोपविष्टा विप्राः स्युः सा यज्ञसदृशी सभा।
श्रोतारो वणिजस्तत्र कर्त्तव्याः सुविचक्षणाः ॥ ५४९ ॥
अनियुक्तो नियुक्तो व धर्मज्ञो वक्तुमर्हति।
दैवीं वांचं स वदति यः शास्त्रमुपजीवति ॥ ५५० ॥ अ० ४

यज्ञसदृश सभाके कुछ उपकरण भी शुक्रनीतिसारमें बताये गये हैं और सभामें किसका क्या कर्त्तव्य और क्या अधिकार है यह भी स्पष्ट कर दिया गया है। उसके अनुसार राजा, अधिकारी (प्राड्विवाक), सभासद, धर्मशास्त्र, गणक, लेखक, सुवर्ण, अग्नि, जल और चपरासी ये दसों कार्यसिद्धिके अंग हैं और इनके सहित राजा जिस सभामें बैठकर न्याय अन्याय-का विचार करता है, वह सभा यज्ञके तुल्य है। अध्यक्ष वा प्राड्विवाक तो अर्थी वा वादीका लिखित अर्थ वा दावा पढ़कर सुनावे, सभासद व्यावहारिक छानबीन करे, स्मृति निर्णय अर्थात् जय, दान और दण्ड बतावे और राजा दण्ड दे। शपथके लिये सोना और अग्नि, प्यासे और क्रोधीके लिये जल, द्रव्यादि गिननेके लिये गणक और निर्णय लिखनेके लिये लेखक होना चाहिये।[1] परन्तु बृहस्पतिका मत है कि सभासद विवादका विचार करें, प्राड्विवाक निर्णय करे और राजा दंड दे। यही व्यवस्था समीचीन जान पड़ती है।

यज्ञसदृश सभाके उपकरण

शुक्रनीतिसारमें इसपर बड़ा जोर दिया गया है कि व्यवहार और विवादका विचार एकान्तमें न किया जाय और न राजा अकेला ही यह काम करे, वरञ्च मंत्री, पुरोहित, ब्राह्मण और प्राड्विवाकके साथ विचार करे। इसका कारण पक्षपातकी सम्भावना वा सन्देह है। पक्षपातके पाँच कारण होते हैं, प्रीति, लोभ, भय, वैर और एकान्तमें वादीविवादीकी

---

१ नृपोऽधिकृतसभ्याश्च स्मृतिर्गणकलेखकौ ॥ ५५९ ॥
हेमाग्न्यम्बु स्वपुरुषाः साधनाङ्गानि वै दश ।
एतद्दशाङ्गकरणं यस्य मध्यस्थ पार्थिवः ॥ ५६० ।
वक्ताध्यक्षो नृपः शास्ता सभ्याः कार्यपरीक्षकाः ।
स्मृतिर्विनिर्णयं ब्रूते जयं दानं दमं तथा ॥५६१॥
शपथार्थे हिरण्याग्नी अम्बुतृषितक्षुब्धयोः ।
गणको गणयेदर्थं लिखेन्न्यायं च लेखकः ॥५६२॥ अ० ४ शुक्रनीति०

बातें सुनना।[1] जब राजा धर्माधिकरणमें न बैठे, तब वहाँ बैठनेके लिये ऐसे ब्राह्मणोंको नियत करे जो वेदोंके पारगामी, जितेन्द्रिय, कुलीन, निरपेक्ष, अनुद्वेगकारी, स्थिरबुद्धि, परलोकसे डरनेवाले, उद्युक्त (तैयार) और क्रोधरहित हों। यदि ब्राह्मण न मिलें, तो क्षत्रिय और क्षत्रिय न मिलें तो धर्मशास्त्रज्ञ वैश्योंको नियुक्त करे। इनके साथ ही व्यवहारके ज्ञाता, आचारवान्, गुणी, शत्रुमित्रमें समान भाव रखनेवाले, धर्मज्ञ, सत्यवादी, निरालस, क्रोध, काम और लोभको जीते हुए प्रियवादी सभासद सब जातियोंसे नियुक्त करे। इससे जान पड़ता है कि सभासद तो वर्त्तमान समयकी जूरीका काम करते थे, वेदज्ञ ब्राह्मण और उसके अभावमें धर्मशास्त्रज्ञ क्षत्रियादि धर्मशास्त्रका मत बताते थे।[2] धर्मशास्त्रज्ञ सभापति वा

---

१ धर्मशास्त्रानुसारेण क्रोधलोभविवर्जितः।
सप्राड्विवाकः सामात्यः सब्राह्मणपुरोहितः। ५२८ ॥
समाहितमतिः पश्येद् व्यवहाराननुक्रमात्।
नैकः पश्येच्च कार्याणि वादिनोः शृणुयाद्वचः ॥५२९॥
रहसि च नृपः प्राज्ञः सभ्याश्चैव कदाचन।
पक्षपाताधिरोपस्य कारणानि च पञ्च वै ॥ ५३० ॥
रागलोभभयद्वेषावादिनोश्चरहः श्रुतिः। शुक्रनीति० अ० ४

२ यदा न कुर्यान्नृपतिः स्वय कार्यविनिर्णयम्।
तदा तत्र नियुञ्जीत ब्राह्मणं वेदपारगम् ॥ ५३५॥
दान्तं कुलीनं मध्यस्थमनुद्वेगकरं स्थिरम्।
परत्रभीरुं धर्मिष्ठमुद्युक्तं क्रोधवर्जितम् ॥ ५३६ ॥
यदा विप्रो न विद्वान्स्यात् क्षत्रियं तन्नियोजयेत्।
वैश्यं वा धर्मशास्त्रज्ञं शूद्रं यत्नेन वर्जयेत् ॥५३७॥
व्यवहारविदः प्राज्ञा वृत्तिशीला गुणान्विताः।
रिपौ मित्रे समा ये च धर्मज्ञाः सत्यवादिनः ॥ ५३८ ॥

अध्यक्ष होता था। सभासदोंके सम्बन्धमें एक बात मार्केकी कही गयी है। वह यह है कि जिन लोगोंका विवाद हो, उन्हींके समव्यवसायी (हमपेशे) ही सभासद बनाये जायँ, जैसे किसानोंके विवादमें किसान, कारुशिल्पियोंके विवादमें कारुशिल्पी, सूद लेनेवालोंके विवादमें कुसीदजीवी, नाचनेवालोंके विवादमें नाचनेवाले, संन्यासी और चोरोंके मामलेमें चोर सभासद नियुक्त किये जायं, क्योंकि सम्प्रदायवाले ही अपने सम्प्रदायके नियमोंके विषयमें विचार कर सकते हैं।

महाभारतमें धर्मसभाके सदस्यों वा सभासदोंका स्वतंत्र उल्लेख तो नहीं है, परन्तु दंडके स्वरूप वर्णनमें व्यवहारकी चर्चा भी की गयी है।

महाभारतके मत से धर्म सभाके सभासद और उनकी योग्यता

कहा गया है कि वादी प्रतिवादीसे व्यवहार उत्पन्न होता है। वह दो प्रकारका है एक कुलके आचरणका उल्लंघन और दूसरा शास्त्रकी अवहेलना।[1] अन्यत्र मंत्रियोंकी योग्यताके वर्णनमें कहा गया है कि चार ब्राह्मणों, आठ क्षत्रियों, इक्कीस वैश्यों, तीन शूद्रों और एक सूतको मंत्री बनावे। ब्राह्मण वेदज्ञ, स्पष्टवादी और पवित्र हों; क्षत्रिय बली और शस्त्रधारी हों। वैश्य धनसम्पन्न हों; शूद्र विनीत तथा अपने कार्यमें पटु हों; और आठ गुणोंसे युक्त सूत पौराणिक हो। इस प्रकार ३७ मंत्रियोंकी सभा बन जाता है। परन्तु

निरालसा जितक्रोधकामलोभः प्रियम्वदाः।
राज्ञा नियोजितव्यास्ते सभ्याः सर्वासु जातिषु ॥५३९॥
कीनाशाः कारुकाः शिल्पिकुसीदश्रेणिनर्त्तकाः।
लिङ्गिनस्तस्कराः कुर्युः स्वेन धर्मेण निर्णयम् ॥५४०॥

१ मर्तृप्रत्यय उत्पन्नो व्यवहारस्तथाऽपरः।
तस्माद् यः सहितो दृष्टोभर्तृप्रत्ययलक्षणः ॥५०॥
व्यवहारस्तु वेदात्मा वेदप्रत्यय उच्यते।
मौनश्च नरशार्दूल शास्त्रोक्तश्च तथाऽपरः ॥५१॥ शां० प० १२१

वास्तवमें ये राज्यकार्य संचालक मंत्री न थे, व्यवहारपर विचार करना और मत देना ही इनका काम था! ये ५० वर्षकी वयसे कमके न हो, दवंग हों, श्रुतिस्मृतिके ज्ञाता, समदर्शी, विनीत, अद्वेषी, कार्यके विवादोंका निर्णय करनेमें समर्थ, निर्लोभ और सात घोर और बली दुर्गुणोंसे शून्य हों। आठ मंत्रियोंके साथ वैठकर राजा मंत्रणा करे और फिर अपना निर्णय प्रजाको दिखानेके लिये राष्ट्रमें भेज दे। इस व्यवहारसे सदा प्रजाकी रक्षा किया करे।[1] इस वर्णनसे ही स्पष्ट हो जाता है कि यह सभा मंत्रि-परिषद् नहीं है और न ये मन्त्री मन्त्री ही हैं। ये धर्मसभाके सभासद या जूरी ही हैं इसमें सन्देह नहीं।

व्यवहारमें चार बातें होती थीं पूर्वपक्ष, उत्तरपक्ष, क्रिया और निर्णय और इसलिये इसकी संज्ञा चतुर्विध न्याय थी। जिन्हें आज वादी प्रतिवादी कहते हैं, उनके पुराने नाम थे अर्थी प्रत्यर्थी, अर्जीदावेको आवेदन

---

१ चतुरो ब्राह्मणान्वैद्यान् प्रगल्भान् स्नातकान् शुचीन् ।
क्षत्रियांश्च तथाचाष्टौ बलिनः शस्त्रपाणयः ॥७॥
वैश्यान् वित्तेन सम्पन्नानेकविंशतिसंख्यया ।
त्रींश्च शूद्रान्विनीतांश्च शुचीन् कर्मणि पूर्वके ॥८॥

अष्टाभिश्च गुणैर्युक्तं सूतं पौराणिकन्तथा ।
पञ्चाशद्वर्षवयसं प्रगल्भमनुसूयकम् ॥ ९ ॥

श्रुतिस्मृतिसमायुक्तं विनीतं समदर्शिनम् ।
कार्ये विवदमानानां शक्तमर्थेष्वलोलुपम् ॥१०॥

वर्जितं चैव व्यसनैः सुघोरैः सप्तभिर्भृशम् ।
अष्टानां मंत्रिणां मध्ये मंत्रं राजोपधारयेत् ॥११॥

ततः सम्प्रेषयेद्राष्ट्रे राष्ट्रीयाय च दर्शयेत् ।
अनेन व्यवहारेण द्रष्टव्यास्ते प्रजाः सदा ॥१२॥ शां० अ० ८५

व्यवहारके चार पद

कहते थे तथा धर्माधिकरणमें अपने पक्षकी पुष्टिमें अर्थी जो वक्तव्य सुनाता था, वह भाषा कहाता था। भाषाको पूर्वपक्ष और प्रत्यर्थीके जवाबदावेको उत्तरपक्ष कहते थे। विचारका नाम क्रिया और निष्कर्षका नाम निर्णय था। अर्थी प्रत्यर्थीसे भिन्न कार्यका ज्ञाता साक्षी कहाता था। व्यवहारके निर्णयमें दिव्य (शपथ) और साक्षीका भी प्रयोजन होता था। उस युगमें वकील न थे। वकीलका काम प्राड्विवाक कर देता था, पर उसे अर्थी वा प्रत्यर्थीको कुछ देना नहीं पड़ता था। इसके सिवा धर्मशास्त्र समझनेवाले चाहे सभासद हों वा नहीं अथवा बुलाये गये हों वा विना बुलाये धर्माधिकरणमें पहुँचे हों, इन्हें अनुचित कार्य देख-कर बिना पूछे ही बोलनेका अधिकार था। इस आशयका एक श्लोक मनुस्मृतिमें है,[1] जिसे शुक्रनीतिसारने उद्धृत किया है।[2] थोड़े हेर फेरसे यही बात नारदस्मृतिमें भी कही गयी है। डा० प्रमथनाथ बनर्जीको आश्चर्य होता है कि यह व्यवस्था वास्तवमें कैसे ठीक रहती होगी। हमारी समझमें धर्मस्थके प्रमाद वा भ्रमसे न्यायकी रक्षाके लिये यह व्यवस्था थी। ये धर्मके वकील थे, अर्थी प्रत्यर्थीके नहीं।

व्यवहारकी उत्पत्ति सत्य और मिथ्या दोनोसे होती है, क्योंकि एक मनुष्य सत्य बोलता है और दूसरा असत्य बोलता है, तब सत्यवादीको

व्यवहार निर्णयमें साक्षी और लेख्य

अपनी सत्यता सिद्ध करनेके लिये धर्मधिकरणकी शरणमें जाना पड़ता है। कभी अर्थी सत्य बोलता है और कभी प्रत्यर्थी, पर प्रत्यर्थी सत्यवादी कम ही देखे जाते हैं। इसलिये व्यवहारके निर्णयके लिये

---

१ सभां वा न प्रवेष्टव्यं वक्तव्यं वा समंजसम्।
अब्रुवन् विब्रुवन् वापि नरो भवति किल्विषी ॥१३॥ अ० ८

२ अनियुक्तो नियुक्तो वा धर्मज्ञो वक्तुमर्हति।
दैवीं वाचं स वदति यः शास्त्रमुपजीवति ॥५५०॥ अ० ४ शुक्रनीतिसार

साक्षीका प्रयोजन होता हैं। मनुके मतसे साक्षीको गृहस्थ, पुत्रवान् अथवा पड़ोसी क्षत्रिय, वैश्य या शूद्र होना चाहिये। जो पहले झूठा माना जा चुका हो, व्याधिपीड़ित हो, अथवा पापसे दूषित हो, जिसका लेनदेनका सम्बन्ध हो, जो मित्र, नातेदार, सहायक वा शत्रु हो, वह साक्षी नहीं हो सकता। राजा, कारीगर, नट, ब्रह्मचारी, संन्यासी, श्रोत्रिय, संघसे निकाला हुआ, दस्यु, निषिद्ध कर्मोंसे आजीविका करनेवाला, बूढ़ा, बच्चा, अतिशूद्र, अत्यन्त दुःखित वा मत्त, क्षुधा पिपासासे पीड़ित, थका हुआ, कामातुर, पागल, क्रोधी और चोर मनुस्मृतिके मतसे साक्षी नहीं हो सकते।[1] एक साक्षीकी बातकी पुष्टि यदि कोई और न करता, तो उसीपर निर्णय नहीं होता था। परन्तु मारपीट, चोरी, जारी, अपमान आदिमें वे भी साक्षी हो सकते थे, जो साक्षी होनेके अयोग्य बताये गये हैं। साक्षियोंको सत्य बोलनेके लिये शपथ (दिव्य) लेनी पड़ती थी। धर्मस्थ उससे कहाता था 'जो साक्षी सत्य बोलता है, वह यहाँ अनन्त कीर्ति पाता और मरनेपर अच्छे लोकोंको जाता है।' झूठ बोलनेवाले साक्षीपर १०० से १००० पणतक दण्ड होता था। मनुके अनुसार ब्राह्मण अपनी सत्यता, क्षत्रिय अपने यान वा सवारी और शस्त्रास्त्रकी, वैश्य अपने अन्न, पशु और सोनेकी और शूद्र महापापोंको अपने शिर लेनेकी सौंहें करता था। लेख्य साक्ष्यका उपयोग किया जाता था। विष्णुस्मृतिमें तीन प्रकारके लेख्य बताये गये हैं, राजकर्मचारियोंद्वारा माने हुए, साक्षियोंके द्वारा माने हुए और न माने हुए। जिस लेख्यपर साक्षियोंके हस्ताक्षर होते थे, वह प्रामाणिक माना जाता था।

---

१ गृहिणः पुत्रिणो मौलाः क्षत्रविट्शूद्रयोनयः।
अर्थ्युक्ताः साक्ष्यमर्हन्ति न ये केनचिदनापदि ॥ ६२ ॥
नार्थसम्बन्धिनो नाप्ता न सहाया न वैरिणः।
न दृष्टदोषाः कर्त्तव्या न व्याध्यार्त्ता न दूषिताः ॥ ६४ ॥
न साक्षी नृपतिः कार्यो न कारुककुशीलवौ।
न श्रोत्रियो न लिङ्गस्थो न सङ्गस्थो न सङ्गेभ्यो विनिर्गतः ॥ ६५ ॥

प्रत्यर्थीके उत्तरके भेद और सत्य निर्णयका साधन

प्रत्यर्थीके उत्तरके चार भेद होते थे, 'मिथ्या' वा अस्वीकार करना, 'सम्प्रतिपत्ति' वा स्वीकार करना, 'प्रत्यवस्कन्दन' वा बचावमें विशेष प्रकारकी बात कहना और प्राङ्न्याय अर्थात् यह कहना कि इस मामलेका निर्णय पहले हो चुका है। प्रत्यक्ष, युक्ति, अनुमान और उपमानसे भी सत्यका निर्णय किया जाता था।

दोषीनिर्दोषका निर्णय करनेके अन्य प्रकार

बहुतसे मामलोंमें अभियुक्तका दोष वा निर्दोषिता सिद्ध करनेके लिये जल, अग्नि, तुला (तराजू) और विषका प्रयोग किया जाता था। भारतकी यात्रा करनेवाले चीन देशी श्यूआन चुआङ् ने बताया है कि अभियुक्त एक बोरेमें पत्थर और घड़ेके साथ गहरे पानीमें छोड़ दिया जाता था। यदि पत्थर डूब जाता था और वह तिरता रहता था, तो निर्दोष समझा जाता था और यदि वह डूब जाता था, तो दोषी समझा जाता था। यह जलकी परीक्षा थी। अग्निकी परीक्षामें अभियुक्त लोहेके तपे बर्त्तनमें बैठाया जाता, उसपर उसके पैर और हथेलियां रखायी जाती थीं और वह वर्त्तन उससे चटाया जाता था। यदि जीभमें छाले पड़ जाते, तो वह दोषी और न पड़ते तो निर्दोष समझा जाता था। जो ऐसी परीक्षासे डरते थे, उन्हें फूलकी एक कली आगमें फेंकनी पड़ती थी। यदि फूल खिल जाता, तो वे निर्दोष और जल जाता था, तो दोषी समझे जाते थे। तुलाकी परीक्षामें एक पलड़ेपर अभियुक्त बैठाया जाता था और दूसरे पलड़ेपर पत्थर रखा जाता था। भार दोनो ओर समान होता था। यदि अभियुक्त निर्दोष होता था, तो उसका पलड़ा नीचा रहता था और दोषी होता था, तो पत्थरवाला पलड़ा गिर जाता और अभियुक्तवाला उठ

नाध्यधीनो न कर्त्तव्यो न दस्युर्न विकर्मकृत।
न वृद्धो न शिशुर्नैको नान्त्यो न विकलेन्द्रियः ॥ ६६ ॥
नार्त्तो न मत्तो नोन्मत्तो न क्षुत्तृष्णोपपीडितः।
न श्रमार्त्तो न कामार्त्तो न क्रुद्धो नापि तस्करः ॥ ६७ ॥ मनुस्मृतिः अ० ८

जाता था। विषप्रयोगकी विधि यह थी कि एक मेढ़के अंगमें घाव करके विष भर दिया जाता था। यदि मेढ़ा मर जाता था, तो अभियुक्त दोषी और जीता रहता था तो निर्दोष समझा जाता था।

राज्यशास्त्रके पुराने ग्रन्थोंमें तो कहीं वकीलकी चर्चा नहीं है, परन्तु शुक्रनीतिसारमें वकील या मुख्तारका स्पष्ट उल्लेख है। कहा गया है कि

शुक्रनीतिसारमें वकीलकी चर्चा

जो अर्थी वा प्रत्यर्थी व्यवहार न जानता हो वा अन्य कार्यके कारण व्याकुल हो, उसे व्यवहारके ज्ञाता प्रतिनिधिको सदा नियुक्त करना चाहिये। अप्रगल्भ (जो अपनी बात ठीक ठीक न समझा सके), जड़, उन्मत्त, वृद्ध, स्त्री, बालक और रोगीके पूर्वपक्ष वा उत्तरपक्षको प्रतिनिधि अथवा पिता वा माता, मित्र, भ्राता अथवा सम्बन्धी कहें।[1] प्रतिनिधिका किया हुआ कार्य अर्थी वा प्रत्यर्थीका ही समझा जाता था। ऐसे प्रतिनिधि-को एक आने रुपया पारिश्रमिक वा वेतन मिलनेकी व्यवस्था दी गयी है।

धर्माधिकरणमें प्रजाके मामले ही आते थे, चाहे वे दीवानी हों या फौजदारी अर्थात् क्रय-विक्रय, वास्तुविक्रय, लेनदेन, उपनिधि (धरोहर—safe custody), अप्राप्तव्यवहार (नाबालिग) व्यक्तिको वेचने,

---

१ व्यवहारानभिज्ञेन ह्यन्यकार्याकुलेन च ॥ ६२९ ॥
प्रत्यर्थिनार्थिना तज्ज्ञः कार्यः प्रतिनिधिस्तदा ।
अप्रगल्भजडोन्मत्तवृद्धस्त्रीबालरोगिणाम् ॥ ६३० ॥
पूर्वोत्तरं वदेद्‌बन्धुर्नियुक्तो वाथवा नरः।
पिता माता सुहृद्‌बन्धु भ्राता सम्बन्धिनोऽपि च ॥ ६३१ ॥
यदि कुर्युरुपस्थानं वादं तत्र प्रवर्त्तयेत् ।
यः कश्चित्कारयेत्किञ्चिन्नियोगाद्येन केनचित् ॥ ६३२ ॥
तत्तेनैव कृतं ज्ञेयमनिवर्त्त्यं हि तत्स्मृतम् ।
नियोगितस्यापि भृतिं विवादात् षोडशांशिकीम् ॥ ६३३ ॥
शुक्रनीतिसार अ० ४

धर्माधिकरणमें प्रजाके ही मामले आते थे।

वेतन, डाके, गालीगलौज, धमकी, निन्दा और मारपीटके सभी मामलोंपर वहां विचार होता था। कौटिल्यने चोरीके मामलेके विचारके लिये तो कण्टक-शोधन न्यायालयकी व्यवस्था की है, पर डाकेके मामलोंका विचार करनेका स्थान धर्माधिकरण बताया है।

दण्डकी व्यवस्था

अभियुक्तको दंड देनेके लिये उसके अपराधका विचार कर लिया जाता था। जो अपराध खुल्लमखुल्ला डंकेकी चोट किये जाते थे, उनकी संज्ञा 'साहस' थी।[1] छोटे साहसमें छोटा दंड होता था। पर बड़े साहसके तीन भेद थे प्रथम साहस, मध्यम साहस और उत्तम साहस। प्रथम साहस दंड ४८ से ९६ पण, मध्यम साहस दंड २०० से ५०० पण और उत्तम साहस दंड ५०० से १००० पण होता था। साधारण अपराधोंके लिये साधारण दंडकी ही व्यवस्था थी। तांबा, पीतल, कांच तथा हाथीदांतके बर्त्तनोंके लिये डाका डालनेवालेको प्रथम साहस, बड़े बड़े पशु, मनुष्य, खेत, घर, हिरण्य, सुवर्ण, महीन वस्त्रोंके लिये डाका डाले तो मध्यम साहस दंड और स्त्री वा पुरुषको बलात्कारसे बांधने वा बंधवानेवाले वा राजाज्ञासे बंधे हुएको छुड़ानेवालेको उत्तम साहस दंड दिया जाय यह आचार्योंकी व्यवस्था थी।[2] और कौटिल्यने भी उसे मान लिया था।

---

१ साहसमन्वयवत्प्रसभकर्म ॥ १ ॥ अधि० ३ अ० १७

२ ताम्रवृत्तकंसकाचदन्तभांडादीनां स्थूलद्रव्याणामष्टचत्वारिंशतपणावर षण्णवतिपरं पूर्वस्साहसदंडः ॥ ८ ॥ महापशुमनुष्यक्षेत्रगृहहिरण्य-सुवर्णसूक्ष्मवस्त्रादीनां स्थूलकद्रव्याणां द्विशतावरः पञ्चशतपरः मध्यम-स्साहसदंडः ॥ ९ ॥ स्त्रियं पुरुषं वाभिषह्य बध्नतो बन्धयतो बन्धं वा मोक्षयतः पञ्चशतावरः सहस्रपर उत्तमः साहसदंड इत्याचार्याः ॥१०॥ अधि० ३ अ० १७

३ कण्टकशोधन

चलती गाड़ीके रास्तेमें जो रोड़ा अटकाता है, वह कंटक समझा जाता है और शासनव्यवस्थाके सुचारु रूपसे चलनेमें जो बाधा डालता है, वह राज्य वा शासनका कंटक समझा जाता है। राजकीय नियमोंके विरुद्ध जो आचरण करते अथवा राजा- वा राज्यके विरुद्ध षड्यंत्र करते थे, वे राज्यके कंटक समझे जाते थे और इनको शोधने वा मार्गसे हटानेके लिये जो संस्था थी, वह कंटकशोधन कहाती थी।

कण्टम और कण्टक शोधन

कण्टक दो प्रकारके कहे गये हैं। एकमें धोबी, दर्जी, सुनार, तांती आदि शिल्पी, दूकानदार, गिरों गांठ रखनेवाले कुसीदजीवी (सूदखोर) और दूसरेमें राज्यको आर्थिक हानि पहुँचानेवाले तथा राज्य नियमोंका पालन न करनेवाले और उनके विरुद्ध आचरण करनेवाले थे। अग्नि, जल, महा-मारी, चूहे, सांप और बाघकी गिनती भी कण्टकोंमें ही होती थी। पहले प्रकारके कण्टक प्रजाको ठगनेके कारण कण्टक समझे गये, क्योंकि धोबी समयपर कपड़े धोकर न दे, खराब कर दे या फाड़ दें, तो प्रजाके कष्टका कारण होता है। तांती या जुलाहा कपड़ा बुननेके लिये अधिक सूत ले और कम कपड़ा दे, तो प्रजाको ठगता है। सुनार चोरीका माल ले और उसकी सूचना सुवर्णाध्यक्षको न दे तो दण्डभागी हो। थोड़े दामोंपर अधिकका माल लेनेवाले चोरीके अप-राधी समझे जाते थे। गाहकके सोनेचांदीमें जो खाद मिलाता, उससे कुछ चुरा लेता अथवा अच्छे मालके बदले खोटा माल देता, तो दण्ड-भागी होता। कसेरों और बर्त्तन बनानेवालोंके लिये वेतन, मालके छीजन और दण्ड आदिकी व्यवस्था कौटिल्यने की है।

कारीगरों द्वारा चोरी रोकने की व्यवस्था

दूकानदार लोगोंको ठगने न पावें इसलिये पण्याध्यक्षको आदेश था कि सन्देह होनेपर दूकादारके बटखरों,तुला, परिमाणी और द्रोणकी जांच करो और

यदि तुलामें एक कर्षकी कमी हो और परिमाणी और द्रोणमें[१] एक पलकी कमी हो, तो हर्ज नहीं। परन्तु अधिक हो तो वे दण्डित किये जायं। बड़ी तोलसे लेकर छोटी तोलमें बेचनेवाला, घटिया मालको बढ़िया या नकलीको असली कहकर अथवा एक प्रकारका माल दिखाकर दूसरे प्रकारका देनेवाला भी दण्ड भागी होता था। यदि व्यापारी आपसमें मिलकर किसी वस्तुकी बिक्री रोक दें और फिर अनुचित मूल्यपर क्रयविक्रय करें, तो दण्डार्ह माने जायं। दूकानदार उचितसे अधिक लाभ न करे और मिलावटी पदार्थ न बेंचे इसके लिये कड़े नियम थे। प्रत्येक दूकानदार को कितना लाभ हुआ यह पण्याध्यक्षकी बहीमें लिखा जाता था। पण्याध्यक्ष दूकानदारोंसे अन्नादि लेकर प्रजाको सस्ते भावपर बेच सकता था। दूकानदारके लाभकी सीमा निर्दिष्ट थी, जिससे वह प्रजाको लूट नहीं सकता था।

दूकानदार प्रजाको लूटने नहीं पाते थे।

दूसरे प्रकारके कण्टकोंके भी भेद किये गये हैं। सरकारी कोश भाण्डारमें जाली नाणक (सिक्के) रखनेवालों और वहाँसे रत्न चुरानेवालों, गड़े हुए धनको बिना प्रमाण अपनानेवालों, तथा राजाको सूचना दिये बिना ही किसी रोगीकी चिकित्सा करनेवालों-की गणना भी कण्टकोंमें की गयी है। गड़े हुए धनको अपनानेवालेको उत्तम साहस दण्ड दिया जाता था। नट उचितसे अधिक वेतन (फी) अपने प्रेक्षणका (पेखने या तमाशेका) नहीं ले सकते थे। ये यदि अर्थदण्ड न चुकाते, तो इनपर कोड़ोंकी मार पड़ती थी। भलेमानस बने हुए बनियों, कारीगरों, नटों, भिखारियों और ऐन्द्रजालिकोंसे भी प्रजाकी रक्षाकी व्यवस्था थी।

दूसरे प्रकारके कण्टकोंमें प्रत्यक्ष कंटक

उक्त प्रत्यक्ष कण्टकोंके अतिरिक्त अप्रत्यक्ष कण्टक भी थे। ये राजकर्मचारी थे। इनके शोधनके लिये समाहर्त्ताको आदेश था कि समग्र जनपदमें

---

१ परिमाणी और द्रोणके अर्थ परिशिष्टमें देखिये।

अप्रत्यक्ष कंटक सिद्ध, तपस्वी, संन्यासी, निरन्तर घूमनेवाले ऐन्द्रजालिक भाट, नट, भाँड़, कलवार, हलवाई, पक्का मांस वेचनेवाले, रसोइये आदिके वेषमें गुप्तचरोंको नियुक्त करे। वे ग्रामके

अधिकारियोंकी प्रामाणिकता और अप्रामाणिकताका (ईमानदारी और बेईमानीका) पता लगावें और जिसपर सन्देह हो, उसे सत्रीके साथ धर्मस्थके पास भेज दें और सत्री विश्वस्त धर्मस्थसे कहे कि यह हमारा बन्धु है और अमुक अपराधका अपराधी है, पर इसे आप क्षमा कर दें और इतने रुपये घूस ले लें। इसी तरह कण्टकशोधन न्यायालयके अधिकारी प्रदेष्टासे कहें। यदि ये उसे छोड़ दें, तो अपने पदसे हटा दिये जायं। इसी प्रकार सत्री गांवके अधिकारीसे कहें कि अमुक मनुष्य बड़ा धनी है, उसपर विपद् आयी है, चलो इसी बहाने उसे लूटें। यदि वे ऐसा करें, तो घूंस लेनेके अपराधमें निकाल दिये जायं। इसी प्रकार लोगोंको झूठा साक्ष्य देनेके लिये रुपयेका लालच दिया जाय और जो इसमें फँस जायँ, वे निर्वासित कर दिये जायँ। दूसरेकी स्त्री, पुत्रवधू वा पुत्रीको वशमें कर देनेके लिये धनके लोभसे कोई उद्यत हो जाय, तो वह 'संवनन-वशीकरणकर्ता' कहकर निर्वासित कर दिया जाय। अपने ऊपर भूतप्रेत बुलाकर प्रजाको कष्ट देनेवालों तथा मारण करनेवालों, किसीको मूर्छित करने वा विष देनेवालों वा जाली (कपट) नाणक ढालनेवालोंके लिये भी निर्वासनके दण्डकी व्यवस्था थी। लोकमें उपद्रव करनेवाले ये १३ प्रच्छन्न वा अप्रत्यक्ष कंटक बताये गये हैं:—धर्मस्थ, प्रदेष्टा, ग्रामाध्यक्ष, कूट (झूठा) साक्षी, कूट श्रावणकार (झूठे कागज पत्र तैयार करनेवाले) वशीकरणकर्ता, कृत्याशील (अपने ऊपर भूतप्रेत बुलानेवाले), अभिचारशील (मारण करनेवाले), विष देनेवाले, मदनयोग-व्यापारी (बेहोश करनेवाले), कूट रूपकारक (जाली सिक्के बनानेवाले), नकली सोनेके व्यापारी। इनसे प्रजाकी रक्षा करना राज्य अपना कर्तव्य समझता था।

कण्टक पुरुषोंका विचार कण्टकशोधन न्यायालयमें होता था। मंत्रियों

के गुणोंसे युक्त तीन प्रदेष्टा कण्टकशोधनके अधिकारी बनाये जाते थे। वर्तमान समयके स्पेशल ट्राइब्यूनलके (खास अदालतके) ढंगपर यह न्यायालय था। बहुत करके इसका बहुतसा काम अभियुक्तकी अनुपस्थितिमें होता था। जिसका माल चोरी जाता था, उसके तथा और लोगोंके सामने साक्षोंसे सन्देहमें पकड़े हुए मनुष्यके देश, जाति, गोत्र, नाम, काम, सम्पत्ति, मित्र और निवासस्थानके विषयमें पूछा जाता था और अच्छी तरह जिरह करके उसके कथनकी आलोचना की जाती थी। अनन्तर सन्दिग्ध मनुष्यसे पूछा जाता था कि कल रातको तुम कहां थे, तुमने क्या काम किया था और पकड़े जानेके समय क्या काम किया। यदि निरपराध होनेके पूरे प्रमाण मिल जाते, तो वह छोड़ दिया जाता अन्यथा अपराधी समझा जाता। जो मनुष्य साधुको चोर बताता वा चोरको छिपाता, उसे भी चोरके समान ही दण्ड दिया जाता। यदि शत्रुतावश चोर किसी भलेमानसको फंसाता, तो वह निर्दोष समझा जाता। परन्तु प्रदेष्टा किसी निरपराध मनुष्यको दण्ड देता, तो वह प्रथम साहसदण्डका भागी होता था।

कण्टकशोधनकी व्यवस्था और कार्यपद्धति

निरपराधको दण्ड न मिले इसकी विशेष सतर्कता थी और इसलिये सन्देहमें पकड़े हुए मनुष्यसे चोरी करनेके साधनों, परामर्शदाताओं, चोरीके माल और साझेके विषयमें पूछताछ की जाती थी। कौन घरके अन्दर घुसा और क्या क्या माल लाया तथा किसको क्या हिस्सा मिला यह जानकर जब निश्चय कर लिया जाता था कि वह सचमुच चोर है, तभी उसको दंड दिया जाता था; क्योंकि मारपीटके डरसे भी लोग अपराध स्वीकार कर लेते हैं। महाभारतमें माण्डव्यकी कथा दी हुई है जिसने न चोरी करने पर भी चोर होना स्वीकार किया था। ऐसी घटनाएँ और भी हुई तथा होती हैं। सन् १९०८ ईस्वीमें मेदिनीपुर जिलेके नारायणगढ़ स्टेशनके पास तत्कालीन लेफटेनैंट गवर्नर सर एंड्रयू फ्रेज़रकी ट्रेन उलटानेके लिये रेलकी

निर्दोष दंड न पावे

पटरी हटायी गयी थी। इस अभियोगपर पुलिसने कुछ कुलियोंको पकड़ा था और इन विचारोंने निर्दोष होनेपर भी पुलिसकी मार अथवा त्राससे बचनेके लिये अपराध स्वीकार कर लिया था तथा कलकत्ता हाईकोर्टसे ये दण्डित भी हो गये थे। परन्तु ज़ब अलीपुर बम केसके मुख्य अभियुक्त वारीन्द्रकुमार घोषने कहा कि हम लोगोंने सर ऐंड्रयू की ट्रेन उलटानेका यत्न किया था, तब हाइकोर्टने सरकारसे सिफारिश की कि कुली निर्दोष थे, इसलिये उन्हें छोड़ देना चाहिये! तब वे निरपराध छूटे। इन्हें अकारण जो कष्ट मिला, वह भाग्यका दोष समझा गया। इसके लिये कोई दण्डित न हुआ। पर यदि कौटिल्यकी व्यवस्था इस समय चलती तो पहले तो कुलियोंपर संकट ही न आता और आता तो कई अधिकारी भी दण्ड पाते।

शारीरिक दण्ड और उसके भेद

अर्थदण्डके सिवा शारीरिक दण्डका विधान था। यह चार प्रकारका था, छ डंडे या चार कोड़े मारना, या हाथ पैर बांधकर उलटा लटका देना या नाकमें नमकका पानी डालना। अल्प अपराध करनेवालों तथा बालक, वृद्ध, रोगी, भूखे प्यासे थकेमांदे अथवा अफरकर खाये हुए मनुष्यको डंडे या कोड़े मारनेका निषेध था। ब्राह्मण वा तपस्वीको पकड़कर इधर उधर घुमाना ही यथेष्ट दंड था। गर्भिणी वा एक महीनेकी प्रसूता स्त्रीको दंड नहीं दिया जाता था। उक्त चार प्रकारके दंडके अतिरिक्त दंडके ये भी प्रकार थेः—(क) नौ हाथ लम्बे बेंतसे १२ बेंत मारना, (ख) दो रस्सियोंसे दोनो टांगोंको अलग अलग लपेट करंजवेकी छड़ीसे २० बार मारना, (ग) ३२ थप्पड़ मारना, (घ) बिच्छू बनाना अर्थात् बायें हाथको पीछेकी ओरसे बायें पैरसे बांधना और दाहने हाथको दाहने पैरसे बांधना (ङ) दोनो हाथों और दोनो पैरोंको बांधकर लटका देना, (च) हाथके नखोंमें सुई चुभोना, (छ) लस्सी पिलाकर मूत्र विसर्जन न करने देना, (ज) उँगलीका एक पर्व जला देना, (झ) घी पिलाकर एक दिनतक धूपमें अथवा आगके सामने तपाना, (ञ) जाड़ोंकी रातमें भीगी खाटपर सुलाना।

(ख) और (घ) प्रयोग दो दो प्रकारके थे, इसलिये शारीरिक दण्डके १८ भेद हुए। ब्राह्मणके लिये मृत्यु वा ताड़न दण्डका निषेध था, पर उसके मस्तक-पर चिह्न कर दिया जाता था जिससे जातीय व्यवहारोंमें वह पतित समझा जाता था। चोरी करनेपर कुत्तेकी शकल, मनुष्यहत्या करनेपर कबन्ध वा बिना सिरके धड़की शकल, गुरुपत्निगामीके मस्तकपर योनि तथा मद्यपके माथेपर मदिराकी हांडीकी शकल बना दी जाती थी। ऐसे चिह्न बनाकर उक्त पापी ब्राह्मण देशसे निकाल दिया जाता था। नेपालमें ब्राह्मणको देश निकाला देनेका नियम अबतक है।

दंडकी व्यवस्था

यूनानी ग्रंथकारोंने जो यह लिखा है कि पाटलिपुत्रमें चोरी नहीं होती थी, उसमें तनिक भी अत्युक्ति नहीं जान पड़ती; क्योंकि कौटिल्यने ऐसे नियम बनाये थे जिनके डरसे किसीका साहस न होता होगा कि चोरी करे। कर्मान्त वा कारखानेसे जो कर्मचारी बहुमूल्य रत्नादि चुराता, उसे प्राणदण्ड मिलता; पर साधारण वस्तु चुरानेके लिये प्रथम साहस दण्ड था।[1] सरकारी खेतोंसे एकसे चार माष दामतककी वस्तु चुरानेवालेके लिये १२ पण, १॥ पणतककी चुरानेवालेको २४ पण, २ पणकी चुरानेपर प्रथम साहस, ४ पणकी चुरानेपर मध्यम साहस, ८ पणकी चोरीपर उत्तम साहस दण्ड और १० पण मूल्यकी वस्तु चुरानेपर प्राणदण्डकी व्यवस्था थी। इसी प्रकारका दण्ड गोदाम, दूकान आदिसे चुरानेपर भी दिया जाता और कोश, भांडागार और अक्षशालासे जो कोई वस्तु चुराता, उसपर दूना दंड लगता था। राजकर्मचारियोंको और भी भयंकर दंड भोगना पड़ता था। जो कर्मचारी आप चुराता और चोरोंका नाम लगाता, उसे चित्रबध वा कष्टपूर्वक प्राणघात दंड दिया जाता। प्रजाके खेतोंसे चुरानेवालेको उक्त दण्डका चौथाई अर्थात् ३ पण देना पड़ता था, पर साथ ही चोरकी देहमें गोबर लपेट दिया

१ प्रथम साहस पहला अपराध, मध्यम साहस दूसरा अपराध और उत्तम साहस तीसरा अपराध है।

जाता और वह नगरभरमें घुमाया जाता था। इससे ड्योढ़ेके चोरको इसका ड्योढ़ा अर्थ दंड होता था और इसकी कमरमें मिट्टीके सिकोरे बाँधकर यह नगरमें बाजेके साथ घुमाया जाता था। दूनेके चोरको दूना दंड होता था और गोबरकी राखसे शरीर काला करके ढिंढोरा पीटकर वह नगरमें घुमाया जाता था। एक पणकी वस्तु चुरानेवाले दो पण अर्थ-दण्ड देते थे अथवा सिर मुंड़ावाकर देशसे निकाल दिये जाते थे। दो पण चुरानेवालेके लिये याती ४ पण दण्ड था या ईंट बांधकर देश निकाला दिया जाता था। जिस वस्तुका दिन रात रक्षा होती, वह यदि कोई चुराता, तो उक्त दंडसे दूना दंड पाता। ५० पण मूल्यकी वस्तु चुरानेपर प्राणदंड था।

साधारण मनुष्य जाली कागज वा मुहर आदि बनाता, तो उसे प्रथम साहस, अध्यक्ष बनाता तो मध्यम साहस, ग्रामाधिकारी बनाता तो उत्तम साहस दंड और समाहर्त्ता बनाता तो प्राणदण्ड पाता।

अधिकारियोंको दूनादंड

अपराधके अनुसार न्यूनाधिक दंडकी व्यवस्था भी थी। यदि धर्मस्थ विचारके समय अभियोक्ताको डराता, धमकाता या उँगली दिखाता, बाहर निकाल देता वा घूँस लेता, तो प्रथम साहस दंडका भागी होता। गालीगलौज करता था तो दंड पाता था। यदि पूछने योग्य बात न पूछता और न पूछने योग्य पूछता, पूछकर उत्तर न लिखता, साक्षीको सिखलाता, स्मरण कराता, उसकी अधूरी बात पूरी कर देता, तो उसे मध्यम साहस दंड दिया जाता। अत्यन्त उपयोगी साक्षीसे न पूछता वा अनुपयोगीसे पूछता, बिना साक्ष्य लिये विचार समाप्त कर देता, सत्यवादी साक्षीको कपट पूर्ण बातोंसे मिथ्यावादी ठहराता, व्यर्थ समय बिताकर साक्षीको थकाकर हटा देता, साक्षीके क्रमपूर्ण वाक्योंको उलट पुलट देता, साक्षियोंको बीच बीचमें सहायता देता, विचारपूर्वक निर्णीत विषयको फिर उपस्थित करता, वह उत्तम साहस दण्डका अपराधी होता था। दुबारा अपराध करता, तो दूने दण्डका भागी होता था। लेखक यदि कही हुई बात न लिखता और न कही हुई लिखता, बुरी तरह कही हुई

अच्छी तरह लिखता अथवा अच्छी तरह कही हुई बुरी तरह लिखता अथवा कथनका तात्पर्य बदल देता, तो प्रथम साहस अथवा अपराधके अनुसार दण्ड पाता था।

संरुद्ध, चारका और बन्धनागार विषयक नियम

धर्मस्थकी निर्दिष्ट चारकासे (हवालातसे) यदि कोई कर्मचारी घूँस लेकर अपराधीको निकाले अथवा जेलमें सोने, बैठने, भोजन करने, मलमूत्र त्यागने, चलने फिरनेकी सुविधा कर या करा दे, तो उसके लिये ३ पणसे उत्तरोत्तर अधिक दण्ड देनेका विधान था। परन्तु जो कर्मचारी अपराधीको चारकासे जाने देता वा चले जानेकी प्रेरणा करता, तो उसे मध्यम साहस दण्डके साथ ही अपराधीका देना भी चुकाना पड़ता था। बन्धनागार वा जेलसे छोड़नेवालेके लिये भयंकर दण्ड था। उसकी सारी सम्पत्ति हर ली जाती थी और उसे प्राणदण्ड भी भुगतना पड़ता था। बन्धनागाराध्यक्षकी आज्ञाके बिना संरुद्ध या कैदीको बाहर घुमानेसे २४ पण और यह काम करानेवालेपर ४८ पण दंड होता था। यदि संरुद्धको स्थानान्तर करे वा उसके खाने पीनेमें रुकावट डाले, तो ९६ पण दण्डका भागी हो। उसे क्लेश दे या उससे घूँस दिलवावे तो मध्यम साहस दण्ड और संरुद्धका बध कर दे, तो १००० पण दण्डका अपराधी होता था। मोल ली हुई वा गिरों रखी हुई दासीके साथ जेलमें व्यभिचार करनेवालेको प्रथम साहस, चोरका साथ करनेसे मध्यम साहस और आर्याके साथ दुराचार करनेका दण्ड प्राणवध था। अध्यक्ष अपराधी हो तो इसके लिये भी प्राणवधकी व्यवस्था थी। चारका तोड़े बिना कोई संरुद्धको निकाल देता, तो मध्यम साहस दण्ड और तोड़कर निकाल देता, तो प्राणवधका दंड पाता था। बंधनागारसे निकालता, तो उसकी सारी सम्पत्ति हर ली जाती और प्राणवधका दण्ड दिया जाता था।

व्यभिचारियों और चोरोंकी कुटनियोंके लिये नाक कान कटानेके दंडके साथ ५०० पण दंडकी भी व्यवस्था थी। कुटने दूना दण्ड पाते थे। अपनेसे उत्तम वर्णके व्यक्ति वा गुरुजनोंको हाथ वा पैरसे मारनेवाले, राजाके

यान (सवारी) वा वाहनपर चढ़नेवालेका एक हाथ और एक पैर काटा जाता अथवा ७०० पण दंड लिया जाता। जो शूद्र अपनेको ब्राह्मण कहता और देवताके उद्देश्यसे दिये द्रव्यका अपहरण करता अथवा ज्योतिषी बनकर राजाका अनिष्ट बताता वा राजाका द्रोह वा द्वेष करता वा किसीकी दोनो आंखें फोड़ देता, तो औषधियोंका सुर्मा लगाकर वह अन्धा कर दिया जाता वा उसको ८०० पणका दंड दिया जाता। स्त्रियों वा कन्याओंके साथ उनकी इच्छासे संग करता तो स्त्री पुरुष दोनो दण्ड भागी होते और अनिच्छासे करता तो पुरुष ही दंड पाता। दिनको दूसरेके घरमें जानेवालेको प्रथम साहस, रात्रिको जानेवालेको मध्यम साहस और दिन अथवा रातको हथियार बांधकर जानेवालेको उत्तम साहस दण्डकी व्यवस्था थी। पर भिखारी, फेरीवाले, नशेमें मस्त, पागल, बन्धु बान्धव और मित्र आदि आपत्तिमें, घरवालेके न रोकनेपर, किसीके घर जा सकते थे।

नैतिक अपराधोंके लिये दंड

चोर वा व्यभिचारीको छोड़ देनेवाले, राजाकी आज्ञाको न्यूनाधिक लिखनेवाले, कन्या वा दासीको सगर्भ चुरानेवाले, झूठा व्यवहार करनेवाले और अभक्ष्य पशुओंका मांस बेचनेवालेका बायां हाथ और दोनो पैर काट देनेकी व्यवस्था थी। मनुष्यका मांस बेचनेवालेके लिये प्राणदण्डकी व्यवस्था थी। देवसम्बन्धी पशु, प्रतिमा, मनुष्य, खेत, घर, हिरण्य, सुवर्ण, रत्न और अन्न कोई बेचता तो उत्तम साहस दंड पाता और प्राणोंसे हाथ धोता। बलात्कारसे स्त्री वा पुरुषकी हत्या करने वा उसे उठा ले जानेवालेको, नाक कान काटनेवालेको, हत्या वा चोरी करनेकी डींग हाँकनेवालेको, नगर वा ग्रामोंसे द्रव्य अपहरण करनेवालेको, सेंध लगाने वा मार्गकी प्रपा (पौंसला) वा धर्मशालासे चोरी करनेवाले अथवा राजाके हाथी, घोड़े, रथ आदि नष्ट करनेवाले वा चुरानेवालेको सूलीपर चढ़ा देनेका विधान कौटिल्यने किया है। सूली चढ़े हुएका प्रेत

भयंकर अपराधों के लिये अति भयंकर दंड

(शव) उठा ले जानेवालेको भी यही दंड अथवा उत्तम साहस दंड देनेको कहा है। जो चोरों वा घातकोंको अन्न, निवासस्थान, वस्त्र, अग्नि और परामर्श देता, तो उसे उत्तम साहस दंड दिया जाता; पर यदि अनजानमें ऐसा करता तो डांट डपटकर छोड़ दिया जाता। घातकों और चोरोंके स्त्री पुत्रादि उनके परामर्शमें सम्मिलित हों, तो उचित दंड पावें, नहीं तो निर्दोष समझे जायं। लड़ाई झगड़ेमें कोई किसीकी जान ले लेता तो कष्ट दे देकर मार दिया जाता। यदि चोट खाया मनुष्य ७ दिनमें मर जाता, तो अभियुक्तको विना कष्टके प्राण दण्ड दिया जाता। यदि १५ दिनमें मरता, तो अभियुक्तको प्रथम साहस दंड और महीने बाद मरता, तो ५०० पण दंड दिया जाता और चिकित्सा आदिका व्यय भी अभियुक्तसे ही लिया जाता। किसी स्त्रीको मारकर गर्भ गिरा देनेवालेको उत्तम साहस, औषधि द्वारा गिरानेवालेको मध्यम साहस और कठोर काम कराके गिरानेवालेको प्रथम साहस दंड दिया जाता। किसी पुरुषका अचानक वध करनेवाले अथवा कमसे कम दस पशुओंके झुंड वा घोड़े चुरानेवालेको प्राणदंड देनेका कौटिल्यका आदेश है। जल रोकनेवाले सेतु वा बांधको तोड़नेवालेको कौटिल्यने वहीं डुबा देनेको कहा है। पर यदि सेतु विना जलका हो तो उसे उत्तम साहस दंड और पहलेसे टूटा फूटा हो, तो मध्यम साहस दंड दिया जाय। यदि कोई माता, पिता, पुत्र भाई, आचार्य वा तपस्वीकी हत्याका अपराधी हो, तो या तो उसके सिरकी खाल उतार ली जाय या वह जीता ही जला दिया जाय। उन्हें आक्रोश करे (कोसे) तो जीभ काट ली जाय, नोच खसोट करे, तो वह अंग ही काट दिया जाय, जिससे नोचा या खसोटा हो। स्त्रीको विष देकर जो पुरुष मार डाले, उसे तथा पुरुषको विष देकर मार डालनेवाली स्त्रीको जलमें डुबा देनेकी व्यवस्था है। स्त्री गर्भिणी हो तो बच्चा होनेके एक महीने बाद डुबा दे। पति, गुरु और बच्चेकी हत्या करनेवाली, आग लगाने, विष देने वा सेंध लगाकर चोरी करनेवाली स्त्रीको गायोंके पैरोंसे कुचलवाकर मार डाले। किसी ब्राह्मणको यदि कोई अभक्ष्य वा अपेय खिला पिला देता, तो उत्तम साहस दंड, क्षत्रियको खिलाने पिलानेसे मध्यम साहस दंड, वैश्यको खिलाने पिलानेसे

प्रथम साहस दण्ड तथा शूद्रको खिलाने पिलानेसे ५४ पण दंडका अपराधी होता और यदि कोई स्वयं अभक्ष्य भक्षण और अपेय पान करता, तो देशसे निकाल दिया जाता।

राजकीय अपराधोंके लिये भी अति कठोर दंडकी व्यवस्था कौटिल्यने की है। राज्य लेनेके अभिलाषी, रनवासमें झमेला खड़ा करनेवाले, जंगलियों और शत्रुओंको उभारनेवाले, दुर्ग वा राष्ट्रको राजासे कुपित करानेवालेके सिर और हाथ पैर अंगारोंपर रखकर शिरच्छेदन करनेको कौटिल्यने कहा है। ब्राह्मणको ऐसे भयंकर अपराधके लिये भी काल कोठरीका ही दंड बताया है। जो कोई विवीत (चरागाह), खेत, खलि-हान, घर, लकड़ी तथा हाथियोंके सुरक्षित जंगलोंमें आग लगावे, तो उसे आगमें जलानेका दंड दिया जाय। राजाको गाली दे, गुप्त रहस्य प्रकट करे, राजाके अनिष्टका प्रचार करे तथा ब्राह्मणकी पाकशालासे बलात् अन्न लेकर खा जाय, तो उसकी जीभ कटवा दी जाय। आयुधजीवी न होनेपर हथियार और कवच आदि चुरावे, तो खड़ाकर बाणोंसे मरवा दिया जाय। आयुधजीवी हो तो उत्तम साहस दंड पावे। उपस्थ इन्द्रिय और अंडकोष काटनेवालेके इन्द्रिय और अंडकोष काट दिये जायं। जीभ और नाक काटनेवालेका अंगूठा और छोटी उंगली काट दी जाय। जिसे दुर्गमें प्रवेशका अधिकार न हो और वह प्रवेश करे अथवा प्राकारकी भीतमें छेदकर वस्तु ले जाय तो उसके पैरके पीछेकी दो नसें कटवा दी जायँ।

राजकीय अपराधोंके लिये दण्डव्यवस्था

प्रदेष्टाको चाहिये कि राजा और मंत्रियोंमें रहकर भी दंड देनेके समय पुरुषको, उसके अपराधको, अपराधके कारणोंको, अपराधीकी स्थितिको, तात्कालिक वा भावी परिणामको तथा देश और कालको अच्छी तरह विचार कर उत्तम, मध्यम वा प्रथम साहस दंड दिया करे। इतना कहकर भी कौटिल्यने इसकी बड़ी सावधानी रखी है कि निर्दोष दंडित न किये जायं और यदि इन्हें

प्रदेष्टाको विशेष सतर्कताका उपदेश और धर्मस्थ तथा प्रदेष्टाके दंडका विधान

कोई दंड दे, तो दंड देनेवाला उसी दंडका भागी हो। यदि उचितसे न्यूनाधिक दंड दे तो अठगुना दंड पावे। निरपराधसे सुवर्ण दण्ड लिया हो, तो उससे दूना सुवर्ण दंड देवे। शारीरिक दंड दिया हो तो शारीरिक दंड पावे। यदि किसी दण्डित व्यक्तिने शारीरिक दण्डके बदले धन दंड दे दिया हो, तो धर्मस्थ वा प्रदेष्टा दूने अर्थ दण्डका भागी हो। न्याय वा उचित्त अर्थको नाश करने और अन्याय अर्थका संग्रह करनेवाला अधिकारी नष्ट वा संगृहीत अर्थसे अठगुना दण्ड दे।

कौटिल्यके इस पीनल कोडमें तीन बातें बड़े मार्केकी हैं, जिनकी ओर विशेष ध्यान देना चाहिये। पहली बात तो यह है कि कौटिल्यने अपराधीके एकांगवध वा एक उंगली काटनेसे प्राणवधतककी व्यवस्था की थी, जिसमें छोटी उंगली काटनेसे दाहना हाथ काटनेतकका एकांगवध अर्थ दण्डसे बदला जा सकता था। हाथ ४०० पण देनेसे कटनेसे बच जाता था, पर चौथी बार अपराध करनेपर अपराधी प्राण दंड पाता ही था। दूसरी बात अधिकारियोंद्वारा निरपराधोंको दंडित न होने देनेके लिये उन्होंने इनके दंडका भी विधान किया है। यह व्यवस्था यदि वर्त्तमान युगमें होती तो झूठे अपराधोंके लिये निरपराध दंड न पाते। तीसरी और सबसे बढ़कर बात यह है कि अपराध करनेपर कौटिल्यने राजाको भी क्षम्य नहीं ठहराया है। यह बात साम्राज्यवादी कौटिल्यके सम्बन्धमें आश्चर्यजनक जान पड़ती है, परन्तु कौटिल्यके मतसे राजा अदण्ड्य नहीं है। उन्होंने कहा है कि अदंड्यको यदि राजा दंडित करे, तो उसपर ३० गुना दंड हो और दंडका यह धन राजा वरुण देवताके प्रीत्यर्थं पहले जलमें डाल दे और फिर ब्राह्मणोंको बांट दे। ऐसा करनेसे ठीक दंड न देनेके कारण उत्पन्न राजाका पाप मिट जाता है, क्योंकि मनुष्योंमें मिथ्या व्यवहार करनेवाले राजाओंका शासन वरुण ही करता है।[1] यहां जो ३० गुने दंडकी

राजाको अर्थदंड, कौटिल्यकी विशेषता

१ अदण्ड्यदण्डने राज्ञा दण्डस्त्रिंशगुणोऽम्भसि।

बात कहीं गयी है, वह अर्थ दण्ड ही है। पर प्रश्न उठता है कि राजा यह दंड कहांसे देता होगा! यदि कोशसे यह दिया जाय, तो यह दंड राज्यको हुआ, राजाको नहीं। इसलिये यह राजाके वेतनसे ही दिया जाता होगा और दिया जाना भी चाहिये।

वरुणाय प्रदातव्यो ब्राह्मणेभ्यस्ततः परम् ॥५८॥
तेन तत्पूयते पापं राज्ञो दण्डापचारजम्।
शास्ता हि वरुणो राजा मिथ्या व्याचरतां नृषु ॥५९॥ अधि० ४ अ० १३

४ अष्टाङ्गबल

राजशास्त्रमें यद्यपि दण्ड शब्दका प्रयोग बड़े व्यापक अर्थमें होता है, तथापि एक व्यापक शब्दसे ही उसका अर्थ भी हो जाता है। वह शब्द है शासन। राज्यमें असदाचारसे लोगोंको निवृत्त करने और असदाचारियोंके दमन वा शासनके लिये जो संस्थाएं होती हैं यथा धर्माधिकरण और कटकशोधन, वे दण्ड विधान करती हैं और राज्यकी शक्ति उस विधानको कार्यान्वित करती है। परराष्ट्र और शत्रुसे अनुकूल व्यवहार करानेके लिये सेना वा बलका प्रयोजन होता है। इसलिये स्वराज्य सम्बन्धी दण्ड विधायक हुए धर्माधिकरण और कण्टकशोधन और परराष्ट्र सम्बन्धी हुआ बल वा सेना।

दण्ड शब्दकी व्यापकता और उसका व्यापक अर्थ

चार प्रकारकी होनेके कारण सेनाको चतुरंग बल भी कहते हैं। वे चार अंग हैं हस्ति, अश्व, रथ और पत्ति। पैदल सेना पत्ति है। रथ, हाथी और घोड़े युद्ध करनेके लिये सैनिकोंके यान वा वाहनका काम करते हैं। इसलिये सेनाके दो भेद और होते हैं एक स्वगमा और दूसरा अन्यगमा। पैदल चलनेवाली सेना स्वगमा और सवारियोंपर चलनेवाली अन्यगमा है। इस चतुरंगबलको सहायता देनेके लिये और भी चार बल हैं जिनके नाम हैं नौ, विष्टि, देशिक और चर।[1] नौका वा पोतपर चढ़कर भी लड़ाई होती थी, इसलिये नौसेना वा नौबल भी अन्यगमा था। परन्तु विष्टि, देशिक और चर वा चारका काम युद्ध करना नहीं था; ये केवल सहायक थे। विष्टि माल असबाब ढोनेवाले श्रमिक लोगोंकी संज्ञा थी।

चतुरंगबल और अष्टांगबल तथा सेनाके दो भेद

---

१ रथानागा हयाश्चैव पादाश्चैव पाण्डव।
विष्टिर्नावश्चराश्चैव देशिका इति चाष्टमम्‌ ॥४१॥ शां० अ०५९

वर्तमान युद्धभाषामें इसे लेबर कोर कह सकते हैं। देशिक युद्धके लिये लोगोंको उपदेशों वा गीतों द्वारा प्रोत्साहन दिया करते थे और इस प्रकार उन्हें कड़खैत भी कह सकते हैं। चर वा चार गुप्तचर थे, जो शत्रुके गुप्तचरों वा भेदियोंको अपना भेद लेनेसे रोकते और उसका भेद लेनेके यत्न किया करते थे। इसे पुरानी सीक्रेट सर्विस समझिये।

वर्तमान समयमें तो सेनाका बहुत अधिक विस्तार हो गया है और उसके तीन मुख्य भेद स्थल सेना, नौसेना और आकाशसेना होते हैं।

सेनाके मुख्य अंग —हाथीकी युद्ध-शक्ति

स्थल सेनामें पैदल, अश्वारोही और तोपची तीन प्रकारके सैनिक होते हैं, यद्यपि आजकल अश्वोंके बदले वर्मयुक्त (बक्तरदार) मोटरोंसे काम लिया जाता है। प्राचीनकालमें तोपची न थे, रथी और गजारोही ही थे। हाथियोंका महत्त्व बहुत अधिक था। पालकिका मत है कि हाथी आठ आयुधोंसे लड़ता है अर्थात् चार पावों, दो दांतों और सूँड़ और पूछसे।[1] हाथी बहुत चोट खानेपर भी व्यथित नहीं होता। शुक्राचार्यका मत है कि अकेला हाथी सहस्र मनुष्योंसे लड़ सकता है, इसलिये हाथियोंसे विजय होती है। इतना सब स्वीकार करनेपर भी कहना ही पड़ता है कि आपसके युद्धोंमें हिन्दू हाथियोंसे भले ही जीते हों, परन्तु परदेशियोंसे सदा हारते ही रहे। जयपालके बेटे आनन्दपालने सिन्धु नदके तटपर बाईहिन्दमें महमूद गजनवीकी सेनासे मोर्चा लिया था। हिन्दुओंकी विजय होनेहीको थी कि आनन्दपालके हाथीके सहसा भागनेसे हिन्दू सेना घबरा गयी और महमूदकी विजय हो गयी।

हाथियोंकी व्यर्थता सिकंदरने सिद्ध कर दी थी, तोभी सेल्यूकससे लेकर मेनेन्दरतक अर्थात् ईसासे ३०५ से १५५ वर्ष पूर्वतक ही नहीं, वरञ्च ईसवी सन् ४५५ से ४५८ तक स्कन्दगुप्तने और ५२८ ईस्वी तक नरसिंहगुप्तने हूणोंको

---

१ अष्टायुधो भवेद्दन्ती दन्ताभ्यां चरणैरपि।
तथा च पुच्छशुण्डाभ्यां संख्ये तेन स शस्यते ॥पालकिः

युद्धमें हाथीके कार्य

हाथियोंकी सेनासे ही पराजित किया था। यही नहीं, सातवीं ईस्वी शताब्दीमें महाराष्ट्रके चालुक्य राजा द्वितीय पुलकेशीने भी हाथियोंसे ही हर्षवर्द्धनको हराया था। इसलिये कौटिल्यने हाथियोंके कार्यके प्रकारको जो महत्ता दी है, वह अनुचित और अतिरंजित नहीं है। लड़नेके सिवा हाथी सेनाके आगे चलते थे। पहलेसे न बने हुए वासस्थान, मार्ग, नदी, उतारेके घाट आदि बनाना, अपनी सेनाके पास खड़े होकर शत्रु सेनाको हटाना, नदीकी गहराई जाननेके लिये उसमें प्रवेश करना, शत्रुसेनाका आक्रमण होनेपर पांत बांध कर खड़े हो जाना और कूच करना, ऊँचे स्थानसे नीचे उतरना, घने जंगल और शत्रु सेनामें पिल पड़ना, शत्रुके पड़ावमें आग लगाना और अपने पड़ावमें लगी हुई आग बुझाना, रण जीतना, बिखरी सेना इकट्ठी करना और शत्रुकी एकत्र सेनाको तितर बितर करना, संकटमें रक्षा करना, शत्रु सेनाको डराना और कुचल डालना, मद आदिकी अवस्थाद्वारा शत्रुके हाथियोंको विचलित करना, अपनी सेनाका महत्त्व दिखाना, शत्रुके सैनिकोंको पकड़ना और शत्रुद्वारा पकड़े हुए अपने सैनिकोंको छुड़ाना, शत्रुके परकोटों, सिंहद्वार और अट्टालकोंको गिराना और शत्रुके कोश तथा बाहन आदिको भगा ले जाना, युद्धमें प्रकीर्णिका वा सब चालोंके एक साथ प्रयोगको छोड़ सेनाके बिखरे हुए चारो अंगोंको हनन करना, पक्ष, कक्ष तथा उरस्वमें खड़ी सेनाका मर्दन करना, कहींसे शत्रु-पक्षको निर्बल देख उसपर प्रहार करना और सोते शत्रुको मार डालना हस्तियुद्ध है। उन्मथ्यावधानको छोड़कर हाथियोंके सब युद्ध अपनी योग्य भूमिमें ही होते हैं। बहुतसे हाथियोंका शत्रुसेनामें भयंकर हलचल मचाकर एकत्र हो जाना उन्मथ्यावधान है।

रथोंसे भी वे बहुतसे काम लिये जाते थे, जो हाथी करते थे अर्थात् अपनी सेनाकी रक्षा, शत्रु सेनाका विरोध, शत्रु सैनिकोंको पकड़ना और अपने सैनिकोंको छुड़ाना, अपनी बिखरी हुई सेना एकत्र करना और शत्रुकी एकत्र सेनाको बिखेर देना, शत्रु सेनाको भय और अपनी सेनाको महत्त्व दिखाना।

रथोंके काम

रथोंकी यह विशेषता थी कि ये भयंकर घोष करते थे, जिसे सुनकर शत्रुका दिल दहल जाता था। कुरुक्षेत्र युद्धके वर्णनसे जाना जाता है कि रथोंमें भयंकर शब्द करनेवाले शङ्ख रहते थे और युद्धके आरम्भमें, सम्भवतः ललकारनेके लिये बजाये जाते थे। ये शंख रथी ही नहीं, सारथी भी बजाते थे, क्योंकि कहा गया है कि हृषीकेशने (श्रीकृष्णने) पाञ्चजन्य और धनञ्जयने (अर्जुनने) देवदत्त तथा वृकोदर भीमने पौंड्र नामक शङ्ख बजाया। शत्रुसेनाको हराकर भाग जाना अपनी रक्षा करके बैठे हुए शत्रुके चारो ओर घेरा डालकर उससे युद्ध करना रथोंके काम हैं।

अश्वकर्म

घोड़ोंसे कुछ ऐसे काम लिये जाते थे, जो हाथियों वा रथोंसे नहीं हो सकते थे। भूमिविचय, वनविचय और वासविचय अर्थात् युद्ध भूमिसे शत्रु दलको हटाना, वनके मार्गोंसे झाड़ियोंमें छिपे हुए शत्रुओं वा गुप्तचरोंको भगाना और अपनी छावनीसे शत्रुओंका उपद्रव दूर करना, जिन स्थानोंपर शत्रु आक्रमण न कर सके, जलवायु और प्रकाशकी अधिकता हो। नदी पार करनेका सुभीता हो, उनपर पहले ही अधिकार कर लेना, शत्रुके वीवध अर्थात् देशसे खाद्य पदार्थों के लगातार चले आनेके मार्गका (line of communi cations), आसार अर्थात् शत्रुसे मित्रकी सेनाके आगमनके मार्गका नाश और अपने वीवध और आसारकी रक्षा करना, छिपकर बैठी हुई शत्रु सेनाको साफ कर देना और अपनी सेनामें गड़गड़ होनेपर उसकी ठीक ठीक स्थापना करना, जंगलोंमें उपजनेवाले अन्न और घास अर्थात् प्रसारकी वृद्धि करना, बाहुओंकी भाँति घोड़ोंसे शत्रु सेनाको हटाना, शत्रुसेनापर पहले ही प्रहार करना, शत्रु सेनामें घुसकर उसे विचलित करना, उसे तरह तरहके कष्ट पहुँचाना, अपनी सेनाको आश्वासन देना, शत्रुकी सेनाको पकड़ना, अपने मार्गपर शत्रुके चले जानेपर उसके पीछे चलना, शत्रुके कोश तथा राजकुमारको हर लेना, पीछे तथा सामनेसे आक्रमण करना, शत्रुके जिन सवारोंके घोड़े

मर गये हों, उनका पीछा करना, भगी हुई शत्रुसेनाको खदेड़ना और अपनी बिखरी हुई सेनाको एकत्र करना आदि अश्वकर्म कहाते हैं। अभिसृत (शत्रु सेनाकी ओर जाना), परिसृत (शत्रु सेनाको मारते हुए उसके चारो ओर घूमना), अतिसृत (शत्रुकी सेनामें सुईकी भाँति घुसना), अपसृत (फिर निकल आना), उन्मथ्यावधान (शत्रु सेना में हलचल मचाकर फिर इकट्ठे हो जाना), वलय (दो ओर सुईकी तरह मार्ग बनाकर जाना), गोमूत्रिका (गोके मूत्रकी भाँति घूमते जाना), मण्डल (शत्रु सेनाके किसी एक देशको काटकर घेर लेना), प्रकीर्णिका (सब चालोंका एक साथ प्रयोग करना), अनुवंश (शत्रुसेनाके अभिमुख अपनी सेनाका अनुवर्त्तन करना), भग्नरक्षा (अपनी भग्न सेनाकी रक्षा) और भग्नानुपाल अर्थात् छिन्न भिन्न शत्रुसेनाका पीछा करना ये १३ प्रकारके घोड़ोंके युद्ध कहे गये हैं।

पदातिकर्म

बराबर अथवा ऊँची नीची भूमि और वर्षा आदि सभी ऋतुओंमें शस्त्र धारण करना, व्यायाम (कवायद-ड्रिल) करना और आवश्यक होनेपर युद्ध करना ये पदातिकर्म हैं। जहाँ घोड़े, हाथी और रथ नहीं जा सकते और जहाँ उनका युद्ध करना सम्भव नहीं, वहाँ पदाति सेना ही युद्ध कर सकती है।

पाश्चात्य देशोंकी स्थल सेनाओंमें पहले पदाति, अश्वारोही, तोप और तोपची होते थे। पर जबसे मोटरें चलीं, तबसे घोड़ोंका काम प्रायः सेनासे

पाश्चात्य और भारतीय सेनाओंकी तुलना

उठसा ही गया, क्योंकि घुड़सवारों और घुड़चढ़ी तोपों के लिये घोड़ोंकी जगह मोटरें, बख्तरदार मोटरें और टैंक काम करने लगे। टैंक बख़्तरदार मोटर होता है, जिसपर तोपें चढ़ी रहती हैं। फिर भी भालेदार अश्वारोहियोंका अस्तित्व बना हुआ है और उनके सर्वथा लोप होनेकी तुरन्त सम्भावना नहीं है। पाश्चात्य सेनामें हस्त्यारोही और रथी कभी नहीं थे। भारतमें कहीं कहीं विशेषकर जोधपुर और बीकानेरके मरु राज्योंकी सेनाओंमें उष्ट्र (ऊंट) और उष्ट्रारोही (शुतुर सवार) भी होते हैं।

यद्यपि यह नहीं कहा जा सकता कि ऊंट मोटरके समान चल सकते हैं, तथापि घोड़ेसे तेज चलते हैं। पैदलोंका महत्त्व युद्धकालमें बहुत अधिक परिवर्तन होनेपर भी बना हुआ है और बना ही रहेगा।

अन्य चार बलोमें नौबल आज पाश्चात्य देशोंमें स्वतंत्र और अत्यन्त महत्त्वशाली रूपमें दिखायी दे रहा है और ब्रिटेन अपने नौबलहीके कारण समुद्रोंका अधिपति माना जाता था। परन्तु भारत में नौबलका इतना महत्त्व कभी नहीं रहा। यहाँका नौबल दो रूपोंमें था एक स्वतंत्र सेना और दूसरा चतुरङ्ग बलका सहायक। प्रथम प्रकारकी नौसेनासे ही पाश्चात्य नौसेनाएँ इतनी बढ़ी हैं। भारतीय नौसेनामें नावें और जहाज तो थे, पर इनपर तोपें नहीं चढ़ी थीं। जहाजोंपर तोपें रहनेका वर्णन भी नहीं मिलता। परन्तु हमारे रणपोत नदियों, खाड़ियों और समुद्रोंपर युद्ध ही नहीं करते थे, इनपर रहकर नौसैनिक अपने पक्षकी स्थल सेनाकी सहायता भी करते थे। सिकन्दरके समयसे लेकर मराठोंके समयतक प्रायः दो हजार वर्षोंतक भारतमें नौसेनाका पता लगता है। अनुमान है कि प्रत्येक सेनाके साथ छोटा मोटा नौ विभाग रहता होगा, जिसके अधीन कुछ नावें और रणपोत होते होंगे और जिस राज्यका सम्बन्ध समुद्र-तट और बड़ी नदियों और खाड़ियोंसे रहता होगा, उसका यह नौविभाग स्वतंत्र नौसेनाका रूप धारण कर लेता होगा। इसकी चर्चा विस्तृत रूपसे अगले अध्यायमें की जायगी।

भारत में २००० वर्ष पहले भी नौबल था।

शेष तीन बल वास्तवमें चतुरङ्ग बलके सहायक मात्र हैं। इनमें पहला विष्टि है। विष्टिका अर्थ बेगार, मजूर आदि है। परन्तु कौटिल्यका विष्टि शब्द बड़े व्यापक अर्थमें प्रयुक्त हुआ है, क्योंकि वे इनसे शिविर या पड़ाव, मार्ग, सेतु (पुल या बांध) और कुएँ तथा घाट आदिके बनानेका काम लेने के साथ ही, यंत्र, हथियार, कवच, अन्य प्रकारकी युद्ध सामग्री, घास, चारा आदि ढोने और युद्धभूमिसे

विष्टिके कार्य

हथियार, यंत्र कवच तथा घायलों और कदाचित् मुर्दों को ढोने के लिए भी इनका प्रयोग बताथा है। इससे स्पष्ट होता है कि ये लामके साथ ही नहीं चलते थे, वरंच जो काम आज ट्रैन्सपोर्ट कोर (बारबरदार पलटन), सैपर ऐंड माइनर्स (सफर मैना), मिलटरी सप्लाई कोर और ऐम्बुलेन्स (डोली बरदार) शाखाएँ करती हैं, वे सब प्राचीन कालमें विष्टिसे लिये जाते थे।

देशिकको हमने ऊपर कड़खैत बताया है, परंतु इसके अर्थके विषयमें मतभेद है। महाभारतके टीकाकार नीलकंठने इसका अर्थ उपदेष्टा वा गुरु बताया है और प्रो० हेमचंद्र रायचौधरी कहते हैं कि ये सम्भवतः सैनिक विद्याके शिक्षक थे। कोशोंमें 'मार्गदर्शक' भी इस शब्दका अर्थ बताया गया है।

देशिककी व्याख्या

यदि यह अर्थ हो, तो ये घाट, बाट, नदी, वन, पर्वत आदि मार्गों का ठीक ठीक पता रखते होंगे और सेनाके आगे आगे 'पायोनियर' पलटन वा ऐडवान्स गार्डकी तरह चलते होंगे। प्रत्येक सेना यानमें ऐसे अग्रगन्ताओंकी व्यवस्था रहती है। परन्तु वर्त्तमान समयमें ये अग्रगन्ता भी सशस्त्र होते हैं और हमारे यहाँ ये निःशस्त्र ही थे। ये देशिक उपदेशक वा सैनिक विद्याके शिक्षक हों, तो सेनाके यानके समय इनका कोई प्रयोजन नहीं जान पड़ता। कौटिल्यने मार्गदर्शकके कामके लिये अटवीबल वा जंगलियोंका—भीलों आदिका उपयोग करनेको कहा है जिससे देशिक मार्गदेशिक ही जान पड़ते हैं।

आठवाँ वा अन्तिम बल चर वा चार है। इसके दो विभाग होते हैं। एकका सम्बन्ध स्वदेशसे होनेके कारण वह सी० आई० डी० के समान है और दूसरेका परराज्योंसे सम्बन्ध होनेसे यह पाश्चात्य राज्यकी सीक्रेट सर्विसके समान हैं। सेनाका यह अंग सीक्रेट सर्विस ही समझना चाहिये।

आठवाँ बल

आकाश सेनाका पता नहीं मिलता, परन्तु कौटिल्यने ७ वें अधिकरणके १० वें अध्यायमें ४८ वां सूत्र 'शस्त्रैणैवाकाशयोधिनः' लिखा है, जिसका अर्थ है कि शस्त्रसे ही आकाशयोधी लड़ते हैं। इससे जान पड़ता है कि

आकाश युद्ध आकाश युद्ध भी स्थलयुद्ध और जलयुद्धकी भाँति होते थे। कौटिल्यने तो विमानोंके आकाशयुद्धका वर्णन नहीं किया है। परन्तु महाभारतमें लिखा है कि शाल्व राजाने द्वारकापर चढ़ाई की थी, तब विमानोंपर चढ़कर पत्थरों और बाणोंकी वर्षा की थी। यह वर्णन वन पर्वके १५ वें अध्यायसे लेकर कई अध्यायोंतक चलता है, परन्तु स्पष्ट इससे कुछ नहीं होता। सारे महाभारतमें एक ही स्थलपर आकाशमार्गसे युद्ध करनेकी बात का उल्लेख है। हम इसे बहुत महत्त्व नहीं देते।

---

५ नौसेना वा नौबल

आर्योंके जिस अष्टांगबलकी चर्चा हमने की है, उसकी परिभाषा पहले पहल महाभारतके शान्तिपर्वमें ही मिली है। इसके पूर्व रामायणके आदि, अरण्य और लङ्का काण्डों,[1] महाभारतके उद्योग पर्व, नौसेनाकी चर्चा . पुराणों यहाँ तक कि बौद्ध जातक कथाओंमें[2] तो 'चतुरं-गिनीया सेनाया' का ही उल्लेख देखा जाता है। प्राचीन इतिहास भी चतुरङ्गबलकी ही बात कहता है। सिकन्दरने जब पंजाबपर चढ़ाई की थी, तब पोरस राजाने चतुरङ्गिनी सेनासे ही उसका सामना किया था। अपनी सेनाके आगे इसने बड़े ऊँचे और बली ८५ हाथी और इनके पीछे ३०० रथ और कोई ३,००० पैदल रखे थे।[3] जब सिकन्दरकी सेना ब्यास नदीके किनारे विश्राम कर रही थी, तब 'फेगियस' नामक भारतीय राजासे उसे ज्ञात हुआ कि अग्रामसकी सेना अपने देशके मार्गकी रक्षा चार घोड़ोंके २,००० रथोंके अतिरिक्त २० सहस्र अश्वारोहियों और दो लक्ष पदातियों तथा बड़े भारी हस्तिबलसे, जिसकी संख्या ३ सहस्र

---

१ जामदग्न्यो गतो रामः प्रयातु चतुरङ्गिणी। सर्ग ७७।५।३। बलेन चतुरंगेण स्वयमेत्य निशाचरम्। सर्ग ३८।५।७। तद्भवाश्चतुरंगेण बलेन महता वृतम्। ३७।५।२४

२ बलोदक जातक और दधिवाहन जातक इत्यादि

३ In the van of his army he had posted 85 elephants of of the greatest size and strength and behind these 300 chariots and somewhat about 30,000 infantry. Mcrindle's The Invasion of India by Alexander the Great pp. 203-4.

है, कर रही है ।[1] कौटिल्यने यद्यपि व्यूह रचनाके प्रसंगमें चतुरङ्ग बलका ही वर्णन किया है, तथापि नावध्यक्षकी नियुक्ति करनेका भी उपदेश दिया है, क्योंकि यह शत्रुओं वा जलदस्युओंकी नावें नष्ट करनेमें समर्थ होता था[2] । इसमें सन्देह नहीं कि इसके अधीन नौकाओंको नौसेनाका रूप प्राप्त न था। इसका कारण यही जानपड़ता है कि कौटिल्यके समयका मौर्य साम्राज्य इतना बड़ा न था और उसमें बड़ी नदियाँ होनेपर भी उसे समुद्री आक्रमणसे अपनी रक्षा करनेका प्रयोजन न था ।

यूनानी लेखक मैगेस्थनीज़ने चन्द्रगुप्तके नौविभागकी चर्चा इस प्रकार की है जिससे जान पड़ता है कि चन्द्रगुप्तके समयमें अष्टांग वा चतुरङ्ग बलके बदले षडङ्ग बल था । वह कहता है:—

यूनानी लेखकोंके ग्रन्थोंमें भारतीय नौसेनाका वर्णन

मैजिस्ट्रेटों वा अध्यक्षोंके बाद तीसरी शासकमण्डली है जो सैनिक विषयोंका संचालन करती है । इसके भी छः विभाग हैं, जिनमें प्रत्येकमें पाँच सदस्य रहते हैं । एक विभाग नावध्यक्षसे और दूसरा बैलगाड़ियोंके निरीक्षकसे सहयोग करनेको नियुक्त होता है, जो सैनिकोंके लिये शस्त्रास्त्र, भोज्य पदार्थ, पशुओंके लिये चारे तथा अन्य युद्धसामग्री ले जानेका काम करता है । वह ढोल और घंटा बजानेके लिये नौकर

---

१ King Agrammes kept in the field for guarding the approaches of his country 20, 000 cavalry and 200,000 infantry, besides 2,000 four- horsed chariots and what was the most formidable force of all, a troop of elephants which he said ran up to the number of 3,000. Ibid pp. 221-22.

२ हिंस्रका निर्घातयेत् ॥ १४ ॥ अमित्रविषयातिगाः पण्यपत्तनचारित्रोपघातिकाश्च ॥ ५ ॥ अधि० २ अ० २८

तथा घोड़ोंके लिये साईस, मिस्त्री और कारीगर देता है। घंटेकी धुन सुन वह घसियारोंको घास लाने भेजता है और पुरस्कार वा दंडद्वारा शीघ्रतापूर्वक कार्यसम्पादनका निश्चय करता है। तीसरे विभागके अधीन पैदल, चौथेके घोड़े, पांचवेंके रथ और छठेके हाथी होते हैं।[१] इस प्रकार चन्द्रगुप्तके षडंग बलमें नौका, विष्टि,[१] पत्ति, अश्व, रथ और हस्ति थे। चार वा चार तथा देशिक भी उस समय थे, परन्तु अनुमान है कि उस समय चतुरंगबलसे आगे लोगोंकी कल्पना नहीं बढ़ी थी। हां, महा-

---

१ Next to the city magistrates is a third governing body, which directs military affairs. This also consists of six divisions, with five members to each. One division is appointed to co-operate with the admiral of the fleet, another with the superintendent of the bullocktrains which are used for transporting engines of war, food for the soldiers, provender for the cattle and other military requisites. They supply servants who beat the drum, and others who carry gongs, grooms also for the horses, and mechanists and their assistants. To the sound of the gong, they send out foragers to bring in grass, and by a system of rewards and punishments ensure the work being done with despatch and safety. The third division has charge of the foot-soldiers, the fourth of the horses, the fifth of the war chariots and the sixth of the elephants. Mcrindle's Ancient India as described by Megasthenes and Arriran. p. 88.

भारतके समय दृष्टि अष्टाङ्गबलतक पहुँच चुकी थी, फिर भी वह स्पष्ट नहीं थी।

परन्तु पंजाब, बंगाल तथा दक्षिणमें बड़ी-बड़ी नदियां और कहीं कहीं समुद्र तट होनेसे इनके संलग्न राज्योंको नावों और जहाजोंके बेड़े भी रखने पड़ते थे। सिकन्दरके आक्रमणके समय पंजाबकी नौसेनाने उससे मोर्चा लिया था। उस समयके क्षत्रियोंमें नौनिर्माता और नौसंचालक भी थे। पंजाबके गणराज्यों के ही ८०० से २००० जहाजी बेड़ेपर सिकन्दरका नौसेनाधिपति नियर्चस सिन्धुनदसे ईरानकी खाड़ीकी ओर बढ़ा था। कहते हैं कि असुर रानी सेमिरामीके भारताक्रमणके समय उससे लड़नेके लिये हिन्दुओंने ४,००० नावें जमा की थीं। इसके सैकड़ों साल बाद महमूदका सामना करनेके लिये भी इतनाही नौबल था। बंगालके राजा धर्मपालने जब कनौजकी गद्दीपर चक्रायुधको बैठानेके लिये प्रयाण किया, तब पाटलिपुत्रमें नावोंका पुल बँधवाया था। खालिमपुरके ताम्रपत्रसे जाना जाता है कि उस समय नावोंका बड़ा भारी बेड़ा था, जो गंगाके ऊपर पहाड़सा दिखायी देता था। इस ताम्रपत्रमें बलाध्यक्ष और नावध्यक्षका अलग अलग उल्लेख रहनेसे इसमें सन्देह नहीं रह जाता कि बलाध्यक्ष तो चतुरंगबलका और नावध्यक्ष नौबलका व्यवस्थापक था। नावध्यक्षको उतारेकी नावोंका अध्यक्ष न समझना चाहिये, क्योंकि उस कामके लिये 'तरिक' नामका अधिकारी था। वैद्यदेवके कपौली दानपत्रमें नौयुद्धों और पालसेनाके नदियोंके पार करनेकी चर्चा है। विजयसेनके देवपाड़ा स्थानके लेखमें नावोंके युद्धोंका वर्णन है।[1] बंगालके सेन सम्राटोंका समय १०६८ से १२०० ईस्वीतक माना जाता है। इनकी सेनाका महत्त्वपूर्ण अंग नौबल ही था, जिससे स्पष्ट है कि ७५ वर्ष पहलेतक बंगालकी सेना नौबल प्रधान थी।

पंजाब, बंगाल और आसाम की नौसेनाएं

---

१ पाश्चात्यचक्रजयकेलिषु यस्य यावद् गङ्गाप्रवाहमनुधावति नौवितानेे।

श्यूआन चुआङ्का कहना है कि आसामके राजाकी सेनामें ३० हजार जहाजोंका बेड़ा था। इसका नावध्यक्ष 'तरिक्' कहाता था।

दक्षिणके आन्ध्र राज्यके अधीन समुद्रका कुछ भाग था, इसलिये उसे भी नौसेना रखनी पड़ती थी। मद्रास तटपर आन्ध्र नौसेनाका अड्डा था।

चोल साम्राज्यके विस्तारमें नौसेना-का कार्य

ईस्वी सन् १७३ से २०२ तक राजा यज्ञश्रीकी मुद्राओंपर दो मस्तूलवाले बड़े जहाजका चित्र रहता था, जिससे उसके नौबलकी विशालताका ही नहीं, उसके नौबलप्रेमका भी परिचय प्राप्त होता है। दक्षिण भारतके चेर राज्य और चोल साम्राज्योंकी भी नौसेनाएँ थीं। चोल सम्राट् राजराजने अपनी नौसेनाकी ही बदौलत पश्चिमी तटपर चेर राज्यका बेड़ा नष्ट कर सिंहलको अपने राज्यमें मिला लिया था। इससे चोल साम्राज्यमें सारी मद्रास प्रेसिडेन्सी, मैसूर राज्य और उड़ीसेका दक्षिणी भागतक आ गया था। अनन्तर सम्राट् राजेन्द्र चोलने अपनी नौवाहिनीकी वीरताकी धाक (१०१८ से १०३५ ईस्वी-तक) भारतके बाहरके देशोंपर भी जमा दी थी। उसके समयमें बंगालकी खाड़ी चोल साम्राज्यकी झील हो रही थी। नौयुद्धोंसे ही लाक्षद्वीप (लक्का-दीप) और मालद्वीप जैसे असंख्य छोटेछोटे पुराने टापू जीते गये। खाड़ी पारकर बर्मामें पहुंच उसने प्रोम वा पेगूका राज्य ले लिया तथा अंडमान और निकोबार टापू भी अपने साम्राज्यमें मिला लिये। चोल साम्राज्यके मुख्य मुख्य पत्तनों वा पट्टनोंमें प्रकाशालय (lighthouse) भी बनाये गये थे। दक्षिण भारतका चालुक्य सार्वभौम द्वितीय पुलकेशी इसीलिये हर्षवर्द्धनसे मोर्चा लेनेमें समर्थ हुआ था कि श्यूआन चुआङ् के कथनानुसार, बहुतसे हाथियोंके अतिरिक्त उसके पास सैकड़ों जहाजोंका बेड़ा भी था।

मगधमें चन्द्रगुप्तका साम्राज्य स्थापित होनेके पहले भारतकी नौसेना अफ्रिका और चीनतक जाती थी। अफ्रिकासे हिन्दूचीन (इन्डो चाइना)

तक जो हिन्दू राज्य स्थापित थे, वे इसी नौसेनाके बलपर स्थापित हुए थे।

नौसेनाके साथ ही व्यापारपोत (merchantmen) भी थे, जिनसे रोम, अफ्रिका, चीन आदिके साथ व्यापार चलता था। इसी व्यापारके कारण अफ्रिका-का जंजीबार. टापू हिन्दू बाजार प्रसिद्ध हुआ था।

वणिक्पोत भी वाणिज्यविस्तार करते थे।

जो पश्चिम समुद्र आज पाश्चात्य लोगोंकी दुष्टता अथवा मूर्खतावश 'अरबकी खाड़ी' कहाता है, उससे कोंकणतक आनेका साहस किसी अहिन्दूको नहीं होता था। जल सैनिकोंकी भांति जलवणिक् अपनी नौकाओं और पोतोंपर भारतसे देशदेशान्तरको पण्य ले जाते थे और रोमके बाजार उसके साम्राज्यकालमें इन्हीं भारतीय जलवणिकोंके हाथमें हो रहे थे।

इस प्राचीन गौरवकी रक्षा कोई दो सौ वर्ष पहलेतक मराठोंने की थी। मराठी नौसेनाके अधिपति कान्होजी आंग्रे और तुलाजी आंग्रेके सामने तो कोई विदेशी हिन्दुओंके इस पश्चिम समुद्रपर चोरीसे अथवा साहस करके भी नहीं आ सकता था। मराठे सरदार कहते थे कि पहले 'हिन्दूपद पादशाही' को कर दे दो, बादको हिन्दू समुद्रपर पैर रखो।

मराठा नौ सेनापति कान्हों जी आंगरे

शिवाजी महारजके पौत्र साहुजी महाराज के समयमें पेशवाने कान्होजी आंग्रेको नौ सेना संचालक (ऐडमिरल) नियुक्त किया था। उस समय कान्होजी के अधिकारमें खन्देरी, कुलाबा, स्वर्ण दुर्ग और विजय दुर्गके किले थे। पर कुछ ही दिनों बाद कान्होजी ने कोंकण तककी सुरक्षाकी व्यवस्था कर दी थी। काठियावाड़से मलबार तक कान्होजी आंगरेके नामसे विदेशी थर्राते थे। फिर भी अंगरेज़ उनसे और उनके पुत्रोंसे लड़ते ही रहते थे यद्यपि हर लड़ाईमें इन्हें मुंहकी खानी पड़तीथी। १७११ ईस्वीमें बम्बईके गवर्नर सरचार्ल्स बूनने आंग्रेके प्रधान कार्यालय घेरियापर चढ़ाई की थी, पर मार भगाया गया था। फिर भी दुबारा अधिक

नौबलसे आक्रमण किया इसबार अंगरेज सिपाहियोंके साथ देसी सिपाही भी थे। ये चार जहाजोंका बेड़ा ले गये थे। इसमें एक फ्रिगेट, २ ग्रैब[1] और ५० जहाज थे। धेरियामें ये उतर तो गये, पर आंग्रेने इन्हें ऐसा मारा कि पिछले पांवों भागना पड़ा। इसके बाद आंग्रेने बन्दरगाह वा पत्तन बन्द कर दिया। फिर तो अंगरेज अपने पुराने शत्रु पुर्तगालियोंकी सहायतासे भी आंग्रेका बाल बांका न कर सके। जब १७२६ में आंग्रेका देहान्त हो गया और घरमें फूट पड़ गयी, तब अंगरेजोंकी बन आयी।

मराठोंके नौशौर्यके विषयमें दो ऐतिहासिक घटनाएं बहुत प्रसिद्ध हैं। एक सन् १७२२ ईस्वीकी है। उस समय पोर्चुगीजों और अंगरेजोंने प्रतिज्ञा की थी कि मराठोंकी नौसेना जला देंगे और इसी अभिप्रायसे वे हिन्दू समुद्रपर चढ़ गये थे। परन्तु हिन्दू मराठोंने ही उलटे उनके कई जहाज जला दिये, कई डुबा दिये और कई कैद कर लिये।

दूसरी घटना सन् १७८२ ईस्वीकी पेशवा माधवराव नारायणके समयकी है। पेशवाने अपने समुद्रसेनानी जंजीरा टापूके सूबेदार आनन्दराव धुलुपको एक पत्र लिखा था, जिसमें अंगरेजी और मराठी नौसेनाओंकी लड़ाईका वर्णन था कि हैदर नाइकके (हैदर अलीके) मुल्कका बन्दोबस्त करनेके लिये विलायतसे आये हुए कई जहाजोंपर गोला बारूद, ८० हजार घोड़ोंकी बन्दूकें, ४०० गोलन्दाज और ७ कौन्सिलर जल-मार्गसे जा रहे थे। रत्नागिरिमें सबेरे हमारी उनके साथ मुठभेड़ हो गयी और तोपोंका युद्ध आरम्भ हुआ। सन्ध्यातक तोपें चलीं। अंगरेजी जहाजोंको हारते न देख हमने एक जीव हो मालिकके चरणोंका स्मरण कर लड़ाई की। दोनोकी भिड़न्त हुई। हाथपर हाथ मिलने पर यह पता न रहा कि कौन किसको मारता

मराठीं नौसेनाने अंगरेजोंको हराया और कैद किया था।

१ फ्रिगेट हल्का शीघ्रगामी युद्धपोत होता था। इसका काल १६६० से १८४० तक रहा। यह पाल और डंडों से चलता था। ग्रेब किनारे चलने वाला लद्दू जहाज था, जिसमें दो तीन मस्तूल होते थे।

है। इस प्रकार एक पहर (३ घंटे) लड़ाई हुई। हमने मालिकके पुण्यबलसे बेड़ेको हरा दिया। इस लड़ाईमें हमारी ओरके जो आदमी काम आये, उनमें ८ सरदार भी थे। १५०० घायल हुए और ६०० अन्य सैनिक और बर्कन्दाज काम आये। अंगरेजोंके २००० आदमी मारे गये और एक छोटे सैनिककी भी जान गयी तथा ५।६ सौ सैनिक खेत रहे। सारी नौसेना कौन्सिलरों सहित जंजीरेमें कैद कर रखी है। यश देनेवाला मालिक है।

---

६ सैन्यव्यवस्था

सेनाकी कार्यकुशलता, योग्यता और वेतनादिके कारण कौटिल्यने उसके ६ भेद किये हैं, मौल, भृतक, श्रेणी, मित्र, अमित्र और अटवी।

सेनाके भेद कौटिल्यके अनुसार

मौल सेनाके सैनिकोंका राज्यसे पीढ़ियोंका संबंध चला आता है और ये राज्यके बड़े कर्त्तव्यनिष्ठ सेवक होते हैं। सम्भवतः इन्हें राज्यसेवाके वेतन स्वरूप जागीरें मिलती थीं। इसे वर्त्तमान भाषामें नियमित सेना (regular army) कह सकते हैं, यद्यपि इसमें भी सैनिकोंको वेतनादि ही दिये जाते हैं, जागीरें नहीं। भृतक सेना राज्यसे वेतन पाती थी, चाहे राज्यकी रहनेवाली हो वा बाहरकी। श्रेणी सेना योद्धा संघोंकी सेना थी। मित्र सेना अपने मित्रका सेना और अमित्र सेना शत्रुकी सेना होती थी। मित्रकी सेना तो अपने पक्षमें लड़ती ही थी, परन्तु शत्रुकी अभक्त वा असन्तुष्ट सेनासे भी काम लिया जाता था। युद्धमें शत्रुकी अभक्त सेना कभी आत्मसमर्पण भी कर देती है, जैसे गतपूर्व महासमरमें आस्ट्रो-हंगेरियन सेनाने रूसियोंको आत्मसमर्पण कर दिया था। कभी अभक्त शत्रुसेना शत्रुसे मिल भी जाती है, जैसे सर राजर केसमेंटके उद्योगसे उन आयरिश सैनिकोंका बटालियन जर्मनीमें खड़ा हुआ था, जिन्हें युद्धमें जर्मनोंने कैद कर लिया था। सर राजर इन्हें जर्मन बटालियनमें भर्ती कर आयलैंडमें अंगरेजोंसे लड़ानेके लिये ले जाना चाहते थे। अटवीबल कोल, भील आदि वनचरोंका होता है। इस क्रममें अन्तिमसे आदिम उत्तरोत्तर श्रेष्ठ हैं। इन ६ के सिवा एक सातवां भेद कौटिल्यने 'औत्साहिक' भी किया है। स्वोत्साहसे लड़नेके कारण ही इनका 'औत्साहिक' नाम पड़ा था। इसे आजकलकी परिभाषामें वालंटियर आर्मी कह सकते हैं। औत्साहिकके दो भेद होते हैं एक भेद्य और दूसरा अभेद्य। जो लोग भत्ते और लूटकी

आशासे सेनामें भर्ती होते हैं और अधिकका अन्यत्र डौल देखकर फूट जाते हैं, वे भेद्य और जो देशभक्तिसे प्रेरित होकर भर्ती होते हैं और अधिकके लालचसे भी नहीं फूटते, वे अभेद्य हैं। कौटिल्यकी भृतक सेना शुक्रनीतिसारकी साद्यस्क सेना कही जा सकती है, क्योंकि वह तुर्त फुर्त भर्ती की जाती है।

शुक्रनीतिसारके अनुसार

शुक्रनीतिसारने अपने कई सिद्धान्तोंपर सार, असार, शिक्षित, अशिक्षित, गुल्मक, अगुल्मक, दत्तास्त्र, स्वशस्त्रास्त्र, दत्तवाहन, स्ववाही आदि भेद किये हैं। युद्धप्रिय सेना सार और इसके विपरीत असार, व्यूहरचनामें कुशल शिक्षित और अकुशल अशिक्षित कहाती है। जिस सेनाका स्वामी कोई और होता है, वह गुल्मक या गुल्मीभूत और जिसका दूसरा नहीं होता, वह अगुल्मक वा अगुल्मीभूत कहाती है। इसके अनुसार मित्र, श्रेणी और अटवीबलको गुल्मक ही कहेंगे। अटवीबलका दूसरा नाम आरण्यक भी है। जिस सेनाको राजा शस्त्रास्त्र और वाहन देता है, वह दत्तास्त्र और दत्तवाहन कहाती है। मित्रकी सेना मैत्र और अपनी स्वीय होती है। मैत्र सेनाको कृतगुल्म और स्वीयको स्वयंगुल्म कह सकते हैं।[1]

युद्ध छिड़नेपर भारतमें सैनिक भर्ती करनेका काम कठिन नहीं है। आजकल तो आजीविकाके लिये ही लोग सेनामें भर्ती होते हैं, परन्तु प्राचीन

---

१ मौलं बह्वनुबन्धिस्यात्साद्यस्कं यत्तदन्यथा।
सुयुद्धकामुकं सारमसारं विपरीतकम् ॥ ८७४ ॥
शिक्षितं व्यूहकुशलं विपरीतमशिक्षितम्।
गुल्मीभूत साधिकारिस्वस्वामिकमगुल्मकम् ॥ ८७५ ॥
दत्तास्त्रादि स्वामिना यत्स्वशस्त्रास्त्रमतोऽन्यथा।
कृतगुल्मं स्वयंगुल्मं तद्वच्च दत्तवाहनम् ॥ ८७६ ॥ अ० ४

युद्धप्रियताके कारण राज्य वा स्वर्ग की कामना और धर्मरक्षा

कालमें क्षत्रिय बिछौनेपर मरना अपना अपमान समझते थे तथा युद्धमें मरनेके लिये लालायित रहते थे, क्योंकि दो ही पुरुष सूर्यमण्डलको भेदनेमें समर्थ होते हैं एक संन्यासी और दूसरा सम्मुख समरमें मरनेवाला।[1] गीतामें श्रीकृष्ण कहते हैं कि युद्ध क्षत्रियों वा राजाओं के धर्मका एक मुख्य अंग है, इसलिये कोई राजा न तो उसकी उपेक्षा कर सकता है और न उससे विरत हो सकता है। गीतामें ही कहा गया है कि युद्धसे श्रेष्ठ क्षत्रियके लिये कुछ भी नहीं है तथा आप ही आया युद्ध स्वर्गका द्वार है और बड़भागी क्षत्रियोंको वह नसीब होता है। इसके अतिरिक्त मनुस्मृतिमें लिखा भी है कि जब धर्मपर संकट आवे, तब द्विजाति मात्रको शस्त्र ग्रहण कर उसकी रक्षा करनी चाहिये।[2] जो ब्राह्मण आपत्कालमें क्षत्रिय धर्मका अवलम्बन कर युद्ध करता है, वह प्रशंसनीय ही समझा जाता है। राज्य अथवा स्वर्गकी कामना क्षत्रियोंको युद्धके लिये उत्साहित किया करती थी। श्रीकृष्णने अर्जुनको यही समझाकर युद्धमें प्रवृत्त किया था कि जीतोगे तो राज्य पाओगे और मरोगे तो स्वर्ग जाओगे।[3]

सेनाकी व्यवस्था

आजकल जिस प्रकार सेना कम्पनी, प्लैटून, रेजिमेंट, बटालियन, डिवीजन और आर्मीकोर आदिमें बँटी रहती है, उसी प्रकार हिन्दू राज्यकालमें पत्ति, सेनामुख, गुल्म, गण, वाहिनी, प्रत्ना, चमू, अनीकिनी और अक्षौहिणीमें बाँटी जाती थी। यह विभाग इस प्रकार होता था :—

---

१ द्वाविमौ पुरुषौ लोके सूर्यमण्डलभेदिनौ।
परिव्राड् योगयुक्तो यो रणेचाभिमुखं हतः ॥११४८ अ० ४ शु० नीतिसार

२ शस्त्रं द्विजातिभिर्ग्राह्यं यत्र धर्मोपरुध्यते।

३ हतो वा प्राप्स्यसि स्वर्गं जित्वा वा भोक्ष्यसे महीम्।
तस्मादुत्तिष्ठ कौन्तेय युद्धाय कृतनिश्चयः ॥ ३७ ॥
गीता पर्वाध्याय २ भीष्म पर्व, महाभारत

	रथ	हाथी	घोड़े	पैदल	
पत्तिमें	१	१	३	५	
सेनामुखमें	३	३	६	१५	वा ३ पत्ति
गुल्ममें	६	६	२७	४५	वा ३ सेनामुख
गणमें	२७	२७	८१	१३५	वा ३ गुल्म
वाहिनीमें	८१	८१	२४३	४०५	वा ३ गण
प्रतामें	२४३	२४३	७२६	१२१५	वा ३ वाहिनी
चमूमें	७२६	७२६	२१८७	३६४५	वा ३ प्रता
अनीकिनीमें	२१८७	२१८७	६५६१	१०६३५	वा ३ चमू
अक्षौहिणीमें	२१८७०	२१८७०	६५६१०	१०६३५०	वा १० अनीकिनी

महाभारतके उद्योगपर्वमें जो विभाग दिये हैं, वे इनसे कुछ अंशोंमें भिन्न हैं। कहा गया है कि दुर्योधनने व्यूह भंग होनेपर सेनाका व्यूह ठीक कर लेने के लिये कुछ सैनिक अलग (रिजर्व) रख दिये थे और इस रक्षित सेनामें ऐसे रथ थे, जिनके साथ ५० हाथी और प्रत्येक हाथीके साथ १०० घोड़े और प्रत्येक घोड़ेके साथ १०२ पैदल थे। ५०० रथों, ५०० हाथियों, १५०० घोड़ों और २५०० पैदलोंकी एक सेना थी। ऐसी १० सेनाओंकी एक प्रता और १० प्रताओंकी एक वाहिनी थी। २५० सैनिकोंकी एक पत्ति, ३ पत्तियोंका एक सेनामुख वा गुल्म और ३ गुल्मोंका एक गण था। इससे स्पष्ट होता है कि जान बूझकर कौरवोंने भिन्न प्रकारकी सैन्यव्यवस्था रखी थी, जिसमें सैन्य विपुलतासे शत्रुको जीत लें, नहीं तो जहाँ साधारण पत्तिमें १ रथ, १ हाथी, ३ घोड़े और ५ पैदल होते थे, वहां उन्होंने अपनी

कुरुक्षेत्र युद्धमें सेनाकी व्यवस्था

स्वधर्ममपि चावेक्ष्य न विकम्पितुमर्हसि।
धर्म्याद्धि युद्धाच्छ्रेयोऽन्यत्क्षत्रियस्य न विद्यते ॥ ३१ ॥
यदृच्छया चोपपन्नं स्वर्गद्वारमपावृतम्।
सुखिनः क्षत्रियाः पार्थ लभन्ते युद्धमीदृशम् ॥ ३२ ॥ अ० १

पत्तिमें ५+५+१५+२५=५० सैनिक रखे थे। इसी प्रकार दुर्योधनकी असाधारण प्रद्वामें ५,००० रथ, ५,००० हाथी १५,००० घोड़े और २५,००० पैदल थे। ऊपर जो हिसाब बताया गया है, उसके अनुसार प्रद्वा बड़ी और वाहिनी छोटी थी, परन्तु दुर्योधनकी सैन्य-व्यवस्थामें प्रद्वा छोटी और वाहिनी बड़ी होती थी। कौरवोंकी सेनामें ११ और पाण्डवोंकी सेनामें ७ अक्षौहिणी थीं। फिर यदि हम इसपर भी ध्यान रखें कि कौरवोंकी प्रद्वा बड़ी थी, तो स्वभावतः हमें यह भी मानना पड़ेगा कि उनकी अक्षौहिणी भी पाण्डवोंकी अक्षौहिणीसे बड़ी अवश्य होगी। इस प्रकार पाण्डवसे कौरव द्विगुणबलसे युद्ध करते थे। कौरवोंके सेनापति भीष्म और पाण्डवोंके पाञ्चालके राजा धृष्टद्युम्न थे।

सेनापतिमें क्या गुण होने चाहिये यह भीष्मने कौरव सेनाका आधिपत्य स्वीकार करते हुए अपने गुणोंके वर्णनके मिस बताया है। वे कहते हैं कि मैं देवसेनापति कुमारका पूजन करता हुआ निश्चय ही तुम्हारा सेनापतित्व करूँगा। मैं युद्धविद्या और विविध प्रकारकी व्यूहरचना जानता हूँ। मैं भृतकों और अभृतकोंसे काम लेना भी जानता हूँ। युद्धके समय और पीछे हटनेके समय मैं कूच करना और व्यूहरचना जानता हूँ। हे राजन्, मैं बृहस्पतिके समान पंडित हूँ। मैं देवताओं, गन्धर्वों और मनुष्योंकी व्यूहरचना जानता हूँ। इससे मैं पाण्डवों को चकरा दूँगा। तुम अपने हृदयका ताप दूर करो। मैं तुम्हारी सेनाकी रक्षा करता हुआ युद्धविद्याके अनुसार शत्रु से युद्ध करूँगा। हे महाराज, तुम्हारा ताप दूर हो।[1]

सेनापतिकी योग्यता महाभारत के अनुसार

---

१ नमस्कृत्य कुमाराय सेनान्ये शक्तिपाणये।
अहं सेनापतिस्तेऽद्य भविष्यामि न संशयः॥ ७॥
सेना कर्माण्यभिज्ञोऽस्मि व्यूहेषु विविधेषु च।
कर्मकारयितुञ्चैव भृतानाप्यभृतांस्तथा॥ ८॥

कौटिल्यके अनुसार

कौटिल्यका कहना है कि सेनाके चारो अंगोंका जो कुछ कार्य बताया गया है, वह सब सेनापतिको जानना चाहिये। उसे सर्व प्रकारके युद्धों और शस्त्रास्त्र चलानेमें कुशल, विद्याओंसे विनीत, हाथी, घोड़े, रथ आदिके चलानेमें चतुर होना और अपनी चतुरंगिणी सेनाके कार्यों तथा स्थानोंके विषयमें पूरी जानकारी रखनी चाहिये। इसके साथ ही सेनापतिको अपनी भूमि, युद्धका समय, शत्रुकी सेना, शत्रुका व्यूहभेदन, बिखरी हुई अपनी सेनाका एकत्रीकरण, परस्परकी रक्षाके लिये शत्रुका बल तोड़ना, बिखरी हुई शत्रुसेनाको मारना, शत्रुके दुर्गका तोड़ना और यात्राका समय इन बातोंपर भली भांति विचार करके कार्य करना चाहिये। सेनापतिको यह भी ध्यानमें रखना चाहिये कि हमारी सेना पड़ाव डालने और चढ़ाई करनेमें ही नहीं, अनुशासनमें भी ठीक रहे और तुरही, ध्वज और झंडियोंके नामपर व्यूहोंके नाम भी उसे रखने चाहिये।[1]

यात्रायाने च युद्धे च तथा प्रशमनेषु च।
भृशं वेद महाराज यथा वेद बृहस्पतिः ॥ ९ ॥
व्यूहानाञ्च समारम्भान् दैवगान्धर्वमानुषान्।
तैरहं मोहयिष्यामि पाण्डवान् व्येतु ते ज्वरः ॥ १० ॥
सोऽहं योत्स्यामि तत्त्वेन पालयंस्तव वाहिनीम्।
यथावच्छास्त्रतो राजन् व्येतु ते मानसो ज्वरः ॥ ११ ॥ अ० १६४
उद्योगपर्व

१ तदेव सेनापतिः सर्वयुद्धप्रहरणविद्याविनीतो हस्त्यश्वरथचर्यासंघुष्टश्चतुरङ्गस्य बलस्यानुष्ठानं विद्यात् ॥१२॥ स्वभूमिं युद्धकालं प्रत्यनीकमभिन्नभेदनं भिन्नसन्धानं संहतभेदनं भिन्नवधं दुर्गवधं यात्राकालं च पश्येत् ॥ १३ ॥
तूर्यध्वजपताकाभिर्व्यूहसंज्ञाः प्रकल्पयेत्।
स्थाने याने प्रहरणे सैन्यानां विनये रतः ॥ १४ ॥ अधि० २ अ० ३३

रामरावण युद्धमें रावणका पुत्र प्रहस्त राक्षस सेनापति था। अन्तिम मौर्य राजाका सेनापति पुष्यमित्र सुंग था। अयोध्यामें जो लेख मिला है, उसके अनुसार पुष्यमित्र सेनापति कहाता था। गुप्तकालके लेखोंमें भी सेनापति ही लिखा मिलता है। महाराज द्वितीय धारसेनके मलिय ताम्रापत्रमें (ईस्वी सन् ५७१-७२) वल्लभी राजवंशका संस्थापक भट्टाक और उसका पुत्र प्रथम धारसेन 'परममहेश्वर श्री सेनापति' लिखा गया है। वाकाटक महाराज द्वितीय प्रवरसेनका ताम्रपत्र सेनापति चित्रवर्मन्ने और उन्हींका सिवानी ताम्रपत्र वप्पदेवने लिखा था, जो उस समय सेनापतिका कार्य कर रहा था। यौधेयोंके विजयगढ़ शिलालेखसे जान पड़ता है कि उस समय सेनापति केवल सेनानी रह गया था, इसलिये सेनापति महासेनापति कहाने लगा था। पाल राजाओंके लेखोंमें भी सेनापतिकी चर्चा है।

युद्धमें सेनापति और राजा

शुक्रनीतिसारमें सेनापतिकी योग्यताके विषयमें यह विलक्षण बात लिखी है कि वह क्षत्रिय होना चाहिये और क्षत्रिय न मिले तो ब्राह्मण होना चाहिये। वैश्य और शूद्र उसी अवस्थामें सेनापति बनाये जा सकते हैं, जब वे शूरवीर हों। क्षत्रियोंको जैमिनिने मंत्री बनानेका इसलिये निषेध किया है कि उन्हें युद्ध ही सूझता रहता है और वे मंत्रके और तीन अंगों—साम, दाम तथा भेदका महत्त्व नहीं समझते। नीतिवाक्यामृत भी इसी मतका पोषक है। जो हो, वैश्य और शूद्रको सेनापति बनानेका विरोध शुक्रनीतिसारने कदाचित् इसलिये किया है कि युद्धक्षेत्रमें वे परन्तप (शत्रुको तपानेवाले) नहीं हो सकते।

सेनापतिमें क्षत्रियत्व वा शौर्यका प्रयोजन

रामायणसे जाना जाता है कि राक्षस सेनापति प्रहस्तके चार सचिव भी थे, जो नारान्तक, कुम्भहनु, महानन्द और सुमुन्यत नामोंसे प्रसिद्ध थे। जब राक्षसव्यूह यान (चढ़ाई) करता था अथवा आगे बढ़ता था, तब सेनापतिको ये सचिव घेरे रहते थे। ये अंगरक्षक हो सकते हैं, पर इस वर्णनसे यह

युद्ध समिति वा वार कौन्सिल

अनुमित होता है कि सेनापति युद्ध सञ्चालनके विषयमें इनसे परामर्श करता था। इससे ये सचिव उसकी युद्धपरिषद्‌के सदस्य ही प्रतीत होते हैं। अवश्य ही ये युद्धकलामें निपुण होते होंगे। परन्तु इन सचिवोंकी चर्चा अन्यत्र देखी नहीं जाती।

युद्धक्षेत्रमें राजकुमार वा कुमार भी जाता था, पर इसका दर्जा सेनापति से नीचे होता था। सेनापतिका वेतन कुमारके वेतनसे चौगुना हो यह कौटिल्यका मत है। अपनी सेनाको उत्साहित करते समय कहा जाता था कि शत्रु राजाका वध करनेवाले को एक लाख पण और सेनापति अथवा कुमारका वध करनेवालेको पचास हजार पण पुरस्कार दिया जायगा। राजा सेनाका स्वामी अवश्य था, तथापि युद्धमें सेनाको प्रोत्साहन देना मात्र उसका कार्य था। वास्तविक युद्धसंचालन सेनापति ही करता था। कुमार युवराज नहीं होता था, परन्तु राजपुत्र होनेके कारण इसकी गतिविधिका महत्त्व था। सम्भवतः कुमार भी सेनाके किसी अंशका सेनानी होता था। प्रत्येक यानमें कुमारको भेजनेका कारण उसे युद्धका अनुभव करानेके सिवा कुछ नहीं जान पड़ता।

युद्धमें कुमार

सेनापतिको दण्डनायक वा महासेनापति भी कहते थे। कनिष्कके मनिकियल लेखमें लाल कुशान वंशका 'दण्डनायक' बताया गया है। गुप्तकालके लेखमें सेनापति और महासेनापतिके अतिरिक्त, दण्डनायक, महादण्डनायक, बलाध्यक्ष, महाबलाध्यक्ष, बलाधिकृत और महाबलाधिकृतका उल्लेख है। ७ वीं ईस्वी शताब्दीके नेपालके लेखोंमें सर्वदण्डनायक और महासर्वदण्डनायक नाम मिलते हैं। गौड़लेखमालाके अनुसार देवपालके नालन्दा ताम्रपत्रोंमें महादण्डनायक, गौल्मिक, हस्त्यश्वोष्ट्रनौबलव्यापृतक, नौकाध्यक्ष, हस्त्यध्यक्ष, अश्वाध्यक्ष इत्यादिका उल्लेख है। इन नामोंमें हस्त्यश्वोष्ट्रनौबलव्यापृतक महासेनापतिका नामान्तर ही जान पड़ता है, क्योंकि हाथी, घोड़े, ऊँट और नौबल इसीके अधीन थे।

सेनापतिके और नाम

कौटिल्यने सेनापतिके नीचे बलाध्यक्षों—पत्त्यध्यक्ष, अश्वाध्यक्ष, रथाध्यक्ष और हस्त्यध्यक्षको रखा है। इन्हें ८००० वा ४००० पण वार्षिक वेतन मिलता था। रथिक वा रथी रथपर चढ़कर युद्ध करता था। इसका तथा सेनाके चिकित्सकोंका वेतन २।२ हजार और अंगरक्षकका ६० और बढ़ई वा मिस्त्री का १२० पण वार्षिक था। बलमुख्य और बलाध्यक्ष दोनो शब्द पर्यायवाची जान पड़ते हैं।

सेनापतिके नीचेके बलाध्यक्ष

शुक्रनीतिसार में ५।६ पैदलोंका अधिकारी पत्तिपाल और ३० का गुल्मक बताया गया है। सौ पदातियोंका नायक शतानीक कहाता है। इसका काम सवेरे और संध्या सेनाको शिक्षा देना और व्यायाम (कवायद—ड्रिल) कराना है। इसे युद्धविद्या और युद्धक्षेत्रके स्वरूपोंका ज्ञान होना आवश्यक है। इसका सहायक अनुशतिक बताया गया है। सैनिकोंकी आवश्यकताका ज्ञान तथा युद्धोपयुक्त सैनिककी पहचान जिसे होती है और जो सन्तरी और रक्षक नियुक्त करता है, वह शुक्रनीतिसारके मतसे सेनानी होता है। पत्तिप वा पत्तिपाल रात्रिको सैनिकोंकी बदली करता है और गुल्मक पता रखता है कि रातको किस किसका पहरा होता है। लेखक भी सौ सैनिकों का अफसर होता है और इसका काम यह जानना है कि कितने सैनिक हैं और उन्हें क्या वेतन मिलता है तथा पुराने सैनिक कहाँ चले गये। १० घोड़ों वा १० हाथियोंके अफसरका नाम नायक है।

अध्यक्षोंके नीचेके अधिकारी और उनके कार्य

प्राचीन कालमें युद्धोंमें योद्धाओंकी कितनी संख्या उभय पक्षमें रहती थी यह नहीं कहा जा सकता। परुष्णि (रावी) नदीपर तृत्सुओंके राजा सुदास और दस राजाओंमें जो युद्ध हुआ था, ऐतिहासिक होनेपर भी उससे हमें सेनाके विषयमें कोई विशेष ज्ञान नहीं होता। राम-रावण युद्धके पहले पम्पापुरीमें जो वानर सेना एकत्र हुई थी, रामायणमें दी हुई उसकी

युद्धमें योद्धाओंकी संख्या

संख्या इतनी अधिक है कि विश्वास करना कठिन हो जाता है। अकेले अङ्गदकी सेनामें ही 'एक सहस्र पद्म और एक शत शंख' सैनिक थे। किसी किसीके मतसे एक पद्म १०,००० करोड़ और एक शंख १०० करोड़ के बराबर होता था। वानरी सेनामें और भी सेनानायक थे, जिनकी सेनामें हजारों करोड़ सुभट थे। कुरुक्षेत्र युद्धमें पाण्डवोंके सहायतार्थ सात्त्वत जातिके वीर युयुधानने चेदिराज धृष्टकेतु और मगधराज जयत्सेनने एक एक अक्षौहिणी सेना भेजी थी तथा पाण्ड्य, मत्स्य, पाञ्चाल आदिके राजाओंको ४ अक्षौहिणी सेनाएं थीं। इनका सामना करनेको कौरवोंकी ११ अक्षौहिणी सेनाएं थीं, जिसमें प्राग्ज्योतिषके (आसामके) राजा भगदत्त, भूरिश्रवा, मद्रराज शल्य, हरिदिकके पुत्र कृतवर्मा, सिन्धु सौवीरके राजा जयद्रथ, काम्बोजके राजा सुदक्षिण, आवन्तीके दोनो राजाओं तथा केकयके राजाने एक-एक अक्षौहिणी सेना भेजी थी। पाण्डवोंके पक्षमें १,५३,०९० रथ, १,५३,०९० हाथी, ४,५६, २७० घोड़े ७,६५,४५० पैदल थे तथा कौरवोंके पक्षमें २४०, ५७० रथ, २४०,५७० हाथी, ७, २१, ७१० घोड़े और १२,०२,८५० पैदल थे।

सिकन्दरके भारताक्रमणके समय यहाँ किस राज्य वा देशमें कितनी सैन्यसंख्या थी इसका जो वर्णन सिकन्दरके इतिहासलेखकोंने किया है, उसका सारांश नीचे दिया जाता है :—

सिकन्दरके समयकी भारतीय सेनाएँ

जातियों-राजाओं वा नगरोंके नाम	संख्या सैनिकोंकी
१ मस्सग नगरकी रक्षा को	३८,००० पैदलोंने
२ पोरस (राजा) कर्टियसके अनुसार इसकी सेनामें	३०,००० पैदल ३०० रथ और ८५ हाथी थे।
डियोडोरसके अनुसार	५, ००,००० पैदल ३,००० घोड़े १, ००० रथ और १३० हाथी थे।
३ अग्रमस (राजा)	२,००,००० पैदल, २०,००० घोड़े, चार घोड़ोंवाले २००० रथ और युद्ध के लिये ३।४ शिक्षित और सज्जित हाथी

४ सिबि (पतञ्जलिके शैव्य) ४०,००० पैदल

५ मल्लोइ या मल्ली (मल्ल जाति) ६०,००० पैदल, १०,००० सवार और ६०० युद्धरथ

६ सब्रकाई (जाति) ६०,००० पैदल और ६,००० सवार और ५०० रथ

७ अगलासियन (अग्रश्रेणी जाति) ४०,००० पैदल और ३,००० घोड़े

८ अस्सकेनोइ (जाति) ३०,००० पैदल और २,००० घोड़े और ३० हाथी

९ अंड्रकोटसन (चन्द्रगुप्तने) प्लूटार्चके अनुसार ६,००,००० सैनिकोंसे समग्र भारतको पादाक्रान्त कर दिया।

सेल्यूकसके साथ चन्द्रगुप्तके युद्ध और सन्धिके बाद यवन दूत मेगस्थनीज़ पाटलिपुत्रमें रहा था। इसने भारतीय जातियों और उनकी सेनाओंका जो वर्णन लिखा है, उससे उनकी सेनाओंके विषयमें यह पता लगा है:—

मेगस्थनीजके अनुसार भारतीय सेनाएँ

१ कलिंग (जाति)	६०,००० पैदल,	१,००० सवार	और	७००	हाथी
२ मोलिन्द, उबेरोइ, मदुबोइ	५०,००० ,,	४,००० ,,	,,	४००	,,
३ अन्दराइ (आन्ध्र)	१,००,००० ,,	२,००० ,,	,,	१,०००	,,
४ प्रासिआई (प्राच्य) (राजधानी पाटलिपुत्र)	६,००,००० ,,	३०,००० ,,	,,	९,०००	,,
५ ओटोमेला (नगर)	१,५०,००० ,,	५००० ,,	,,	१६००	,,
६ पाण्ड्य	१,५०,००० ,,	सवार नहीं		५००	,,
७ गंगाराइडे	६०,००० ,,	१,००० सवार	और	७००	,,

विजयनगरके सम्राटोंकी सेनाएँ भी छोटी न थीं। मेजर टी. डबल्यू. हेगके अनुसार १३९९ ईस्वीमें द्वितीय हरिहरने ९ लाख पैदल और ३० हजार सवार लेकर रायचूर दोआब जीतनेका प्रयत्न किया था और १५२१ में कृष्णरायने युद्धक्षेत्रमें ६ लाख पैदल और ५० हजार सवार एकत्र कर दिये थे और १५६४ में सदाशिवरायकी सेनामें ३० लाख

मध्यकालीन भारतीय सेनाएँ

पैदल, १ लाख सवार, २ हजार हाथी और १ हजार तोपें थीं। ऐसी बड़ी सेनाएँ भारतीय राजाओं और राज्योंकी विशेषता थी, क्योंकि विदेशियोंके सिवा समय समयपर उन्हें स्वदेशियोंसे भी लड़ना पड़ता था। जेजाभुक्ति वा जुजहुतके चंदेल राजा गण्डने भी महमूद गजनवीका सामना करनेके लिये १,०५,००० पैदल ३६,००० सवार और ६४० हाथी एकत्र किये थे, परन्तु वह कायर था, इसलिये रातको आप ही भाग गया, जिससे अनायास महमूद विजयी हो गया।

युद्ध और व्यूह

युद्धकी परिभाषा

स्वार्थसिद्धिके लिये अस्त्रशस्त्रादिसे जो व्यापार होता है, उसे युद्ध कहते हैं अथवा अस्त्रशस्त्रादिसे शत्रुका जो दमन किया, जाता है, वह युद्ध कहाता है।

युद्धोंके भेद

प्रायः सभी आचार्योंने दो प्रकारका युद्ध माना है एक धर्मयुद्ध और दूसरा कूटयुद्ध। परन्तु कौटिल्य तीन प्रकारका युद्ध मानते हैं, प्रकाश, कूट और तूष्णीम्। प्रकाश युद्धमें खुल्लमखुल्ला डंकेकी चोट पर युद्ध छेड़ा जाता है। शत्रुको ललकार उसपर आक्रमण किया जाता है। इसमें युद्धकी सभी बातें होती हैं। पर छोटी-सी सेनाको बड़ी दिखाकर भय उत्पन्न कर देना, दुर्ग आदिका जलाना, लूटना, प्रमाद और व्यसनके समय शत्रुको पीड़ा देना तथा एक जगह युद्ध छेड़कर दूसरी जगह धावा बोल देना कूट युद्धके लक्षण हैं। विष, औषधि आदि तथा गूढ़ पुरुषों अर्थात् भेदियों द्वारा उपजाप (बहकाने, धोखा देने) आदिके प्रयोगोंसे शत्रुका नाश करना तूष्णीम् युद्ध है।[1] दो महासमरमें तीनो प्रकारके युद्ध दिखाई देते हैं।

धर्म युद्ध किसे कहते हैं?

धर्म युद्ध कुछ निर्द्धारित नियमोंके अनुसार होता था। धर्म युद्धके नियम मानवोचित दयादि गुणोंसे युक्त होते हैं। इसका उद्देश्य शत्रुसेनाका संहार नहीं होता, प्रत्युत उससे हार स्वीकार कराना और अधिकसे अधिक उसे करद बनाना मात्र होता है। इसलिये ऐसे बाणोंका प्रयोग निषिद्ध है, जो

---

१ प्रकाशयुद्ध निर्दिष्टो देशे काले च विक्रमः।
विभीषणमवस्कन्दः प्रमादव्यसनार्दनम्॥ ४६॥
एकत्र त्यागघातो च कूटयुद्धस्य मातृका।
योगगूढ़ोपजापार्थं तूष्णीं युद्धस्य लक्षणम्॥ ४७॥ अधि० ७ अ० ७

विषदग्ध (जहर बुझाये) होते थे अथवा जिनके निकालनेमें घाव बढ़ जाता है। दमदम बुलेट ऐसी ही गोली है जिसके प्रयोगका निषेध हेगकी अन्तरराष्ट्रिय पंचायतने किया है, यद्यपि ब्रिटिश भारतकी सरकार सीमान्तकी जातियोंपर उसका प्रयोग न करनेके लिये अपनेको बाध्य नहीं समझती थी। धर्म युद्धमें एक बात यह आवश्यक थी कि वह समबलमें ही हो अर्थात् पदाति पदातिसे, अश्वारोही अश्वारोहीसे तथा रथी और गजारोहीसे ही युद्ध हो सकता था। महाभारतमें स्पष्ट ही कहा गया है कि अश्वारोही रथीपर और रथी अश्वारोहीपर आक्रमण न करे। यह भी नियम था कि जिसका शस्त्र भंग हो गया हो, जो गिर पड़ा हो, जिसके कवच और ध्वज भंग हो गये हों, जो डरा हुआ हो अथवा जो कहता हो कि 'मैं तेरा हूँ' घायल हो, दुःखित या पराजित हो अथवा स्त्री हो, तो उसपर शस्त्र न चलाया जाय। शत्रुपक्षके घायलोंकी चिकित्सा और परिचर्या करनेका भी नियम था। इन नियमोंका व्यवहार स्वदेशी और विदेशी तथा स्वधर्मी और विधर्मी सब प्रकारके शत्रुओंके साथ होता था। सम्भवतः इसी कारण अनेक बार अविश्वसनीय विदेशी शत्रुओंसे धोखा भी खाना पड़ा। महाभारतसे जाना जाता है कि कुरुक्षेत्र युद्धमें गदायुद्धके नियमोंके विरुद्ध भीमने दुःशासनकी जाँघ तोड़ दी थी। इसके पक्षमें कहा जाता है कि उसने द्रौपदीको अपनी जाँघपर बैठनेको जब कहा था, तब भीमने उसकी जंघा तोड़नेकी प्रतिज्ञा की थी। परन्तु साधारणतः इन नियमोंका पालन 'डिक्लरेशन आव लंडन' के नियमोंकी अपेक्षा अधिक ही होता था।

धर्मयुद्धका उद्देश्य तो धर्मका संस्थापन और अधर्मका नाश ही होता है, परन्तु सार्वभौम बननेकी उच्चाभिलाषाके कारण दिग्विजय पूर्वक राजसूय, अश्वमेधादि द्वारा पराक्रम प्रकट करनेके लिये भी युद्धका प्रयोजन होता था। धर्मराज्य संस्थापन मुख्य उद्देश्य होनेके कारण यदि किसी शत्रुसे धर्मयुद्धद्वारा विजय पाना असम्भव दिखता था, तो छलका आश्रय भी

धर्म युद्धका उद्देश्य

लिया जाता था। मगधराज जरासन्ध जब चेदिराज शिशुपालकी सहायतासे अपनेको चक्रवर्ती वा सम्राट् घोषित करनेकी तैयारी कर रहा था, उसी समय पांडवोंने दिग्विजयके लिये प्रस्थान किया और श्रीकृष्णके परामर्शपर भीमने छलपूर्वक उसे मार डाला। समुद्रगुप्त और विक्रमादित्य यशोधर्मदेवने यशोलाभके लिये ही दिग्विजय किये थे। यशोधर्मदेव विक्रमादित्यके विषयमें शिलालेखमें बताया गया है कि जिन देशोंपर गुप्तोंकी प्रभुता नहीं थी, उन्हें भी यशोधर्मदेवने जीता था और उसके सरदारोंके सामने लौहित्य वा ब्रह्मपुत्र नदसे लेकर महेन्द्राचलतक तथा हिमालयसे समुद्रतटवर्ती राजातक सिर झुकाते थे।

कूटयुद्धमें छलबलसे वैरीको मारना ही उद्देश्य रहता है। इसमें पूर्वोक्त नियमोंका पालन नहीं होता। महाभारतके शान्ति पर्वमें और मनुस्मृतिमें तो

कूटयुद्ध

विशेष रूपसे कहा गया है कि जो अयोद्धा (non-combatants) हों, वे न मारे जायं। खेती और शत्रुके देशका नाश करना भी अधर्म बताया गया है। परन्तु कौटिल्यका कहना है कि यदि शत्रु देशके लोग विजिगीषुके प्रति शत्रु भावापन्न हों, तो वह उनकी खेती, अन्न, भांडार तथा अन्य प्रकारका सामान नष्ट कर दे। यदि राजाकी प्रजा उससे सन्तुष्ट होगी, तो इसका विजिगीषुके प्रति शत्रुभाव रखना स्वाभाविक ही है। इसलिये यह देशभक्तिके कारण प्रजाको दंड देना है। जो विजिगीषु येन केन प्रकारेण परराज्यको स्वराज्य बनाना चाहता है, वह तो विरोधियोंका सर्वनाश करनेका प्रयत्न करता ही है। गत महासमरोंमें यही हुआ था।

कौटिल्यने तीन प्रकारके विजिगीषु कहे हैं धर्मविजयी, असुरविजयी और लोभविजयी। धर्मविजयी वह है, जो शत्रुके अधीनता स्वीकार करने

विजिगीषु तीन प्रकारके

मात्रसे सन्तुष्ट और प्रसन्न होता है। लोभविजयी धन और धरती पानेसे सन्तुष्ट होता है, परन्तु असुरविजयी इतनेसे ही प्रसन्न नहीं होता, दुर्बल शत्रुको नष्ट करना ही उसका उद्देश्य होता है। इसलिये इसे सदा दूर रखना चाहिये।

युद्धके लिये जब सेना प्रस्थान करती है, तब राजा वा सेनापति उसे प्रोत्साहित करनेके साथ ही कर्त्तव्यका उपदेश देता है और बताता है कि कर्त्तव्यका यथोचित पालन न करनेसे अथवा रणभूमिमें पीठ दिखानेसे बड़ी अपकीर्ति होती है। जो सैनिक भृति वा वेतन पाकर काम नहीं करता, वह नरकगामी होता है। कौटिल्यने बताया है कि राजा अपनी सेनाको एकत्र करके कहे, 'मैं भी आपकी भाँति वेतन पाता हूँ। आपके साथ ही इस राज्यका भोग कर सकता हूँ। मेरे बताये शत्रुको आपको अवश्य ही मार डालना चाहिये।' फिर मंत्री और पुरोहितसे इस प्रकार कहलवावे, 'वेदोंमें ऐसा सुना जाता है कि दक्षिणादान और अवभृथस्नानके पश्चात् आशीर्वादमें कहा जाता है 'जो शूरवीरोंकी गति होती है, वही तेरी भी हो।' अनेक यज्ञ करके, तप करके और दानपात्रोंका चुनाव करके स्वर्गकी कामना करनेवाले ब्राह्मण जिन लोकोंको जाते हैं, शूरवीर क्षत्रिय धर्मयुद्धमें प्राण त्याग करके उनसे भी उच्चतर लोकोंको एक क्षणमें चले जाते हैं। जलसे पूर्ण, मंत्रोंसे संस्कृत और कुशोंसे ढका हुआ नया सेरवा (सकोरा) उस पुरुषको प्राप्त नहीं होता, जो स्वामीके लिये युद्ध नहीं करता और वह नरक जाता है।"[1] अर्थात् श्रद्धापूर्वक दिया हुआ जलपात्र कायरोंको नहीं मिलता। अन्तमें सूत (इतिहासज्ञ) और मागध

सेनामें युद्धोत्साह करनेका उपाय

---

१ संहत्य दण्डं ब्रूयात् ॥ २८ ॥ तुल्य वेतनोऽस्मि ॥ २९ ॥ भवद्भिःसह भोग्यमिदम् राज्यं ॥ ३० ॥ मयाभिहितः परोऽभिहन्तव्य इति ॥ ३१ ॥ वेदेष्वप्यनुश्रूयते 'समाप्तदक्षिणानां यज्ञानामवभृथेषु ॥ ३२ ॥ सा ते गतिर्या शूराणां' इति ॥ ३३ ॥ अपीह श्लोकौ भवतः ॥ ३४ ॥

यान्यज्ञसंघैस्तपसा च विप्राः स्वर्गैषिणः पात्रचयश्च यान्ति।
क्षणेन तानप्यतियान्ति शूराः प्राणान्सुयुद्धेषु परित्यजन्तः ॥ ३५ ॥
नवं शरावं सलिलस्य पूर्णं सुसंस्कृतं दर्भकृतोत्तरीयम्।

(स्तुतिपाठक) वीरोंके स्वर्ग जाने और कायरोंके नरक जानेकी बातें कहें और योद्धाओंको बतावें कि तुम वीर जातिमें जन्मे हो, तुम्हारा संघ वीरोंका संघ है और तुम्हारे वंशमें लोग वीरकार्योंके लिये प्रसिद्ध रहे हैं।[1]

जब विजिगीषु यान (चढ़ाई) करे, तो सेना किस ढङ्गसे कूच करे इस विषयमें कौटिल्यने बताया है कि आगे नायक रहे, बीचमें रनिवास और राजा रहें, तथा दोनो पक्षोंमें शत्रुका आघात रोकनेवाली घुड़सवार सेना रहे। सेनाके पिछले भागमें हाथी रहें और सबसे पीछे सेनापति रहे। इस सेनाके साथ अन्न, भूसा, घास, जल आदिकी पूरी व्यवस्था रहे। रास्ते और वनसे जो घास, भूसा आदि संग्रह किया जाता है, वह प्रसार कहाता है और जो कमिसरियटके रूपमें छकड़ों और लद्दू जानवरोंपर सेनाके साथ लगातार जाता है, वह वीवध कहाता है। रनिवासका यानपर जाना कदाचित् आवश्यक समझा जाता था, इसलिये पानीपतकी तीसरी लड़ाईमें भी मराठे सेनानायक स्त्रियोंको मालवेमें छोड़ देनेके बदले साथ लेते गये थे। इस व्यवस्थाका एक कारण तो यह जान पड़ता है कि रानियाँ युद्ध देखेंगी, तो उनमें भी वीर भावना उत्पन्न होगी और वे वीरप्रसविनी होंगी। युद्धमें मरनेका तो आश्चर्य ही नहीं, इसलिये जो राजा या सेनापति मरेगा, उसकी स्त्री उसका अन्तिम दर्शन कर सकेगी। अस्तु, सेनामें स्त्रियोंके रहनेके स्थानको अपसार और मित्रबलको आसार कहते हैं।[2]

यानमें कौन-कौन हों और यान करनेवाली सेनाके चलनेका क्रम क्या हो?

तत्तस्य माभून्नरकं च गच्छेद्यो भर्तृपिण्डस्य कृते न युद्धेत् ॥ ३६ ॥ इति मंत्रिपुरोहिताभ्यामुत्साहयेद्योधान् ॥ ३७ ॥ अधि० १० अ० ३

१ सूतमागधाः शूराणां स्वर्गमस्वर्गं भीरूणां जातिसंघकुलकर्मवृत्तस्तवं च योधानां वर्णयेयुः ॥ ४६ ॥ अधि० १० अ० ३

२ पुरस्तान्नायकः ॥ ५ ॥ मध्ये कलत्रं स्वामी च ॥ ६ ॥ पार्श्वयोरश्वा

युद्धक्षेत्रमें लड़नेके लिये सेनाकी जो सजावट की जाती है, वह व्यूह कहाती है। व्यूहरचना भी युद्धकलाकी दृष्टिसे बड़ा भारी कौशल है। कभी कभी इसी व्यूहरचनाचातुर्यकी बदौलत अल्पसंख्यक सेना बहुसंख्यक सेनापर विजय प्राप्त करती देखी गयी है। कुरुक्षेत्रयुद्धमें पांडवोंकी व्यूहरचना इसका प्रमाण है। कौरवोंकी सेना चक्रव्यूहमें थी, परन्तु पांडव नित्य नये ढंगका व्यूह बनाया करते थे। भीष्म द्रोण आदि महारथियोंकी रक्षाके लिये चक्रव्यूह बनाया गया था। सिकन्दरकी व्यूहरचना भी उसकी जीतका कारण हुई थी। व्यूहरचना दो प्रकारकी होती है। एक तो वह जिस समय सेना युद्धमें प्रवृत्त की जाती है और दूसरी वह जब मुख्य सेना शत्रुकी दृष्टिसे परे रख दी जाती है और छोटीसी सेना सजाकर खड़ी कर दी जाती है। कौशल इसीमें है, इसलिये कौटिल्यके मतानुसार इसका वर्णन किया गया है।

व्यूह और उसका महत्त्व

प्रत्येक व्यूहके पाँच अंग वा भाग होते हैं, दो पक्ष, दो कक्ष और एक उरस्य। सेनाके दोनों अगले भागोंको पक्ष (Wings) और पिछले भागोंको कक्ष (rear) तथा मध्य भागकी संज्ञा उरस्य (frent) है। व्यूह चारों अंगोंको मिलाकर भी बनाया जाता था और अलग अलग भी। पदतिके व्यूहमें एक पैदल दूसरेसे एक शम वा १४ अंगुलकी दूरीपर रखा जाता था। सवारोंमें ३ शमका और रथोंमें ५ शमका तथा हाथियोंमें इससे दूना अर्थात् १० शमका अन्तर रहता था। बाण चलानेवाले ५।५ धनुषके अन्तरपर, सवार ३।३ धनुपपर और हाथी ५।५

व्यूह और अंगोंकी शक्तिकी तुलना

बाहूत्सारः ॥ ७ ॥ चक्रान्तेषु हस्तिनः ॥ ८ ॥ प्रसारवृद्धिर्वा सर्वतः ॥ ९ ॥ वनाजीवः प्रसारः ॥ १० ॥ स्वदेशादन्वायतिर्वीवधः ॥ ११ ॥ मित्रबल-मासारः ॥ १२ ॥ कलत्रस्थानमपसारः ॥ १३ ॥ पश्चात्सेनापतिः पर्यायान्निवशेत् ॥ १४ ॥ अधि० १० अ० २

धनुषपर खड़े किये जाते थे[1]। दोनों पक्षों, दोनों कक्षों और उरस्यमें ५।५ धनुषोंका व्यवधान रहता था। इसे अनीक सन्धि कहते थे। सवारका सामना करनेकी योग्यता ३ पदातियोंमें समझी जाती थी। रथ वा हाथीका सामना करनेकी सामर्थ १५ पदातियों वा ५ सवारोंमें समझी जाती थी। एक रथ, एक घोड़े और एक हाथीके १५ पादगोप वा सईस नौकर आदि होते थे।

व्यूहके दो मुख्य भेद समव्यूह और विषमव्यूह बताये गये हैं। ३ रथोंका एक त्रिक होता था। तीन त्रिक उरस्यमें, तथा ६।६ कक्षों और पक्षोंमें रहनेसे ४५ रथ होते थे। इनके आगे।५५ घोड़े रखनेसे २२५ घोड़े और १५।१५ पैदल रखनेसे ६७५ पदाति होते थे। इतने ही पादगोप होते थे। यदि रथोंके त्रिकोंमें २।२ रथ तबतक बढ़ाये जाते रहें, जबतक वे २१ न हो जायँ, तो इस प्रकार अयुग्म रूपमें दस भेद समव्यूहके हो जाते हैं। पर यदि उरस्यमें कक्षों और पक्षोंके रथोंकी इस व्यवस्थाके विपरीत रथ रहें अथवा कक्षों और पक्षोंमें उरस्यसे विपरीत रहें, तो इसे विषमव्यूह कहते हैं और इसके भी उसी प्रकार दस भेद हो जाते हैं।

सम और विषम व्यूह तथा आवाप-करण

जब व्यूहरचनाके बाद जो सेना बच जाती है और फिर व्यूहके अन्दर ही डाल दी जाती है, तब ऐसे सैन्यबाहुल्यको आवाप कहते हैं। पदातियोंका इस प्रकारका मिश्रण प्रत्यावाप तथा अन्य तीनों बलोंमें किसीका बढ़ाना अन्वावाप है। व्यूहरचनाका यह सिद्धान्तसा है कि शत्रु अपनी सेनामें जितना आवाप वा प्रत्यावाप करे, विजिगीषु उससे चौगुनेसे अटगुनेतक आवाप करे। यह सम्भव न हो तो यथाशक्ति ही आवाप करे, परन्तु करे अवश्य। दूष्य वा राजाके साथ विरोध रखनेवाले पुरुषोंद्वारा सेनाके इस प्रकार बढ़ानेको अत्यावाप कहते हैं।

---

१ एक धनुष = ५ अरत्नि और एक अरत्नि = ५४ अंगुल अर्थात् एक धनुष २७० अंगुल का होता था।

व्यूहके दो प्रकार और हैं एक शुद्ध और दूसरा मिश्र। शुद्ध व्यूह एक ही एक बलका होता है और मिश्र व्यूह दो वा अधिक बलोंका। शुद्ध व्यूह जब पदातियोंका बनाया जाता था, तब कवच पहने सैनिक उरस्यमें, धनुर्धर (तीरन्दाज) पार्श्वि वा कक्षोंमें तथा बिना कवचके योद्धा पक्षोंमें रखे जाते थे। अश्वव्यूहमें वर्म (वक्तर) पहने घोड़े उरस्यमें तथा वर्म रहित कक्षों और पक्षोंमें खड़े किये जाते थे। गजव्यूहमें वे हाथी उरस्यमें रखे जाते थे जो युद्धके लिये शिक्षित किये जाते थे, कक्षोंमें सवारीवाले हाथी होते थे और पक्षोंमें बदमाश हाथी खड़े किये जाते थे। मिश्र व्यूहमें दो दो बलोंकी मुख्यता रहती थी। किसीमें पैदलों और घोड़ोंकी और किसीमें हाथियों और रथोंकी। उरस्यमें रथ, पक्षोंमें घोड़े और कक्षोंमें हाथी रखनेसे अच्छा व्यूह बनता था।

युद्ध और मिश्र व्यूह

दंड, भोग, मंडल, और असंहत ये मुख्य चार व्यूह कौटिल्यने बताये हैं। जब सब सैनिक बराबर बराबर खड़े किये जाते हैं और डंडेका रूप धारण कर लेते हैं, तब दंडव्यूह होता है। इसके उरस्य, कक्षों और पक्षोंमें समबल होनेके कारण यह प्रकृति-व्यूह भी कहाता है। इसके चार विकृत रूप भी होते हैं जो प्रदर, दृढ़क, असह्य और श्येन कहाते हैं। ये विकृतिव्यूह हैं। जब दंडव्यूहके कक्ष उरस्यकी ओर निकले रहते हैं, तब उसे प्रदर कहते हैं। शत्रुका व्यूह भंग करनेके कारण इसका नाम प्रदर पड़ा है। जब दंड व्यूहके कक्ष और पक्ष पीछेको हटे रहते हैं, तब दृढ़क व्यूह होता है। जब उसके पक्ष लम्बे कर दिये जाते हैं, तब उसे असह्य और जब दोनो पक्षोंके बन जानेपर उरस्य आगे निकल पड़ता है, तब उसे श्येन कहते हैं। जब उलटे क्रमसे इन व्यूहोंकी रचना की जाती है, तब ये चाप, चापकुक्षि, प्रतिष्ठ और सुप्रतिष्ठ कहाते हैं। जिसके पक्ष धनुषके आकारके हों, वह संजय, जिसका उरस्य आगे बढ़ा हुआ हो, वह विजय, जिसके पक्ष और कक्ष बड़े कानोंकी तरह हों, वह

चार प्रकारके व्यूहों-में दण्ड व्यूहके भेद

स्थूलकर्ण, जिसके पक्ष विजयसे दूने बड़े हों, वह विशालविजय और जिसके कक्ष दोनो पक्षों और उरस्य तीनोंके बराबर हों, वह चमूमुख और जिस व्यूहके दोनो कक्ष पक्षों और उरस्यके बराबर हों, वह झषास्य कहाता है। जिस दंड व्यूहमें ऊँचेपर खड़ी सेना शत्रुपर आक्रमण करती है, वह सूची व्यूह है। जब दो दंडव्यूह तिरछे खड़े कर दिये जाते हैं तो वह वलय व्यूह हो जाता है। इसी प्रकार चार पंक्तिवाले दंडव्यूह खड़े करनेको दुर्जय व्यूह कहते हैं।

जिस व्यूहकी रचना इस ढंगपर होती है कि उसके उरस्य और पक्ष शत्रुपर पड़ें, वह भोग वा सर्पाकृति व्यूह है। जिस भोग व्यूहके पक्ष, कक्ष और उरस्यकी गहराईमें विषमता हो, उसके सर्पसारी और गोमूत्रिका दो भेद होते हैं। जब उरस्यमें उसकी दो पंक्तियाँ होती हैं और पक्षोंकी रचना दंड-व्यूह-सी होती है, तब वह शकटव्यूह कहाता है। इसके विपरीत होनेसे मकरव्यूह और यदि शकटव्यूहमें हाथी, घोड़े और रथ हों, तो उसे वारिपतन्तक कहते हैं। जब कक्ष, पक्ष और उरस्थमें भेद नहीं रहता और सब इकट्ठे मिल जाते हैं, तब उसे मंडलव्यूह कहते हैं। जब चारो ओरसे इस व्यूहद्वारा शत्रुपर आक्रमण किया जाता है, तब इस व्यूहकी संज्ञा सर्वतोभद्र होती है। इसी प्रकार जब उसमें आठ सेनाएँ (दो उरस्यमें, दो कक्षोंमें और दो दो दोनो पक्षोंमें) होती हैं, तब वह अष्टानीक वा दुर्जय कहाता है। कक्षों, पक्षों और उरस्यमें फुटफैर सेना रहनेसे उसकी संज्ञा असंहतव्यूह है। जब दोनो पक्षों, दोनो कक्षों और उरस्यकी सेनाएँ वज्रके रूपमें खड़ी की जायँ, तो वह वज्र व्यूह और गोहके आकारमें रहें तो गोधाव्यूह होता है। जब दोनो पक्षों, उरस्य और पार्ष्णिकी सेनाएँ उक्त रूपसे खड़ी की जायँ, तब जो व्यूह बने, वह उद्यानक वा काकपदी कहाता है। तीन सेनाओंके असंहत व्यूहकी संज्ञा कर्कटशृंगी वा अर्द्धचन्द्रिका है। जिस व्यूहमें रथ उरस्यमें, हाथी पक्षोंमें और घोड़े पार्ष्णिमें रहते हैं, वह अरिष्ट, जिसमें

कौटिल्यके अनुसार अन्य व्यूहोंका वर्णन

पैदल पक्षोंमें, घोड़े उरस्यमें, रथ कक्षोंमें और हाथी पार्ष्णिमें रहते हैं, वह अचल तथा जिसके हाथी पक्षोंमें, घोड़े उरस्यमें, रथ कक्षों और पैदल पार्ष्णिमें रहते हैं, वह अप्रतिहत वा अजेय व्यूह कहाता है। कौटिल्यका उपदेश है कि प्रदर व्यूहको दृढकसे, दृढकको असह्यसे, श्येनको चापसे, प्रतिष्ठको सुप्रतिष्ठसे, सजयको विजयसे, स्थूलकर्णको विशाल विजयसे, वारि-पतन्तकको सर्वतोभद्रसे और सब प्रकारके व्यूहोंको दुर्जयसे भेदना चाहिये।

शुक्रनीतिसारके अनुसार व्यूह

शुक्रनीतिसारमें क्रौंच, चक्र, सर्वतोभद्र, शकट और व्यालव्यूहोंका उल्लेख है। आकाशमें क्रौंच पक्षियोंकी गति जैसे एक एक दो दो करके वा समूह समूहकी होती है, उसी प्रकार देश और बलके अनुसार क्रौंचव्यूहकी रचना होती है। बड़े पक्ष और गल तथा पुच्छे जिसके मध्य हों और मुख सूक्ष्म हो, वह श्येन व्यूह है। चौपायेके आकारका लम्बा, स्थूल मुख और दो ओष्ठ जिसके हों, वह मकरव्यूह है। जिसके मुँह सूक्ष्म और विस्तार समान लम्बा है और बीचमें खाली हो, वह सूचीव्यूह है। जिसका एक मार्ग हो और आठ कुंडलियां हों, वह चक्रव्यूह है। जिसकी चारों दिशाओंमें आठ परिधि हों, वह सर्वतोभद्रव्यूह है। शकट वा सग्गड़ गाड़ीके आकारका शकट व्यूह और सर्पकी आकृतिवाला व्याल व्यूह कहाता है।

युद्धके चार प्रकार

मन्त्र पढ़कर जो अस्त्र चलाये जाते थे, वे मांत्रिक अस्त्र कहाते थे। जो युद्ध मांत्रिक अस्त्रोंसे होता है, वह उत्तम और बन्दूक तोप आदिसे होता है, वह नालिकास्त्रवाला युद्ध मध्यम, शस्त्रोंसे कनिष्ठ और बाहुसे होनेवाले युद्धकी संज्ञा शुक्रनीतिसारके मतसे अधम है।[1] इसके पहले उसने मंत्रास्त्रके युद्धको दैविक, नालिकास्त्रको आसुर और बाहुयुद्धको मानव कहा है।

---

१ उत्तमं मांत्रिकास्त्रेण नालिकास्त्रेण मध्यमम्।
शस्त्रैः कनिष्टयुद्धन्तु बाहुयुद्धं ततोऽधमम् ॥११५८॥ अ० ४

प्रथम महासमरमें खाइयोंमें बैठकर शत्रुपर गोलाबारी की जाती थी और एक पक्षके सैनिक दूसरे पक्षको नहीं देख पाते थे। कौटिल्यने भी खातक और खनक युद्धोंकी बड़ी प्रशंसा की है, क्योंकि इनमें सैनिक सुरक्षित रहते हैं। आकाश युद्ध भी होते थे, पर विमानोंसे वा ऊँचे टीलों वा पहाड़ोंसे यह नहीं कहा जा सकता।

खाइयोंकी लड़ाई

युद्धमें सेना और शस्त्रास्त्रोंके सुप्रयोगसे विजय प्राप्त होती है इसमें सन्देह नहीं। यही युद्धकौशल है। परन्तु वर्त्तमान समयमें विजयप्राप्ति मंत्रबलसे होती है। बुद्धिबल वा उपायसे जो शक्य होता है, वह पराक्रमसे नहीं होता यह प्राचीनकालमें जितना सत्य था, उतना ही आज भी है। कौटिल्यने इस सिद्धान्तकी स्थापना ही नहीं की थी, प्रत्युत उन्होंने प्रयोगद्वारा इसे सिद्ध कर दिया था। यही कारण है सांग्रामिक प्रकरणमें सब कुछ लिखकर अन्तमें उन्होंने लिखा कि धनुर्धारीके धनुषसे फेंका हुआ बाण सम्भव है किसी मनुष्यको मारे वा न मारे, परन्तु बुद्धिमान् व्यक्तिद्वारा किया हुआ बुद्धिप्रयोग गर्भस्थ प्राणियों-को भी नष्ट कर देता है।[1]

मंत्रबलसे विजय

---

१ एकं हन्यान्न वा हन्यादिषुः क्षिप्तो धनुष्मता।
प्राज्ञेन तु मतिः क्षिप्ता हन्याद् गर्भगतानपि ॥५५॥ अधि० १० अ० ६

८ शस्त्रास्त्र

ऋग्वेदमें अनार्यों वा द्रविड़ोंके साथ आर्योंके युद्धोंके जो वर्णन स्थान-स्थानपर मिलते हैं, उनसे जाना जाता है कि उस समय दुर्ग होते थे, धनुषबाणसे युद्ध होता था और वर्म (बक्तर) और कवच (जिरह) का व्यवहार होता था। अनुमान है कि वैदिक समयके युद्ध साधारण ही होते होंगे। कुछ पैदलों और रथों वा घोड़ोंके मेलसे सेना बनती होगी। रथी वा अश्वारोही पदातियोंको परास्त कर देते होंगे। इनके पास सम्भवतः छोटे कवच होते थे और धनुषबाणसे आक्रमण हुआ करते थे। ये वर्म, सिप्र (लोहेका टोप) और हस्तघ्न (दस्ताने) रखते थे। रथपर रथी और उसकी बायीं ओर सारथी बैठता था। आक्रमणमें कभी कभी धनुषबाणके अतिरिक्त भाले, तलवार और फरसेसे भी काम लिया जाता था।[1]

वैदिक आर्योंके शस्त्रास्त्र

धनुर्वेदमें धनुर्विद्याकी करामातके साथ ही विविध प्रकारके बाणों और आग्नेयास्त्रोंका वर्णन है। परन्तु अग्निपुराणसे पांच प्रकारके अस्त्रोंका पता लगता है यथा, यंत्रमुक्त, पाणिमुक्त, मुक्तसंधारित और अमुक्त तथा बाहुयुद्धके अस्त्र। क्षेपणी और धनुष आदि यंत्रमुक्त, शिला, तोमर आदि पाणिमुक्त, प्रास आदि मुक्तसन्धारित और खड्गादि अमुक्त हैं।[2] यंत्रोंसे चलाये जानेवाले यंत्रमुक्त, हाथसे फेंके जानेवाले

अग्निपुराणमें अस्त्रोंका वर्णन

---

१ Vedic Index II P. 417

२ अग्निरुवाच। चतुष्पादं धनुर्वेदं वदे पञ्चविधं द्विज!
रथनागाश्वपत्तीनां योधांश्चाश्रित्य कीर्तितम्॥ १॥

पाणिमुक्त, फेंककर फिर वापस कर लिये जानेवाले मंत्रसंधारित और न छोड़े जानेवाले अमुक्त कहाते थे।

शुक्रनीतिसारके अनुसार जो हथियार मंत्र, यंत्र और अग्नि तीनोंसे चलाये जाते हैं, वे अस्त्र हैं। परन्तु जो हाथमें रखे जाते हैं, उनकी संज्ञा शस्त्र है। कमान वा धनुष शस्त्र हैं, पर बाण वा तीर अस्त्र हैं। मांत्रिक अस्त्र मंत्रपढ़कर छोड़ा जाता था, परन्तु इसका विशेष वर्णन नहीं मिलता। नालिका छोटी और बड़ी दो प्रकारकी होती थी।

अस्त्र और शस्त्र-की परिभाषाएँ

लघुनालिका बन्दूक है जो सवारों और पैदलोंके पास होती थी और वृहन्नालिका तोप है, जो गाड़ीपर चलती थी जिससे गोलन्दाज या तोपची गोले दागते थे।[1]

शुक्रनीतिसारमें गोली, गोले, बारूद, बन्दूक तथा तोपका जो वर्णन है[2], उससे जान पड़ता है कि जिस समय वह बना था, उस समय इस

यंत्रमुक्तं पाणिमुक्तं मुक्तसन्धारितन्तथा।
अमुक्तं बाहुयुद्धञ्च पञ्चधा तत्प्रकीर्त्तितम् ॥ २ ॥
क्षेपणीचापयंत्राद्यैर्यंत्रमुक्तं प्रकीर्तितम्।
शिलातोमरयंत्राद्यं पाणिमुक्तं प्रकीर्तितम् ॥४॥
मुक्तसन्धारितं ज्ञेयं प्रासाद्यामपि यद्भयेत्।
खड्गादिकममुक्तञ्च नियुद्धं विगतायुधम् ॥ ५ ॥

अग्निपुराण अ० २४८

१ अस्यते क्षिप्यते यत्तु मंत्रायंत्राग्निभिश्च तत् ॥ १०२४ ॥
अस्त्रं तदन्यतः शस्त्रमसिकुन्तादिकं च यत्।
अस्त्रं तु द्विधं विज्ञेयं नालिकं मांत्रिकं तथा। १०२५॥
लघुदीर्घाकारधाराभेदैः शस्त्रास्त्रनामकम्।
प्रथयन्ति नवं भिन्नं व्यवहाराय तद्विदः ॥ १०२७ ॥ अ० ४

२ शुक्रनीतिसार अ० ४ श्लोक १०२८ से १०४४ तक

आग्नेयास्त्रोंके प्रयोगका प्रारम्भ

युद्धसामग्रीका प्रचार हो चुका था। परन्तु आग्नेयास्त्र और वज्र अस्त्रोंका उल्लेख रामायण और महाभारतमें मिलनेसे जाना जाता है कि कमसे कम २३०० वर्ष पहले तो ये प्रयोगमें आने लगे थे। यद्यपि सिकन्दरी चढ़ाईके वर्णनोंमें इन आग्नेयास्त्रोंकी चर्चा बहुधा नहीं दिखती, तथापि जब कौटिल्यने अर्थशास्त्रमें अग्निधारण और अग्नियोगके योग वा नुसखे दिये हैं, तब यह अनुमान करना अनुचित नहीं कहा जा सकता कि सिकन्दरी चढ़ाईके समय यहाँ इनका प्रचार हो चुका था। कर्टियसके आधारपर ओपर्टने यही मत प्रकट किया है।[1]

महाभारतमें बताया गया है कि जब राजाओंमें युद्ध आरम्भ हुआ, तब दस्युओंका नाश करनेके लिये इन्द्रने वर्म (बक्तर), शस्त्र और धनुषको उत्पन्न किया।[2] कौटिल्यने[3] स्थितयन्त्र, चलयंत्र, हलमुख, आयुध आदि कई श्रेणियोंके शस्त्रास्त्र बताये हैं। स्थित यन्त्र वे कहाते थे, जो दुर्गके स्थान विशेषपर लगे रहते थे। सर्वतोभद्र, जामदग्न्य, बहुमुख विश्वासघाती, संघाती, नायक, पर्जन्यक, पर्जन्यार्द्धक, बाहू और ऊर्ध्वबाहू स्थित यन्त्रोंके नाम थे। सर्वतोभद्र एक गाड़ी थी, जो शीघ्रतासे चक्कर काटती और चारो ओर पत्थर बरसाती थी। इसका दूसरा नाम भूमारिक यंत्र था। आजकल यही काम मैशीनगन करती है। अन्तर केवल इतना ही है कि यह पत्थरोंके बदले गोलियाँ बरसाती है। जामदग्न्य बाण बरसानेवाला

स्थित यंत्र

---

१ On the Weapons, Army Organization and Political Maxims of the Ancient Hindus by Gustav Oppert, Ph. D. p 69

२ ततो राज्ञां समभवद्युद्धमेतत् तत्र जातं वर्मशस्त्रं धनुश्च।
इन्द्रेणैतद् दस्युवधाय कर्म उत्पादितं वर्मशस्त्रं धनुश्च॥ उद्योगपर्व

३ अर्थशास्त्र अधि० २ अ० १८

बड़ा यंत्र था। इसे महाशरयंत्र भी कहते थे। बहुमुख एक अट्टालक वा मीनार होता था, जो दुर्गके शिखरपर रहता था। यह चमड़ेसे ढका रहता था और इसके मुँह सब ओर होते थे, जहाँसे कई धनुर्धर (तीरन्दाज) बाण चलाते थे। विश्वासघाती उन दो धरनोंको कहते थे जो दुर्गके द्वारपर खाईके ऊपर तिरछी रखी रहती थी। विश्वास-घाती इनका नाम इसलिये रखा गया था कि स्पर्शमात्रसे ये गिर पड़ती और शत्रुको मार डालती थीं। अट्टालक और दुर्गके भागोंको प्रदीप्त करने वाले लम्बे बाँसका नाम संघाटी था। यानक पहियोंपर चलनेवाला यंत्र लम्बा होता था पर बीचमें चौड़ा होता था। यान वा सवारीपर रखकर चलाये जानेके कारण ही इसका नाम यानक रखा गया था। पर्जन्यक आग बुझानेवाला यंत्र दमकल वा फायर-ब्रिग्रेड था। पर्जन्य वर्षाका नाम है और इस यंत्रका काम जल बरसाकर आग बुझा देना है, इसलिये इसका नाम पर्जन्यक पड़ा। किसी किसीके मतसे यह ५० हाथ लम्बा यंत्र होता था और दुर्गके बाहर रखा जाता था, जिससे आनेवाले शत्रुओंपर पानी फेंका जा सके। यह कार्य भी इससे लिया जाता होगा, क्योंकि इसमें कोई बाधा नहीं है, तथापि इसका मुख्य कार्य तो आग बुझाना ही जान पड़ता है। यह विश्वासघातीकी तरह न तो बड़ा होता था और न दिखता ही था। आधे वा छोटे पर्जन्यकको पर्जन्यकार्द्ध कहते थे। बाहू उन दो खम्भोंका नाम था जो शत्रुपर गिराकर उसका काम तमाम करनेको खड़े किये जाते थे। जो बड़ा खम्भा ऊँचेपर लगाया जाता और शत्रुपर फेंका जाता था, उसका नाम ऊर्ध्वबाहु था। इसका आधा खम्भा अर्द्धबाहु कहाता था।

पाञ्चालिक, देवदण्ड, सूकरिका, मुसल, यष्टि, हस्तवारक, तालवृन्त, मुद्गर, गदा, स्पृक्तला, कुद्दाल, आस्फोटिम, उद्घाटिम, शतघ्नी, त्रिशूल और चक्र थे चलयंत्र कहाते थे। काठका एक बड़ा टुकड़ा जिसमें बहुतसी नोकें होती थीं, पांचालिक कहाता था। वह दुर्गके बाहर जलके अन्दर रख

चलयंत्र

दिया जाता था। जिससे आनेवाले शत्रुके नोकें गड़ें और वह व्याकुल हो जाय। इसे दुर्गकी जलसुरंग (mine) कह सकते हैं। देवदण्ड उस लम्बी बल्लीको कहते थे, जो दुर्गकी दीवारपर रखी जाती और जिसमें लोहेकी कीलें लगी रहती थीं। सूकरिका चमड़ेके थैलेको कहते थे, जिसमें रुई या ऊन भरी रहती थी। शत्रुके फेंके पत्थरोंसे मीनारों या अट्टालकोंकी रक्षाके लिये इसका उपयोग किया जाता था। मुसल और यष्टि खैरके नुकीले डंडोंको कहते थे। हस्तिवारक द्विशूल या त्रिशूल होता था, जिसमें हाथी हटाया जाता था। तालवृन्त पंखेकी भाँति चक्र होता था। मुद्गर आजकलके मुगदरकी तरह ही होता था। गदाके विषयमें शुक्रनीतिसारका कहना है कि यह आठ कोने वाली तथा छाती बराबर मोटी होती थी। स्पृक्तला मोटे डंडेकी भाँति होती थी, जिसके मुँहपर तीक्ष्ण नोकें रहती थीं। कुद्दाल कुदाल ही थी। आस्फाटिम चमड़ेका एक थैला होता था, जिसके साथ डंडा भी लगा रहता था। इससे तुमुल शब्द किया जाता था। किसी किसीका मत है कि मिट्टीके ढेले फेंकनेके लिये वह चमड़ेसे ढका हुआ चार कोनेवाला यंत्र था। अट्टालक गिरानेवाला यंत्र उद्घाटिम और जड़ें उखाड़नेवाला उत्पाटिम कहाता था। इनका विशेष वर्णन नहीं मिला। दुर्गकी दीवारपर जो बड़ा खम्भा रहता था और जिसमें बड़ी मोटी लम्बी कीलें रहती थीं, उसका नाम शतघ्नी था। शतघ्नी नामका कारण यह था कि वह एक साथ सौ मनुष्योंको मार सकती थीं। त्रिशूल और चक्र आज कैसे ही होते थे। चक्रका प्रयोग करनेमें श्रीकृष्ण सिद्धहस्त थे। आज भी कितने ही सिक्ख इसका सुप्रयोग कर सकते हैं, इसलिये यह उनकी पगड़ियोंमें लगा रहता है। शुक्रनीतिसारके अनुसार चक्रकी परिधि छ हाथकी और उसका प्रान्त छुरेकी भाँति नाभियुक्त होना चाहिये।

शक्ति, प्रास, कुन्त, हाटक, भिंडिपाल (भिन्दिपाल), शूल, तोमर, वराहकर्ण, कणय, कर्पण और त्रासिक हलमुख कहाते थे। इनके मुँह हलके मुँहकी भाँति तीक्ष्ण होते थे, इसीसे ये हलमुख

हलमुख

कहाये। शक्ति चार हाथ लम्बी लोहेके कर्णिकार वा

कनेरकी पत्तीके समान होती थी। गायके थनकी तरह इसकी मूठ होती थी। २४ अंगुल लम्बे दो मूठवाले दुधारेका नाम प्रास था। कुन्त ५,६ वा ७ हाथ लम्बा डंडा होता था। शुक्रनीतिसारकें मतसे कुन्त भाला है, जो १० हाथका होता है और जिसका अग्रभाग पैना होता है। हाटक ३।४ नुकीले किनारोंवाला डंडा होता था। मोटे फलवाला कुन्त भिंडिपाल और अनिश्चित लम्बाईवाला नुकीला डंडा शूल कहाता था। तीरकेसे नुकीले किनारेवाले ४, ४॥ वा ५ हाथ लम्बे डंडेको तोमर कहते थे। जिस डंडेके किनारे सुअरके कानके समान होते थे, वह वराहकर्ण कहाता था। धातुके उस डंडेको कणय कहते थे जिसके दोनो किनारे त्रिकोणके आकारके होते थे। यह २०, २२ वा २४ इंच लम्बा होता था और बीचमें पकड़ा जाता था। हाथसे चलाये जानेवाले तीरका नाम कर्पण था। इसके किनारे ७, ८ वा ९ कर्ष भारी होते थे। कोई कुशल मनुष्य यदि कर्पण फेंकता, तो वह १०० धनुषकी लम्बाई तक पहुँच जाता था। त्रासिका भी लोहेकी बनी प्रासकी भाँति होती थी।

धनुषबाण

ताल (ताड़के बने), चाप (विशेष प्रकारके बाँसके बने), दारव (किसी सुदृढ़ काठके बने) और शार्ङ्ग (सींगके बने) धनुष आकृति और क्रियाभेदसे कार्मुक, कोदण्ड, द्रूण और धनुष कहाते थे। धनुषकी ज्या (डोरी) मूर्वा (लता विशेष), अकौड़े, सन, गवेधुका (एक प्रकारका अन्न), वेणु (बाँस), तथा ताँतकी बनती थी। वेणु (बाँस), शर (नरसल), शलाका (लकड़ीसे निर्मित), दण्डासन (आधा लोहा आधा काठ) और नाराच (सम्पूर्ण लोहेका) ये भिन्न भिन्न प्रकारके बाण हैं। छेदने, काटने, रक्तसहित वा रक्तरहित आघात करनेके लिये इनके मुँह होते हैं, इसलिये लोहे, हड्डी तथा लकड़ीके बनाये जाते हैं।

खड्ग और क्षुरवर्ग

तलवारों वा खड्गोंके तीन प्रकार थे, निस्त्रिंश, मंडलाग्र और असियष्टि। जिसका अगला भाग यथेष्ट टेढ़ा होता था, वह निस्त्रिंश, जिसका गोल होता था, वह मंडलाग्र

और जो लम्बे और पतले आकारका होता था, वह असियष्टि कहाता था। यह गुप्ती होती होगी। परशु, कुठार, पट्टस, खनित्र, कुद्दाल, चक्र, क्रकच और काण्डच्छेदन छुरे जैसे पैने शस्त्र होनेके कारण क्षुर-कल्प वा क्षुर वर्ग कहाते हैं। परशु वा फरसा आजकलकी भाँति ही अर्द्धचन्द्राकार होता था, पर २४ इंच लम्बा होता था। कुठार वर्त्तमान कुल्हाड़ेकी तरह होता था। पट्टस परशुकी नाईं होता था, पर दोनो सिरे त्रिशूलकी भाँति होते थे। खनित्र फावड़ा, कुद्दाल कुदाल, क्रकच आरा और काण्डच्छेदन गँड़ासा होता था।

यंत्रपाषाण, गोष्पणपाषाण, मुष्टिपाषाण, रोचनी और दृषद् आयुध कहाते थे। पत्थर फेंकनेवाला यंत्र कदाचित् गुलेल यंत्रपाषाण कहाता था।

आयुध

पत्थर फेंकनेवाले गोफनेको गोष्पणपाषाण, दरेतीके पाटको रोचनी और बड़े पत्थरको दृषद् कहते थे।

लोहजाल (सिरसे पैरतककी लोहेकी जालीका आवरण), लोहजालिका (सिरको छोड़कर शरीरका आवरण), लोहपट्ट (बाहोंको छोड़कर

चर्म और आवरण

शरीर ढकनेवाला आवरण), लोहकवच (केवल पीठ और छातीका आवरण), सूत्रकंटक (सूतका बना कवच जो कमरसे कूलेतककी रक्षा करता है) तथा शिंशुमारक (ऊदबिलाव), खड्गि (गैंडा), धेनुक (नील गाय), हाथी और गायके चमड़े, खुर और सींगके कवच बनाये जातेथे। देहके सात आवरण थे शिरस्त्राण, कण्ठत्राण, कूर्पास (आधी बाहोंका रक्षक), कञ्चुक (घुटनोंतक शरीरका आवरण); वारवाण (पैरकी एड़ीतक सारे शरीरका आवरण), पट्ट (जो लोहेका बना न हो और जिसमें बाहें न हों) और नागोदरिका (हाथकी उंगलियोंका रक्षक)। अन्य आवरण हैं वेति (कोष्ठवल्लीकी चटाई), चर्म वा वसुनन्दक (ढाल), हस्तिकर्ण (एक प्रकारका आवरण), तालमूल (काठकी ढाल) धमनिका (सूतकी पेटी), किटिका (चमड़े और बाँसको कूटकर बनायी हुई पेटी), कवाट (लकड़ीका पटा), अप्रतिहत (हाथका आवरण), बलाहान्तक (लोहेका अप्रतिहत)।

९ परराज्योंसे सम्बन्ध

राज्यसे षाड्गुण्यका नित्य सम्बन्ध होनेके कारण ही वह राज्यवृक्षकी शाखा बताया गया है और सामदानादि उसके सुन्दर पुष्प तथा धर्मार्थ काम फल बताये गये हैं। यों तो षाड्गुण्यका नित्य विचार करते रहना राजाका काम है, परन्तु इस काममें जो उसका सबसे बड़ा सहायक अथवा दक्षिण हस्त होता है, वह मंत्री वा महासान्धिविग्रहिक है, जो आजकलकी भाषामें परराष्ट्रसचिव कहाता है। इसके विभागके विषयमें हमें विशेष कुछ ज्ञात नहीं है, पर इतना स्पष्ट है कि यह अत्यन्त महत्त्वका अधिकारी होता था, क्योंकि युद्ध वा शान्तिके निर्णयका बहुत बड़ा भार इसीपर होता था। चर विभागका मुखिया भी यही होता था और दूत-प्रेषण भी इसीका काम था।

सान्धिविग्रहिक और दूत

दूतको शुक्रनीतिसारने मंत्रियोंमें स्थान दिया है, जिसका कारण इससे अधिक कुछ नहीं जान पड़ता कि यह मन्त्रीकी हैसियतका होता था। ब्रिटिश शासन पद्धतिमें एक प्रकारके दूतको (minister) मन्त्री कहते भी हैं। कौटिल्य और उनके अनुयायी कामन्दकने दूतोंके तीन भेद माने हैं, निसृष्टार्थ, परिमितार्थ वा मितार्थ और शासनहारक। कौटिल्यके मतसे निसृष्टार्थ अमात्यके गुणोंसे युक्त होना चाहिये तथा मितार्थमें चौथाई और शासनहारकमें आधे गुण कम होने चाहिये।[1] निसृष्टार्थ वह दूत होता था.

दूतोंके तीन भेद

१ अमात्य सम्पदोपेतो निसृष्टार्थः ॥२॥ पादगुणहीनः परिमितार्थः ॥३॥ अर्धगुणहीनः शासनहरः ॥४॥ अधि० १ अ० १६
निसृष्टार्थो मितार्थश्च तथा शासनहारकः।
सामार्थ्यात्पादतो हीनो दूतस्तु त्रिविधः स्मृतः ॥३॥ कामन्दकीय सर्ग० ॥१२ प्र० १८

जिसे स्याह सफेद वा सन्धि-विग्रह करनेके निर्णयके पूरे अधिकार होते थे। यही आजकलका राज्यदूत (ambassador) है। मितार्थके अधिकार सीमित होते हैं, क्योंकि उसे अपनी ओरसे कुछ निर्णय करनेका अधिकार नहीं होता। राजा अथवा महासान्धिविग्रहिकके आदेशानुसार यह काम करता था। शासनहारक केवल सन्देशवाहक होता था और एक राजाका पत्र लेकर दूसरे राजाके पास जाता था।[1] इससे जान पड़ता है कि विशेष अवसरोंपर परराज्योंमें दूत भेजे तो जाते थे, परन्तु आजकलकी तरह स्थायी रूपसे परराज्योंमें दूत रखनेकी चाल नहीं थी। कामन्दकने दूतके गुणोंके विषयमें कहा है कि जो प्रगल्भ वा निडर होकर बोल सके, स्मरण शक्तिवाला हो, सुवक्ता हो, शस्त्रविद्या और नीतिशास्त्रमें निपुण हो, जिसे दौत्य कर्मका अभ्यास हो, वही राजदूत बनने योग्य होता है। ये दूत अपना काम करके स्वराज्यको लौट आते थे और कभी कभी परराष्ट्रके राजाके रोकनेसे किसी निश्चित अवधिके लिये वहीं ठहर भी जाते थे। महाभारतसे जाना जाता है कि कौरवोंकी सभामें श्रीकृष्ण पांडवोंके निसृष्टार्थ दूत रूपसे ही गये थे, क्योंकि युधिष्ठिरने उनसे कह भी दिया था कि हे कृष्ण, जो बात हमारे हितकी हो, वही वह सुयोधन अर्थात् दुर्योधनसे कहना। अंगद रावणकी सभामें श्रीरामका दूत बनकर गया था। यह केवल शासनहर था, क्योंकि इसके द्वारा रावणको अन्तिम सूचना (ultimatum) दी गयी थी। श्रीरामकी ओरसे अंगदने रावणसे कहा था, 'सीता देहु मिलहु नत आवा काल तुम्हार'। मार्कण्डेय पुराणसे जाना जाता है कि भगवती दुर्गाने भगवान् भूतनाथको दूत बनाकर शुम्भ निशुम्भ नामक बड़े घमण्डी दानवोंके पास

दूतके गुण

---

१ प्रगल्भः स्मृतिमान् वाग्मी शस्त्रे शास्त्रे च निष्ठितः।
अभ्यस्तकर्मा नृपतेर्दूतो भवितुमर्हति ॥ २ ॥
सर्ग १३ प्र० १८ का० नीतिसार

भेजा था। इनसे कहलाया था कि, इन्द्रको स्वर्ग मिले; देवता यज्ञ भाग पावें और तुम यदि जीना चाहो, तो पाताल चले जाओ।' दूतोंका काम खुले खजाने होता था, इसलिये अग्निपुराणने इन्हें 'प्रकाशचर' कहा है।

परन्तु कौटिल्यने इनका वर्णन जिस ढंगसे किया है और इनका जो काम बतलाया हैं, उससे यह निःसंकोच कहा जा सकता है कि 'प्रकाशचर' होते हुए भी ये आजकलके दूतोंकी भाँति शत्रुकी दुर्बलताओं-का पता लगाते रहते थे। दूतोंका काम था कि शत्रुकी बातोंका तो पता लगावें, पर अपने राजाकी बातें उसे न जानने दें। यही काम वर्तमान समयमें भी दूत करते हैं। अन्तर केवल इतना है कि उस समय राजनीतिक कार्यके लिये दूत होते थे पर आज व्यापारिक कार्योंके लिये भी इनका उपयोग होता है। दूतके काम थे सन्देश सुनाना, और शत्रुका संदेश सुनना, पुरानी सन्धिकी रक्षा करना, अवसर आनेपर अपने प्रतापका प्रकाशन करना, मित्रोंका संग्रह करना, शत्रुके लोभी, क्रोधी, भीत और मानी पुरुषोंमें भेद डालना, शत्रुके मित्रोंको फोड़ देना, तीक्ष्ण, रसद आदि गूढ़ पुरुषों तथा सेनाको भगा देना, शत्रुके बन्धुओं तथा रत्नोंका अपहरण करना, शत्रुके देशमें रहते हुए गुप्तचरोंके कार्योंको ठीक ठीक जानना, अवसर आनेपर पराक्रम दिखाना, सन्धिकी दृढ़ताके लिये आधि वा ransom में रखे हुए राजकुमार आदिको छुड़ाना और मारण आदिका प्रयोग करना।[1] दूतोंके सहायतार्थ गुप्तचर वा चार रहा करते थे। ये चार वर्त्तमान 'सीक्रेट सर्विस' के समान थे।

दूतके कर्म

---

१ प्रेषणं सन्धिपालत्वं प्रतापो मित्रसंग्रहः।
उपजापः सुहृद्भेदो गूढदण्डातिसारणम् ॥४६॥
बन्धुरत्नापहरणं चारज्ञानं पराक्रमः।
समाधिमोक्षो दूतस्य कर्मयोगस्य चाश्रयः ॥ ५० ॥ अधि० १ अ० १६

१० चर वा चारबल

अष्टाङ्गबलमें चारका महत्त्व बहुत अधिक है, क्योंकि अग्निपुराणके मतसे राजाको चारचक्षु होना चाहिये और चारकी कार्यकुशलतापर राज्यकी उन्नति ही नहीं, अस्तित्व भी अवलम्बित है। चारका काम परराष्ट्रके सैन्यबल और युद्धसज्जाका ठीक ठीक पता लगाना भी है। जब श्रीराम लंकापर चढ़ाई करनेकी तैयारी कर रहे थे, तब उनकी छावनी वा स्कन्धावारमें रावणके बहुत-से चर आये थे, जिनमें शुक नामक चर सुग्रीवको फोड़ लेनेका प्रयत्न कर रहा था। श्रीरामके समुद्रपर पहुँचनेपर भी बहुतसे राक्षस वानरोंके भेसमें उनकी छावनीमें घूमा करते थे। ऐतिहासिक युगमें मगधराजा अजातशत्रुका ब्राह्मण मन्त्री वर्षकार वज्जियोंके यहाँ चर बनकर ही गया था।

चरों वा चारोंका महत्त्व

चारबलकी कल्पना नवीन नहीं है। ऋग्वेदमें वरुणके चारोंका वर्णन है। वरुणकी सर्वदर्शिता उनकी चारव्यवस्थाका ही प्रमाण है। वे आकाशमें पक्षियोंका उड़ना, समुद्रमें जलयानोंका मार्ग और दूरतक चलनेवाली हवाकी गति जानते हैं। जो सब गुप्त बातें हो रही हैं वा होंगी, उनका भी पता उन्हें है। और तो क्या, मनुष्य जै बार पलकें मारता है, उनकी भी गिनती वरुण देवताके दफ़्तरमें रहती है। मनुष्य जो कुछ करते, सोचते वा विचारते हैं, उसका ज्ञान भी वरुणको रहता है। पृथिवी और आकाश तथा इनसे परे जो कुछ होता है, सब वरुण देखा करते हैं।[1] वरुण सम्राट् हैं, देवताओं और मनुष्यों—सबके राजा हैं, इसलिये इनके सहायतार्थ चारोंका बड़ा भारी दल है। वरुणके ही पास चार

वरुण और उनके चार

---

1 Vedic Index Vol II p. 13

नहीं रहते, मित्र, अग्नि, सोम आदि देवताओं तथा इन्द्रसे पराजित राक्षसोंके पास भी चार थे। श्रीयुत शामशास्त्रीने अपने ग्रन्थमें[1] बताया है कि वैदिक कालमें चारोंका काम दीवानी फौजदारी मामलोंमें अर्थी प्रत्यर्थी वा साक्षियोंके वक्तव्योंकी सत्यताकी जाँच करना ही न था, प्रत्युत हानिकारक प्रवृत्तिवालोंकी गति विधिका ज्ञान रखना भी था। राज्यके अपराध करनेवालोंका ही नहीं, सामाजिक और धार्मिक व्यवस्था नष्ट करनेवालोंका पता लगाना भी उनका काम था।

चारोंके बिना राजा पंगु होता है।

रामायण और महाभारतमें ही नहीं, नाटकों, पाली साहित्य, मनुस्मृति तथा अर्थशास्त्रादिमें चारोंका वर्णन पाया जाता है। जैसा पहले बताया गया है, चारोंके दो मुख्य भेद थे, जिनमें एकका सम्बन्ध स्वराज्यसे और दूसरेका परराज्योंसे था। परराज्यों—विशेषकर वर्त्तमान वा भावी शत्रु राज्यकी शक्तिका पता रखना बहुत आवश्यक होता है। आजकल अन्तरराष्ट्रिय समझौतोंके रहते हुए भी दूसरे राज्यकी किलेबन्दियों, स्थल सेना, नौसेना, आकाशसेना आदिकी गोपनीय बातें जाननेके लिये राज्योंके दूत नाना वेषोंमें घूमा करते हैं। मनुस्मृतिमें तो कहा भी गया है कि राजा नित्य अपनी और शत्रुकी शक्तिका पता चारों और उनके कार्योंसे लगाता रहे।[2] महाभारतके सभापर्वमें कहा गया है कि शत्रुके अष्टादश तीर्थोंके कार्योंका तथा मंत्री, पुरोहित और युवराजको छोड़ अपने १५ तीर्थोंके कार्योंका पता भी ऐसे चार लगाते रहें, जो परस्परको न जानते हों।[3] परन्तु कौटिल्यका कहना है कि शत्रु, मित्र, मध्यम

१ Evolution of Indian Polity pp. 23-24

२ चारेणोत्साहयोगेन क्रिययैव च कर्मणाम्।
स्वशक्तिं परशक्तिं च नित्यं विद्यान्महीपतिः ॥२६८॥ अ० ६

३ कच्चिदष्टादशान्येषु स्वपक्षे दशपञ्च च।
त्रिभिस्त्रिभिरविज्ञातैर्वेत्सि तीर्थानि चारकैः ॥ ३८॥ सभापर्व अ० ५

और उदासीन राजाओं और उनके मंत्री, पुरोहित आदि अष्टादश तीर्थोंपर चारोंको नियुक्त करे।[1] यही नहीं अपने मण्डलमें चारोंको बसावे और इनकी सहायतासे अपने शत्रुओंकी शक्ति नष्ट कर दे।[2] सारांश, चारोंके अभावमें राजा पंगु होता है।

जब वरुणका काम बिना चारोंके नहीं चल सकता, तब साधारण राजाओंका कैसे चल सकता है? इसीलिये अग्निपुराण और मनुस्मृति सभी राजाको चारचक्षु होनेका उपदेश देते हैं।

चारोंकी रिपार्ट पर ही श्रीरामने सीताका त्याग किया था।

स्वराज्यमें राजाके प्रति, प्रजा, राजकुमार, मंत्रियों आदिके क्या भाव हैं यह जानना राजाका कर्त्तव्य है। श्रीरामने जब अपने चार दुर्मुखको प्रजाके भाव जाननेको भेजा, तो इसने सीताके विषयमें जो निन्दात्मक बातें सुनीं, उनसे यह बड़े पसोपेशमें पड़ा और सोचने लगा कि श्रीमन्महाराजको मैं महारानी सीता सम्बन्धी अकल्पनीय निन्दावाद कैसे सुनाऊँ अथवा मुझ जैसे अभागेका यही कर्त्तव्य कर्म है और फिर उच्च स्वरसे बोला, 'पौरजानपद महाराजकी प्रशंसा करते हैं। कहते हैं कि महाराज रामके आचरणसे हम महाराज दशरथको भूल गये।' इसपर श्रीरामने कहा 'यह तो अर्थवाद (ठकुरसुहाती) है। बताओ यदि मुझमें उन्हें कोई दोष देख पड़ा हो, जिसका प्रतिविधान किया जाय।[3] अनन्तर रजककृत अपवाद सुनकर उन्होंने सीताका परित्याग कर दिया। इससे स्पष्ट है कि राजा अपने चारोंके वाग्वज्र सुनकर अपने दोष दूर करनेकी चेष्टा भी किया करते थे।

---

१ एवं शत्रौ च मित्रे च मध्यमे चावपेच्चरान्।
उदासीने च तेषां च तीर्थेष्वष्टादशस्वपि ॥२२॥ अधि० १ अ० १२

२ कृत्स्ने च मंण्डले नित्यं दूतान् गूढांश्च वासयेत्।
मित्रभूतस्सपत्नानां हत्वा हत्वा च संवृतः ॥४६॥ अधि० ७ अ० १३

३ उत्तर रामचरित, प्रथम अङ्क

प्राचीनकालमें इन चारोंके चलते क्या नहीं हो जाता था। रानीके कमरेमें छिपे हुए वीरसेनने ही अपने भाई राजा भद्रसेनको मार डाला था। अपनी माताके पलंगके नीचे छिपे हुए लड़केने अपने पिता राजा कारुशको मार डाला था। काशिराजकी रानीने ही उसे खीलोंमें मधुके संयोगसे विष मिला कर खिला दिया था। विषमें बुझाये हुए नूपुरसे वैरन्त्यको उसकी रानीने मार डाला था। मेखला वा तागड़ीके मणिसे सौवीरको और आरसीसे जालूथको उसकी रानीने मार डाला था और विदूरथकी रानीने अपने जूड़ेमें छिपे हुए शस्त्रसे उसे मार डाला था।[1] ये काम क्या बिना चारोंके सहयोगसे हुए थे?

चारोंके षड्यंत्रसे ही कई राजा मारे गये।

यद्यपि राजनीतिशास्त्रके अतिरिक्त अन्य विषयोंके ग्रन्थोंमें भी चारोंकी चर्चा है, तथापि कौटिलीय अर्थशास्त्रमें जैसा विधिवत् वर्णन है, वैसा अन्यत्र नहीं दिखायी देता। इसमें चारोंके दो भेद किये गये हैं एक 'संस्था' और दूसरा 'संचार'। संस्थामें कापटिक, उदास्थित, गृहपति व्यंजन, वैदेहक व्यञ्जन और तापस व्यञ्जन रखे गये हैं और संचारमें सत्री, तीक्ष्ण, रसद और भिक्षुकी नामके चार वा गूढ़ पुरुष हैं। जो चार एक ही स्थानमें रहते थे अर्थात् जिनका काम दफ़्तरमें होता था, वे संस्था श्रेणीमें थे, क्योंकि एक ही स्थानमें रहते थे और जो घूमा फिरा करते थे, वे संचार कहाते थे। मनुस्मृतिमें भी संस्था गुप्तचरोंकी संज्ञा पंचवर्ग बतायी गयी है और उसके टीकाकार मेधातिथि, गोविन्दराज, कुल्लुक और राघवने इन पांचोंके वे ही नाम बताये हैं, जो अर्थशास्त्रमें

चारोंके दो मुख्य और अवान्तर भेद

---

१ देवीगृहे लीनो हि भ्राता भद्रसेनं जघान् ॥२१॥ मातुशय्यान्तर्गतश्च पुत्रः कारुशम् ॥२४॥ लाजान्मधुनेति विषेण पर्य्यस्य देवि काशिराजम् ॥ २५ ॥

पाये जाते हैं। परन्तु अग्निपुराणमें दिये हुए नामोंसे इनमें कुछ अन्तर है। इसके अनुसार उनकी संज्ञा तापसव्यंजन, वणिक्, कृषीवल, लिंगी और भिक्षुक है। वणिक् वैदेहक व्यञ्जनका नामान्तर है और कृषीवलको गृहपति-व्यंजन समझना चाहिये। श्रीहेमचन्द्र राय चौधरीके मतसे लिंगी कापटिक छात्र है। किरातार्जुनीयमें कवि भारविने युधिष्ठिरके गुप्तचरको वर्णी-लिंगी बताया है। शुक्रनीतिसारमें[1] चारोंकी संज्ञा वर्णी, तपस्वी और संन्यासी बतायी गयी है, परन्तु ये कौटिल्यके कापटिक छात्र, उदास्थित और तापस व्यंजनके नामान्तर ही जान पड़ते हैं।

अग्निपुराणके भिक्षुक और अर्थशास्त्रके उदास्थितमें अन्तर है। ये भिखारी वैरागियोंकी भाँति देशमें घूमते फिरते होंगे। कोशलेश पसेनदि वा प्रसेनजित्के चारोंका जो वर्णन बौद्ध ग्रन्थ संयुत्त निकायमें मिलता है, उससे जाना जाता है कि उस समय साधू-वैरागियोंसे चारोंका काम लिया जाता था अथवा चार साधुओंके वेषमें घूमा करते थे।

चार राजाओंकी आँखें हैं।

जब एक बार सावत्थी वा श्रावस्तीमें मिगारकी माताके घर तथागत ठहरे हुए थे, तब सन्ध्याको कोशलनरेश पसेनदि उनके दर्शनोंको गये और उन्हें प्रणाम करके एक किनारे बैठ गये। इसी समय बुद्धदेव जिस स्थानमें बैठे थे, उसके अनतिदूर सात जटिल, सात निग्गंठ (निर्ग्रंथ), सात नग्न और सात एकवस्त्री तथा सात संचारक उधरसे निकले। उस

विषदग्धेन नुपुरेण वैरन्त्यं मेखलामणिना सौवीरं जालूथमादर्शेन वेण्यां-गूढं शस्त्रंकृत्वा देवी विदूरथं जघान् ॥२६॥ अर्थशास्त्र अधि० १ अ० २०

१ वर्णीतपस्वीसंन्यासी नीचसिद्धस्वरूपिणम्।
प्रत्यक्षेण छलेनैव गूढाचारं विशोधयेत् ॥३३७॥ अ० १
लिंगीका अर्थ गुजराती प्रेस द्वारा प्रकाशित कामन्दकीय नीतिसारक टीकामें ब्रह्मचारी बताया गया है। कामन्दकके मतसे वणिक्, कृषीबल लिङ्गी, भिक्षुक और अध्यापक पञ्चवर्गमें हैं।

समय राजाने अपने आसनसे उठकर और एक कन्धेपर दुपट्टा डालकर अपना दाहिना घुटना तोड़कर उन्हें हाथ जोड़े और तीन बार कहा, 'महात्माओ, मैं कोशलपति राजा पसेनदि हूँ।' जब वे चले गये, तब राजाने फिर बुद्ध भगवान्‌के पास बैठकर उनसे पूछा, 'भगवन्, क्या वे इस लोकके अर्हन्त हैं अथवा उनमें हैं जो अर्हन्तत्वके मार्गमें हैं?' इसका कोई सन्तोषजनक उत्तर बुद्धने नहीं दिया, केवल इतना ही कहा कि जबतक मनुष्य संगमें नहीं रहता, तबतक किसीके चरित्रका पता नहीं लगता। और इसके बाद भी जब हम बहुत ध्यान दें और उपेक्षा न करें तथा हमारी अन्तर्दृष्टि हो और हम मूर्ख न हों, तभी ठीक ठीक जान सकते हैं।' इसपर पसेनदिने समझाया कि 'भगवन्! ये मेरे आदमी और चार हैं। जब एक स्थानकी जाँच कर लेते हैं, तब मेरे पास आते हैं। पहले मुझे अपनी रिपोर्ट देते हैं और फिर उसपर मैं अपना निर्णय करता हूँ। इस बीचमें जब वे धूल मिट्टी झाड़कर साफ हो जाते हैं और नहा धोकर तेल आदि लगाकर बाल दाढ़ी सँवारकर सफेद कपड़े पहन लेते हैं, तब उनके पास नौकर जाते हैं और सब प्रकारकी सुख-सामग्री उन्हें प्राप्त होती है।'[1] इससे जाना जाता है कि चार व्यवस्था राजनीतिक ग्रन्थोंमें ही लिखी नहीं रहती थी, व्यवहारमें भी लायी जाती थी। कामन्दकने भी अपने नीतिसारमें चारोंके महत्त्वका वर्णन इस प्रकार किया है :—चार महीपतियोंकी आँखें हैं। राजाको उन्हींके द्वारा देखना चाहिये। जो उनकी आँखोंसे नहीं देखता, वह अज्ञानके कारण समतल भूमिपर भी ठोकर खाता है, क्योंकि वह अन्धा कहा गया है। ऋत्विक

---

१ एते भंते मम पुरिसा चरा ओचरका जनपदं ओ चरिता आगच्छन्ति ॥ तेहि पठमम ओचिन्नं अहं पच्छा ओसापयिस्सामि ॥ इदानी ते भंते तं रजोजलं पवाहेत्वा सुनहाता सुविलित्ता कप्पिटकेसमस्सु उदातवत्था चहि काममुणेहि समप्पिता संगमिभूता परिचारयिस्सन्तीति ॥ पृ० ७६

जिस प्रकार सूत्रोंके अनुसार कर्म करता रहता है, उसी प्रकार राजाको चारोंके विचारसे कार्य करना चाहिये।[1]

संस्था गुप्तचरोंमें कापटिक वह है, जो दूसरेका रहस्य जाननेवाला हो, प्रगल्भ वा निडर हो तथा छात्रवेषमें रहता हो। जो बुद्धिमान् और पवित्र हो और संन्यासी वेषमें रहता हो, वह उदास्थित है।

संस्था गुप्तचरोंका विशेष ब्योरा

निर्धन किसानके रूपमें रहनेवाला बुद्धिमान् और पवित्र हृदय गुप्तचर गृहपति तथा निर्धन व्यापारीके वेषमें रहनेवाला चार वैदेहक-व्यंजन हैं। सिर मुँड़ाये वा जटा बढ़ाये जीविकाके लिये राजसेवा करनेवाला भेदिया तापस है। कापटिकका काम यह था कि राजा और मन्त्रीको प्रमाण मानकर जिसकी जो हानि देखे, तुरत मंत्रीको बता दे। उदास्थितका काम था कि बहुत-से विद्यार्थी और धन लेकर कृषि, पशुपालन और वाणिज्यके लिये निर्दिष्ट स्थानोंमें जाकर विद्यार्थियोंसे काम करावे। इन कार्योंसे जो आय हो, उससे वह सब प्रकारके संन्यासियोंके लिये भोजन, वस्त्र और स्थानकी व्यवस्था करे। जो संन्यासी इस प्रकार भोजन लेना चाहें, उन्हें वशमें करके समझा दे कि इसी वेषमें तुम्हें राजकार्य करना होगा और जब तुम्हारे वेतन और भत्तेका समय आवे, तब यहाँसे ले जाना। ऐसे ही सब उदास्थित अपने अपने वर्गके संन्यासियोंको समझावें। कृषिके लिये निर्दिष्ट भूमिमें गृहपति और व्यापारके लिये निर्दिष्ट स्थानमें वैदेहक-व्यंजन उदास्थितकी भाँति कार्य करे। तापसका काम था कि बहुतसे मुण्ड और जटिल विद्यार्थियोंको रखे तथा प्रकाश रूपसे तो महीने दो महीनेमें मुट्ठी भर साग खाया करे, पर गुप्तरूपसे इच्छानुसार

---

१ चारचक्षुर्नरेन्द्रस्तु सम्पतेत् तेन भूयसा।
अनेनासम्पतन् मार्गात् पतत्यन्धः समेऽपिहि ॥ ३१ ॥
चरेण प्रचरेत्प्राज्ञः सूत्रेणर्त्विगिवाध्वरे।
दूते सन्धानमायत्तं चरे चर्या प्रतिष्ठिता ॥ ३४ ॥ सर्ग १३

भोजन किया करे। व्यापारी चारके पास रहनेवाले कार्यकर्त्ता धन आदिसे इसकी पूजा किया करें और इसके शिष्य चारों ओर प्रसिद्ध कर दें कि हमारे गुरूजी बड़े महात्मा योगी हैं और भविष्यमें होनेवाली सम्पत्तियोंको भी बता देते हैं। अपनी भावी सम्पत्तिके विषयमें जाननेकी अभिलाषासे आये पुरुषोंके कुटुम्बमें जो कार्य हुए हों, उन्हें शरीर आदिके चिह्न देकर तथा अपने शिष्योंके इंगितोंके अनुसार ठीक ठीक बता दे। यह भी बतावे कि अमुक कार्यमें लाभ होगा। आग लगने और चोरीके भयकी बात, दूष्य पुरुषोंके वध और सन्तुष्ट होनेपर पुरस्कार, दूर देशके समाचार तथा आजकलमें होनेवाले कार्य बतावे तथा यह भी कहे कि राजा अमुक कार्य करेगा। जिन प्रश्नकर्त्ताओंमें धीरता, बुद्धि और वाक्पटुता आदि शक्तियाँ हों, उनसे कहे कि तुम्हें राजाकी ओरसे धन मिलेगा और मंत्रीसे तुम्हारी भेंट होगी तथा होनेपर मंत्री भी इनकी जीविका और व्यापार आदिके लिये विशेष यत्न करे। जो किसी विशेष कारणसे क्रुद्ध हो गये हों, उन्हें धन और सम्मानसे शान्त करे। जो बिना कारण ही क्रुद्ध हुए हों और द्वेष रखते हों, उन्हें चुपचाप मरवा डाले।

संचार शाखाके गुप्तचरोंका विशेष वर्णन

संचार शाखाके भेदियोंमें जो सत्री होते थे, वे अनाथ होनेके कारण राज्यसे भरण पोषणके लिये वृत्ति पाते थे और उन्हें लक्षण और अंग विद्या (सामुद्रिक और शरीरके किसी भागमें शुभाशुभ चिह्नोंका जो फल होता था, वह बतानेवाला शास्त्र) मायागत (जादूगरी वा इन्द्रजाल), आश्रमधर्म, जम्भक विद्या (जम्हाईका शुभाशुभ फल), निमित्त और अन्तरचक्र (शकुनशास्त्र और पक्षियोंकी बोलियों-से शुभाशुभ समझनेवाला शास्त्र) पढ़ाये जाते थे। एक साथ रहकर पढ़नेके कारण ये सत्री (सहपाठी, हमसबक या क्लासफेलो) कहाते थे। अपनी शिक्षाके कारण इन्हें हर तरहके लोगोंसे मिलने जुलनेके और इस प्रकारसे प्रत्यक्ष भेद जाननेके बहुत अवसर मिला करते थे। जो लोग हाथी, शेर जैसे भयंकर पशुओंसे कभी धन और कभी प्रसन्नताके लिये

लड़ते और अपनी जानकी परवा नहीं करते थे, उन्हींसे तीक्ष्ण गुप्तचर भर्ती किये जाते थे। रसद वे होते थे, जो बन्धुओंके साथ स्नेह नहीं करते थे, क्रूर और आलसी होते थे तथा बहुरूपिये होते थे। सूद (रसोईये), अरालिक (हलवाई), स्नापक (नहलानेवाले), आस्तरक (बिछौना बिछानेवाले), कल्पक (नाई), प्रसाधक (कपड़े पहिनानेवाले) इत्यादि रूपोंसे काम करते थे। ये रसद गुप्तचर इसलिये ये काम करते थे, जिसमें रस वा विषका प्रयोग कर सकें। परिव्राजिका वह होती थी, जो दरिद्रा, प्रगल्भा (बड़ी बोलनेवाली और हाजिरजवाब) विधवा ब्राह्मणी होती थी और जीविकाकी इच्छा रखतो थी तथा जिसका महामात्रके कुलोंमें सत्कार हुआ करता था। भिक्षुकी, मुंडा, वृषलो आदि भी इसी संचार श्रेणीके चारोंमें होती थीं। भिक्षुकी और परिव्राजिकामें यह अन्तर जान पड़ता है कि परिव्राजिका तो बड़े घरोंमें जाने आनेवाली गरीब ब्राह्मणी थी, पर भिक्षुकी भिखारिन ही थी। मुंडा बौद्ध भिक्षुकी होती थी, क्योंकि इसका सिर मुंडा रहता था। वृषली दासीका ही एक प्रकार था। इनके अतिरिक्त पुंश्चली वेश्या और रूपजीवा इस काममें अधिक नियुक्त की जाती थीं। पुंश्चली तो कुलटा थी और रूपजीवा अपने रूपलावण्यके बलपर कमाने खानेवाली वेश्या थी।

महाभारत और किरातार्जुनीयमें गुप्तचरोंका वर्णन

इनके अतिरिक्त चारोंके और भी बहुतसे प्रकार थे। महाभारत भीष्म पर्वसे जाना जाता है कि भीष्मके चार जड़, अन्धे और बहिरे बने घूमा करते थे और द्रोणने दुर्योधनको परामर्श दिया था कि ब्राह्मण चार रखा करो। मुद्राराक्षस नाटकसे जाना जाता है कि चाणक्यका एक चार जीवसिद्ध बौद्ध भिक्खुके रूपमें भङ्गुरी बना घूमा करता था और राक्षसका चार विराधगुप्त जीर्णविषनाम का संपेरा बना फिरता था। वह कार्त्तान्तिक-व्यञ्जन श्रेणीका चार था। अर्थशास्त्रमें गोरक्ष-व्यञ्जन (चरवाहा), दण्डमुख्य-व्यञ्जन (सेनापति), लुब्धक-व्यञ्जन (बहेलिया), कर्मकर-व्यञ्जन (नौकर चाकर), गोवणिक् (गाय बैलोंका

व्यापारी), हस्तिजीवी (हाथी द्वारा जीविका करनेवाला), अग्निजीवी (आगसे काम करनेवाला), माता पिता-व्यञ्जन (माँ-बाप रूपसे रहनेवाला), देह दावनेवाला, कुबड़ा, बौना, गूंगा, बहिरा, जड़, अन्ध, नट, नचनिया, गवैया, बजवैया और भाट, वाग्जीवन (खुश मसखरा) इत्यादि गुप्तचरोंके अनेक भेद बताये गये हैं। महाभारत विराट् पर्वसे जाना जाता है कि दुर्योधनने पाण्डवोंका पता लगानेके लिये गुप्तचर छोड़े थे और इन्होंने लौटकर पहाड़ों, दुर्गों, गहन वनों और जनाकीर्ण नगरोंका बड़ा ही सजीव वर्णन किया था। भीष्मके भेदियोंने यहां तक पता लगा लिया था कि पांचालके राजा द्रुपदने जिस शिखंडीका पुत्रवत् लालन-पालन कर रखा है, वह लड़की है, यद्यपि द्रुपद और उसकी रानीके सिवा किसीको इसका ज्ञान न था। दुर्योधनके चार केवल यही समाचार ला सके थे कि मत्स्य देशका सेनापति कीचक मर गया। परन्तु इतनेसे कर्ण सन्तुष्ट न हुआ और उसने दुर्योधनसे कहा कि विदेशोंमें कुछ और दूत शीघ्र भेजो। किरातार्जुनीयसे भी इन चारोंका रोचक वर्णन प्राप्त होता है। युधिष्ठिर अपने भाइयों सहित द्वैत-वनमें ठहरे हुए थे। अपना भावी कार्यक्रम ठीक करनेके पहले वे दुर्योधनके शासनके विषयमें विश्वसनीय समाचार जान लेना चाहते थे। इसलिये उन्होंने भेद लेनेके लिये कुरुराज्यमें एक वनेचरको भेजा। किरातके पहले सर्गसे जाना जाता है कि इसने अपने कार्योंकी विस्तृत रिपोर्ट युधिष्ठिरको दी थी। इसमें कुरुराज्यके शासनकी ही नहीं, दुर्योधनके सैनिक बलकी भी चर्चा थी।

मुद्राराक्षसमें चारोंका उल्लेख

गुप्तचरोंके हथकंडे बतानेवाला मुद्राराक्षससे बढ़कर कोई ग्रन्थ नहीं है। यों तो उस नाटकका विषय चन्द्रगुप्त और मलयकेतुके युद्धका वर्णन है, तथापि उससे चन्द्रगुप्तके मंत्री चाणक्य और नन्दके भूत तथा मलयकेतुके सामयिक मंत्री राक्षसकी कूटनीतिक लड़ाईका ब्योरा जाना जाता है। राक्षसने विराधगुप्तको भेद लेने पाटलिपुत्र भेजा था। यह संपेरा बनकर गया था। इसकी रिपोर्टसे जाना गया कि राक्षसका विचार

चन्द्रगुप्त और उसके अनुयायियोंमें भेद डालना था। इसने भाट स्तन-कलसको चन्द्रगुप्तका क्रोध बढ़ानेको भेजा था, जो श्लेषपूर्ण छन्दोमें गाता था कि चाणक्य तेरी आज्ञाका विरोध करता है और तेरे अधिकारको ठुकराता है। परन्तु चाणक्यकी चतुराईसे राक्षसके प्रयत्न विफल हुए। एक बार उसने अपने विद्वान् चिकित्सक अभयदत्तको चार रूपसे भेजा था और इसने चन्द्रगुप्तको पीनेके लिये विष दिया था। पर चाणक्यने इसे सोनेके पात्रमें डाला तो इसका रंग बदल गया। इसपर चाणक्यने राजाको इसे न पीनेको कहा और चिकित्सकको ही पिला दिया, जिससे वह मर गया। राक्षसके दूसरे गुप्तचर प्रमोदकका प्रयत्न भी ऐसे ही विफल हुआ। इस वर्णनसे प्रथम महासमरमें जर्मनों और फ्रेंचोंकी सीक्रेट सर्विसके वर्णनोंकी तुलना करनेसे यह निर्विवाद सिद्ध हो जाता है कि हमारी उस समयकी चारव्यवस्था वर्त्तमान पाश्चात्य चार व्यवस्थासे किसी प्रकार हीन नहीं थी।

चारोंके गुण और उनकी नियुक्ति

इन वर्णनोंसे चारोंके कार्योंके उत्तरदायित्वका पता लगता है। पंच-वर्ग वा संस्थाके चारोंको राजा धन और मानसे सम्मानित करता था और वे राजकर्मचारियोंके शौच अथवा सदाचारका निश्चय किया करते थे। संचार शाखाके चारोंके विषयमें कौटिल्यने बताया है कि इनमें जो सद्वंशजात, राजभक्त, विश्वसनीय, देशों और व्यापारोंके अनुकूल वेष बदलनेमें पटु तथा बहुतसी भाषाओं और कलाओं के ज्ञाता हों, उन्हें राजा अपने ही देशमें अपने ही मन्त्री, पुरोहित, युवराज, सेनापति, दौवारिक, अन्तर्वंशिक, प्रशास्ता, समाहर्त्ता, सन्निधाता, प्रदेष्टा, पौर, व्यावहारिक, कार्मान्तिक, मंत्रिपरिषद्, दुर्गाध्यक्ष, दण्डपाल तथा अटवीपालकी गतिविधि जाननेको लगावें। जो तीक्ष्ण चार होते, वे राजछत्र, चामर, पंखा और जूते लेते अथवा सिंहासन, रथ वा यानके समीप रहते थे और उन कर्मचारियोंका बाहरी आचरण देखते थे जिनसे उन्हें काम पड़ता था। जो समाचार ये तीक्ष्ण चर एकत्र करते थे, वे सत्री चारोंद्वारा संस्थामें पहुँचाये जाते थे। रसद गुप्तचरोंका काम इन अधिकारियों

का भीतरी आचरण जानना था। नानारूप बनाकर वे ये काम करते थे। भिक्षुकियाँ इन अधिकारियोंके भीतरी आचरणका समाचार संस्थामें पहुँचाती थीं। यदि भिक्षुकी लोगोंके द्वारोंपर रोक दी जाती थी और रसदोंको समाचार नहीं दे सकती थी, तो मातापितृ-व्यंजन, शिल्पकारी, कुशीलव (भाट) और दासियों, संज्ञालिपि (codes), इंगित अथवा गीतवाद्य, भांड, गूढलेख्य वा संज्ञासे समाचार भेजती थीं। जब संस्थाको संचारोंसे समाचार मिले, तो वह अपने चारोंसे संज्ञालिपिद्वारा काम ले। यदि इन तीन भिन्न भिन्न द्वारोंसे समाचारकी पुष्टि हो, तभी उसे विश्वसनीय समझना और उसपर कार्य करना चाहिये। पर जब तीनोंमें बार बार अन्तर पड़ा करे, तब मिथ्या वा भ्रान्त समाचार देनेवालेको गुप्त रूपसे दण्ड दे। जिसमें गुप्तचर घूस न खाय व धोखा न दे, इसलिये नियम था कि संस्थाके गुप्तचर संचारोंको और संचार गुप्तचर संस्थावालोंको न जानें।

राजाकी रक्षाके कामोंमें भी कौटिल्यने चारोंका उपयोग किया है। परराज्यसे ही राजापर संकटकी सम्भावना नहीं रहती,

रानियों, राजकुमारों, मंत्रियों आदिसे राजाकी रक्षामें चारोंका उपयोग

स्वराज्यकी अभक्त प्रजा और मन्त्रियोंसे तथा राजकुमारों और रानियोंसे भी रहती है। रानियोंके षड्यंत्रोंके कारण कई राजाओंको प्राणोंसे हाथ धोना पड़ा यह तो ऊपर बताया ही जा चुका है। इसलिये कौटिल्यने राजाको उपदेश दिया है कि रानीके पास कभी न जाओ और रातको तो जाओ ही नहीं, प्रत्युत किसी विश्वस्त बूढ़ी परिचारिकासे रानीको अपने कमरेमें ही बुलाओ, क्योंकि कई रानियोंने या तो किसी रानीके डाहसे वा अन्य कारणसे राजाओंकी हत्यामें सहायता पहुँचायी है। राजकुमारोंको तो कौटिल्यने केकड़ा कहा है जो अपने जनकको खा डालता है। बौद्ध जातकोंमें ऐसी अनेक कथाएँ हैं जहाँ राजकुमारोंसे डरकर राजाओंने उन्हें निर्वासित किया है। जिसमें राजकुमारोंके षड्यंत्रसे राजाओंके प्राण न जायँ इसलिये कौटिल्यने युव-

राज तथा अन्य राजपुत्रोंपर दृष्टि रखनेके लिये चारोंकी व्यवस्था की है। जब राजपुत्रोंके राजविरोधी भाव देखे जायं, तब पहले तो उन्हें भेदियों और माताओंके द्वारा राजाके अनुकूल करनेके प्रयत्न किये जायं, परन्तु जब इस प्रकारके उपाय निष्फल सिद्ध हो जायं, तो कौटिल्यका कहना है कि राज्यके कल्याणार्थ गूढ़पुरुषोंद्वारा उनका वध करा दिया जाय। राजकुमारोंको सुधारनेके लिये भी कौटिल्यकी व्यवस्था है। इसके अनुसार राजकुमारोंको धर्म और अर्थकी शिक्षा दी जाय। परन्तु यदि यौवनके मदमें परस्त्रियोंकी ओर उनका मन जाय, तो आर्य स्त्रियोंके भेसमें बुरी स्त्रियोंद्वारा वे डराये जायं। यदि उन्हें मद्यपानका चस्का लगा हो, तो गूढ पुरुष मद्यमें धतूरा आदि मिलाकर उन्हें पिला दें और जुएकी लत पड़ गयी हो, तो कपटी पुरुषोंके वेषमें भेदिये उन्हें डरावें। आखेटका व्यसन लगा हो, तो गुप्तचर डाकुओंके रूपमें उनमें भय उपजावें और यदि वे पितापर आक्रमण करनेके इच्छुक हों, तो चार उन्हें ऐसे प्रयत्नोंके दुष्परिणाम समझावें।

दूष्य महामात्रको दण्ड देनेकी कौटिल्यकी व्यवस्था तथा एक ब्रिटिश उदाहरण

जहाँ तक राजपरिवारका सम्बन्ध है, वहाँतक तो कौटिल्यने चारोंका बड़ा ही सदुपयोग किया है; परन्तु दूष्य महामात्रके विषयमें बड़ी ही वेढब नीतिका उपदेश किया है। कहा है कि किसी दूष्य महामात्यके भाईको सत्री राजाके पास ले जाय और वहां इसे भाईकी सम्पत्तिका अधिकार दिला दे और उससे महामात्रपर आक्रमण करावे। जब यह रस वा शस्त्रसे महामात्रको मार डाले, तो भ्रातृघातक कहकर वहीं उसका वध कर दिया जाय। इसे अधिक स्पष्ट करके कौटिल्यने यों कहा है कि जो अध्यक्ष वा आपसमें मिले हुए अमात्य आदि राजाका नाश कर रहे हों और जिन दुष्टोंको खुल्लमखुल्ला इस डरसे कुछ न कहा जा सके कि इससे प्रजामें असन्तोष उत्पन्न हो सकता है, तो राजा उन्हें उपांशुदण्ड दे अर्थात् इस ढंगसे उनका वध करावे कि वध और बधिक किसीका पता

न लगे। इस प्रकारके उपाय वर्त्तमान सभ्य सरकारें भी करती हैं। ब्रिटिश परराष्ट्र विभागकी एक ऐसी ही कार्रवाईका उल्लेख सर राजर केसमेंटने 'गैलिक अमेरिकन' पत्रमें किया था। इसका इस प्रसंगसे घनिष्ठ सम्बन्ध है इसलिये इसकी चर्चा की जाती है। सर राजर केसमेंट ब्रिटिश परराष्ट्र विभागमें कई बार कान्सल और राजदूतका भी काम कर चुके थे। वे आयरिश प्रोटेस्टैन्ट होनेपर भी स्वदेशके लिये स्वराज्य प्राप्त्यर्थ 'शिनफिन' (स्वदेशी) आन्दोलनमें पड़े थे। वे सच्चे इतने थे कि नौकरी ही नहीं छोड़ी थी, पेनशन भी छोड़ दी थी। १९१५ में वे अमेरिकासे नार्वे होकर जर्मनी जा रहे थे। नार्वेकी राजधानी क्रिश्चियाना वर्तमान ओस्लोमें ब्रिटिश राजदूतके व्यवहारके विषयमें उन्होंने १ फरवरी १९१५ को हालैण्डकी राजधानी हेगसे एक रजिस्ट्री चिट्ठी ब्रिटिश परराष्ट्र-सचिव सर एडवर्ड ग्रेको लिखी थी। यह पूरी चिट्ठी १० जुलाई १९१५ के "गैलिक अमेरिकन' में प्रकाशित हुई थी।[1] इससे जाना जाता है कि

---

१ सर राजर केसमेंटके पत्रके अंशः—

I was prepared to face charges in a Court of Law: I was not prepared to meet waylaying, kidnapping, suborning of dependent, or 'knocking on the head': in fine all the expedients your representative in a neutral country invoked when he became aware of my presence there.

For the criminal conspircy that Mr M. de C. Findlay, H. B. M. Minister to the Court of Norway, entered into on the 30th October last, in the British Legation at Christiana with the Norwegian subject my dependent Eivind Adler Christensen involved all these things and more.

क्रिश्चियानाके ब्रिटिश राजदूतने सर राजर केसमेंटके नार्वीजियन नौकरको ५००० पौंड इसलिये देनेको कहा था कि वह सर राजरको अंगरेज सरकारके चुंगलमें फंसा दे। ब्रिटिश राजदूतका यह कार्य अन्तरराष्ट्रिय नियमोंके विरुद्ध तो था ही, पर नार्वीजियन प्रजाजनको विश्वासघात करनेके लिये उकसानेवाला भी था। कौटिल्य इससे अधिक और क्या करा सकते थे ?

राजकर्मचारियोंसे प्रजाकी रक्षामें चारोंका उपयोग

राजकर्मचारियोंसे प्रजाकी रक्षा करना भी बड़ा आवश्यक कार्य है और वह विना चारोंके असम्भव है। इसलिये मनुस्मृतिमें भी कहा गया है कि राजा कर्मचारियोंको नियुक्त तो प्रजाकी रक्षाके लिये करता है, परन्तु ये प्रायः परस्वापहारी और शठ होते हैं, इसलिये इनसे

It involved not a mere lawless attack upon myself for which the British Minister promised my follower the sum of £ 5000/—(£1=2·80) but it involved a breach of international law for which the British Minister in Norway promised the Norwegian subject full immunity.

That this man was faithful to me and to the law of his country, was a triumph of Norwegian integrity over the ignoble inducement preferred to him by the richest and most powerful Government in the world to be false to both.

—History of the Sinn Fien Movement and the Irish Rebellion of 1916 by Francis P. Jones (Third & Enlarged Edition pp. 203—5.)

प्रजाकी रक्षा करे।[1] कौन राजकर्मचारी पवित्र (ईमानदार) हैं और कौन घूँसखोर है इसका पता चारों द्वारा ही लग सकता है, इसीलिये राज्यशास्त्रप्रणेताओंने अपने कर्मचारियोंपर भी चार लगानेका उपदेश राजाको दिया है। महाभारतमें कणिकने धृतराष्ट्रसे कहा है कि उद्यानों, विहारों, देवतायतनों, पानागारों, (सुंड़ीखानों), तीर्थस्थानों, चत्वरों, कूपों, पर्वतों और वनोंमें चारोंकी नियुक्ति करो। कौटिल्यने तो पवित्रताकी जांचके उपाय भी बताये हैं। समाहर्त्ताके चारोंका यह काम था कि उन्हें पता लग जाय कि उसका चरित्र पवित्र नहीं है, तो वैसे ही कर्मोंका भेदू चार उसपर छोड़ दिया जाय, जो उससे मेल जोल बढ़ाकर कहे कि मेरे मित्रपर विपद् आ गयी है, वह दूर हो जानी चाहिये, आपकी मुट्ठी भी गर्म हो जायगी। यदि धर्मस्थ वा प्रदेष्टा स्वीकार कर ले, तो घोषित कर दिया जाय कि वह उत्कोचग्राही है और देशसे निकाल दिया जाय। इसी प्रकार ग्रामके मुखिया (ग्रामकूट) वा इसके अध्यक्षसे कहा जाय कि एक धनी झमेलेमें फँस गया है, इस समय उससे कुछ ऐंठना चाहिये। यदि वह सम्मत हो जाय, तो ऐंठनेके अपराधपर देशसे निकाल दिया जाय। ऐसे ही अपने ऊपर फौजदारी मामलेका बहाना करके कूट साक्षी वा झूठे गवाह बनाये जायं। जो कोई गवाही देनेपर राजी हो जाय, वह कूट साक्ष्य वा दरोगहल्फीमें देशसे निकाल दिया जाय। फिर यदि किसीपर सन्देह हो कि वह जाली सिक्के (कपट नाणक) बनाता है, क्योंकि बहुधा कई प्रकारकी धातु, सज्जी, कोयला, धौंकनी, संडसी, कठेली, चूल्हा और हथौड़े खरीदा करता है और उसके हाथ और कपड़े राख और धुएंसे गंदे रहतेहैं, तो उससे चार कहे कि मुझे चेला (शागिर्द) बना लीजिये। यदि वह चारकी बात मान ले, तो जाली सिक्के बनानेवालेको धीरे धीरे वह शागिर्द फंसा दे और फिर निर्वासित करा दे। पुराने और नामी चोर डाकुओंमें चार मिल जायं और उनकी पुरानी और नयी कार्रवाइयोंका

१ राज्ञो हि रक्षाधिकृता परस्वादायिनः शठाः।
भृत्या भवन्ति प्रायेण तेभ्यो रक्षेदिमाः प्रजाः ॥ १२३ ॥ अ० ७

ब्योरा जानकर उन्हें पुलिससे पकड़वाकर दंड दिला दें। समाहर्त्ताको गोपों और स्थानिकोंपर भी दृष्टि रखनी चाहिये।

कौटिल्यने सुराध्यक्ष और गणिकाध्यक्षसे जो काम लेनेकी व्यवस्था की है, उससे उनकी अपूर्व कल्पनाशक्तिका पता लगता है। सुरालयों वा कलवरियोंमें बहुतसे कमरे अलग रखनेको कौटिल्यने कहा है जिनमें सोने बैठनेका यथेष्ट प्रबन्ध हो। पानागार वा मदिरा पीनेके स्थानमें गन्धमाल्योदक—इत्र, फूलमाला और जल तथा सुखकी सभी सामग्री रहनी चाहिये। जो चार यहाँ नियुक्त हों, उनका काम है कि यह पता लगावें कि जो शराब पीने आते हैं, वे मामूली खर्च करते हैं वा बहुत और उनमें अजनबी तो नहीं हैं। साथ ही मत्त लोगोंके पास कितनेका परिच्छद, आभूषण और हिरण्य है। वणिक् गुप्तचर अधखुले कमरोंसे देखा करें कि आर्योंके वास्तविक वा कृत्रिम वेषमें अपनी सुन्दरी वेश्याओंके साथ नशेमें मस्त लोगोंके चेहरे कैसे हैं। गणिकाध्यक्षका काम यह जान लेना था कि वह प्रत्येक गणिकासे जान ले कि उसकी दैनिक भोग-फीस कितनी हुई, भावी आय क्या होगी और उसके यारकी आय क्या है।

सुराध्यक्ष और गणिकाध्यक्षका विशेष उपयोग

राजकोशकी वृद्धिमें भी कौटिल्यने चारोंसे काम लिया है। गुप्तचर जादूगरों वा ओझोंके वेषमें रहकर लोगोंकी कुशलक्षेम बनाये रखनेके बहाने पाषण्ड (बौद्ध) सङ्घोंका ही धन न ले जायँ, प्रत्युत मुर्दों, देवस्थानों और उनका भी ले जायँ, जिनके घर जल गये हों, यदि यह धन श्रोत्रिय ब्राह्मणका भोग्य न हो। चार अनन्त फनोंवाला नाग दिखाकर पैसे वसूल करें। वैदेहक किसी धनी व्यापारीका साझी बन जाय और उसकेसाथ मिलकर व्यापार करे और जब मालकी विक्रीसे बहुतसा धन एकत्र हो जाय, तब किसीको लगाकर सब धन चुरवा ले। गणिकाएँ साध्वियोंके रूपमें राजद्रोहियोंकी प्रेमिकाएँ बन जायँ और ज्योंही वे इन स्त्री-

चारोंसे राजकोशकी वृद्धिमें सहायता

चारोंके घरोंके पास दिखाई दें, त्योंही पकड़ लिये जायँ और उनकी सम्पत्ति राज्यद्वारा छीन ली जाय। इसी प्रकार किसी राजद्रोहीका नौकर बनकर चार अपने वेतनके नाणकोंमें जाली नाणक मिलाकर मालिकको पकड़वा दे। फिर तो इसकी सम्पत्ति सरकारकी हो ही गयी। यहाँ तक स्वदेशमें चारोंके कृत्योंका वर्णन हुआ। इस प्रसङ्गमें यह मार्केकी बात है कि पाश्चात्य राजनीतिमें स्वराज्यके कर्मचारियोंके शौचकी रक्षाके लिये हिन्दू राज्यशास्त्रमें वर्णित व्यवस्थाके समान कोई विधान नहीं है। इस दृष्टिसे हिन्दू राजनीति पाश्चात्य राजनीतिसे श्रेष्ठ है।

अब शत्रुके बीचमें रखकर चारोंसे क्या काम लिया जाता है यह बताते हैं। कुबड़े, बौने, हिजड़े तथा शिल्पवती स्त्रियों, गूँगे और म्लेच्छ जातिकी विविध श्रेणियोंके लोगोंको शत्रुके घरोंमें छोड़ दे। इसके सिवा वणिक् संस्थाके चारोंको दुर्गोंके अन्दर, कर्षकों—किसानों, उदास्थितोंको राष्ट्रमें, सिद्ध तापसोंको दुर्गान्तमें, व्रजवासियोंको राष्ट्रान्तमें, वनचारियों, श्रमणों और आटविकोंको जंगलोंमें शत्रुओंकी गति विधि जाननेके लिये रख दे।

शत्रुराज्यमें प्रकृति-कोपका उत्पादन

शत्रु राष्ट्रोंके साथ कौटिल्य दो प्रकारसे भीतर ही भीतर लड़नेका परामर्श देते हैं। एक है तूष्णीभ् युद्ध अर्थात् खुल्लमखुल्ला लड़कर शान्ति भंग न करना और गूढ पुरुषों द्वारा उपजाप वा भेद डालना। विष, औषध तथा वध आदिसे मंत्रयुद्धका प्रयोग वहाँ होता है, जहाँ दुर्बल राजाका सबल शत्रुसे पाला पड़ता है और दुर्बलके दूतोंके बार बार कहनेपर भी सन्धि प्रस्ताव न स्वीकार कर खुल्लमखुल्ला शत्रु बन जाता है। ऐसी अवस्थामें कौटिल्यका उपदेश है कि तीक्ष्ण और रसद चारोंद्वारा शत्रु देशमें अभक्ति उत्पन्न की जाय। इस प्रकृतिकोपका क्या रूप हो यह बताते हैं।

वेश्याओंका उपयोग आजकल तो शत्रुका नैतिक ह्रास करनेके लिये होता ही है, कौटिल्यके समयमें भी होता था। कहा है कि शत्रुके सेनामुख्योंको वेश्यापाल वा बन्धकीपोषक परमरूप और यौवनवती

राजाकी अभक्ति उत्पन्न करनेके उपाय

स्त्रियां दिखाकर उनमें प्रेम उत्पन्न करें। जब उनमें कुछका प्रेम हो जाय, तब तीक्ष्ण चार उन्हें लड़ा दें। उनमें जो हार जाय, उसे दूसरे स्थानको चले जाने अथवा चारोंके स्वामीको सहायता देनेका परामर्श दें वा जो फँस जायँ, सिद्ध-व्यंजन चार उन्हें यह कहकर विष दे दें कि जो औषध हम देते हैं, उससे प्रेमिका प्राप्त हो जायगी। वैदेहक व्यंजनका काम यह है कि शत्रुकी सुन्दरी रानीकी परिचारिकाका प्रेम प्राप्त करनेके लिये उसे बहुतसा धन दे और फिर फँसा दे। वैदेहकका अनुचर उस परिचारिकाके नौकरको कुछ और औषधियां यह कहकर दे कि वणिक्का प्रेम प्राप्त करनेके लिये उसके शरीरमें लगा दे। जब उसे सफलता हो जाय, तब वह रानीसे कहे कि राजाका प्रेम प्राप्त करनेके लिये यह औषधि उसको लगा देनी चाहिये। जब वह सम्मत हो जाय, तब औषधिके बदले उसे विष दे दे। कार्त्तान्तिक वा ज्योतिषीके भेसमें कोई चार रहकर शत्रुके महामात्रको यह कहकर भरमावे कि आपमें तो राजाके सभी लक्षण हैं और भिक्षुकी चार उसकी स्त्रीको समझावे कि 'आपमें तो सब लक्षण राजपुत्रीके हैं और आप राजपुत्र प्रसविनी हैं' अथवा कोई स्त्री भार्याव्यंजन रूपसे महामात्रकी पत्नीसे कहे कि 'राजा मुझे बहुत तंग कर रहा है और एक तपस्विनी मेरे पास यह पत्र और अलङ्कार लायी है।' इस प्रकार उनमें राज्याभिलाष उत्पन्न करके राजाकी अभक्ति भड़कायी जाय। ऊपर जो उपाय बताये गये हैं, वह युद्धके पूर्वके ही समझने चाहिये। परन्तु युद्ध आरम्भ हो चुकनेपर भी चार अपने कर्त्तव्योंसे विरत नहीं हो सकते। जब युद्ध हो रहा हो, तब चरोंको चाहिये कि शुण्डीव्यंजन वा कलारोंके वेषमें सैकड़ों घड़े मदन-रस (बेहोश करनेवाली औषधि) और विषसे युक्त मद्य शत्रु सेनाके अफसरोंमें बाँट दें। कुछ लोग सूदों-अन्न पकाने और बेंचनेवालों अथवा खोन्चोंवालों तथा आरालिकों—हलवाइयोंके वेषमें विषयुक्त खाद्य पदार्थ शत्रुसेनाको बेंच दें और ये पदार्थ ऐसे हों कि सस्तेपन और अच्छेपनके कारण तुरत ले लिये जायं। विषयुक्त

घास और जल भारवाही वा लद्द पशुओंके सेवकोंको बेंच दें, जिसमें वे मर जायं। फिर गुप्तचर गोपों और बहेलियोंके रूपमें उपद्रव मचावें और शत्रुके सेनामुख्योंको पीछेसे मार डालें और शत्रु राजाके घरमें आग लगा दें। इनके लिये चारोंके मुखियेको अपने अधीन कर्मचारियोंको आदेश देना चाहिये। पशुओं और भेड़बकरियोंके झुंड इस प्रकार रखे जायं कि शत्रु सेनाका ध्यान बटा सकें। रातको जब शत्रुसेना लड़ती हो, तब रातको कभी कभी शत्रुकी छावनीमें घुसकर चार शत्रु राजाको मार डालें। दुर्गों के घिरावमें उनपर अधिकार करनेके समय घेरनेवालोंको चार भी सहायता दें। वह इस प्रकार कि शत्रु दुर्गके द्वारपर मांस वेचनेको चार खड़े हो जायं और द्वाररक्षकोंसे मित्रता कर लें। दो चार बार चारोंके आनेका समाचार देकर शत्रुका अपने ऊपर विश्वास उत्पन्न कर लें और फिर उसे अपनी सेनाको दो भागोंमें बंटवा दो जगह तैनात करा दें। जब शत्रुके गांव घेरे और लूटे जाते हों, तब वे उससे कहें कि चोर बहुत पास आ गये हैं, बड़ा हुल्लड़ मचा हुआ है और बड़ी सेनाका प्रयोजन है। फिर जो सेना उन्हें मिले, उसे ले जाकर गांव लूटनेवाले सेनानायकको समर्पण करा दें और उक्त सेनानायककी सेनाका अंश लेकर रातको लौटें और नगर-द्वारपर उच्चस्वरसे कहें कि सेना विजयी होकर लौट आयी है, अब द्वार खोला जा सकता है। जब शत्रुसेना अथवा विश्वासपात्र लोगोंकी आज्ञासे द्वार खोल दिया जाय, तब वे सेनाकी सहायतासे शत्रुको पस्त कर दें। चितेरे, बढ़ई, पाषण्ड, नट, वैदेहक आदि विजिगीषुकी सेनाके ये चार शत्रुके दुर्गके अन्दर ही रहें। कर्षक वा किसानके रूपमें जो चार हों, वे ऐसी गाड़ियोंमें हथियार ले जाकर उन्हें दें, जिनपर ईंधन, घास, अन्न अथवा अन्य पण्य लदा हो तथा देवप्रतिमाओं वा उनकी पताकाओंके रूपमें शस्त्रास्त्र हों, फिर पुजारीके भेसमें शङ्ख और ढोल बजाकर शत्रुको सूचित करें कि घेरनेवाली सेना सबका नाश करनेकी इच्छासे शस्त्रास्त्रसे लैस होकर पीछे पीछे आ रही है। इस समय जो हुल्लड़ मचे, उसमें विजिगीषुके चार जो भीतर हों, वे विजिगीषुकी सेनाको दुर्ग

द्वार और दुर्गकी अट्टालिकाएं सौंप दें अथवा शत्रुकी सेनाको तितर बितर करके उसका पतन करा दें।

जिन राज्योंमें राजा होता है, उनका पराजय करनेमें मन्त्र-युद्धका कैसे अवलम्बन किया जाता है यह ऊपर बताया गया है। अब यह बताना है कि संघ राज्यों अर्थात् जिन राज्योंमें राजा नहीं होता, वे मंत्रबलसे कैसे जीते जा सकते हैं। कोशलके राजा विडूडभने शाक्यसंघको और मगधके राजा अजातशत्रु ने वज्जी संघको मंत्रबलसे जीता था। जैसे, महाभारतमें कहा है कि संघका नाश भेदसे होता है, वैसे ही कौटिल्य कहते हैं कि भेद उत्पन्न करने और बढ़ानेसे काम बनता है। आचार्यका भेस धरकर शास्त्र, कला, द्यूत वा खेलके विषयमें वाद विवादको पारस्परिक वैमनस्यसे बढ़ा देना चाहिये। तीक्ष्ण चार छोटोंकी प्रशंसा भंगड़खानों और रगमंचोंमें करके संघोंके बड़े नेताओंसे उन्हें लड़ा दें अथवा छोटी जातिके राजाओंकी यह कहकर प्रशंसा करें कि आप बड़े कुलीन हैं और इस प्रकार उनमें उच्चाकांक्षा उत्पन्न कर दें। उच्च कुलोंके लोगोंसे कहें कि आप सबके साथ रोटी बेटी सम्बन्धको रोकें अथवा ऊंचे लोगोंसे कहें कि आप सबके साथ रोटी बेटी व्यवहार करें और यह प्रसिद्ध कर दें कि नियम तो यह है कि जन्म, शूरत्व और सामाजिक स्थिति देखकर सामाजिक व्यवहारका निश्चय किया जाय। अथवा तीक्ष्ण चार उनके झगड़ेके कारणस्वरूप वस्तुओं, पशुओं वा मनुष्योंको रातको नष्ट करके उन्हें लड़ा दें। इन सब झगड़ोंमें विजिगीषु निर्बल पक्षको धनजनसे सहायता देकर सबल पक्षसे लड़ा दे। जब उनमें फूट हो जाय, तब उनको देशसे हटाकर अन्यत्र रख दे अथवा अपने ही देशमें खेतीके योग्य भागमें बसा दे। बन्धकीपोषक, नट, नर्त्तक आदि प्रवेश करनेपर संघमुख्यों को अति सुन्दरी स्त्रियां दिखाकर उनमें काम उत्पन्न करे। किसीस्त्री को अन्य पुरुषके पास भिजवा दें अथवा यह बहाना बताकर कि अन्य पुरुष उसे ले गया है, वे उस स्त्रीके प्रेमिकोंको लड़ा दें

संघ राज्य में भेद कैसे उत्पन्न किया जाय ?

और जब दोनो लड़ते हों, तब तीक्ष्ण चार अपना काम बनाकर कहें कि 'इस प्रकार वह अपने प्रेमके कारण मारा गया है।' जो संघमुख्य स्त्रीलोलुप हो, उससे सत्री कहे, 'इस गांवमें एक गरीब घरका मालिक मर गया है। उसकी स्त्री रानी होने योग्य है; उसे छीन लो।' पन्द्रह दिन बाद संघमें सिद्ध व्यंजन उसपर इस प्रकार अभियोग लगावे कि 'यह संघमुख्य मेरी मुख्य भार्या, भार्या, पुत्रवधू, भगिनी वा पुत्रीका बलात्कारसे उपभोग करता है। यदि संघ मुखियेको दंड दे तो विजिगीषु उसका पक्ष लेकर विरोधियोंके सामने खड़ा करे। यदि संघ दंड न दे, तो सिद्धके वेषमें उस दुष्ट पुरुषको तीक्ष्ण पुरुष रातको मार डाले। सिद्धवेषी चार इस प्रकार कोलाहल मचावें कि यह संघमुख्य ब्रह्महत्यारा है और यह ब्राह्मणीके साथ जारकर्म करता है। इस प्रकार जो झगड़े चार पैदा करें, उनमें विजिगीषु सदा हीन पक्षकी सहायता कर अपने अनुकूल बना ले और अवसर आनेपर विरोधी संघके विरुद्ध युद्ध करनेके लिये उसे तैयार करे। यदि वह युद्ध करनेमें असमर्थ हो, तो उसे देशसे निकाल दे। श्रीरामने वालीके विरुद्ध सुग्रीवके हीन पक्षका ही समर्थन किया था। चार बलकी महत्ता यूरोपियन खूब समझते हैं। इसीसे हिटलरने आस्ट्रिया और चेकोस्लैवाकियाको तथा इटलीने अलबानियाको बिना रक्त बहाये ही जीत लिया था।

---

११ धनुर्वेदमें अस्त्रोंका रहस्य

सेनाके सङ्गठनकी चर्चा 'सैन्यव्यवस्था' शीर्षक अध्यायमें हम कर आये हैं और कुरुक्षेत्र युद्धके समय कौरवों और पाण्डवोंकी अक्षौहिणियोंका सङ्गठन भी बता चुके हैं।

वैशम्पायनकी अक्षौहिणीकी संख्या

वैशम्पायनने नीतिप्रकाशिकामें अक्षौहिणीके विषयमें कुछ भिन्न प्रकारकी संख्याएँ दी हैं, जिनके सामने समरकालीन जर्मन सेना भी नगण्य जान पड़ती है; क्योंकि उसमें दो अरबसे ऊपर पदातियोंके अतिरिक्त लाखों घोड़े, रथ और हाथी हैं। नीतिप्रकाशिकाके[1] अनुसार अक्षौहिणीका सङ्गठन इस प्रकार होना चाहिये :—

	रथ	हाथी	घोड़े	पदाति
पत्ति	१	१०	१,०००	१,००,०००
सेनामुख	३	३०	३,०००	३,००,०००
गुल्म	६	६०	६,०००	६,००,०००
गण	२७	२७०	२७,०००	२७,००,०००
वाहिनी	८१	८१०	८१,०००	८१,००,०००
पृतना	२४३	२,४३०	२,४३,०००	२४३,००,०००
चमू	७२६	७,२६०	७,२६,०००	७,२६,००,०००
अनीकिनी	२,१८७	२१,८७०	२१,८७,०००	२१,८७,००,०००
अक्षौ०	२,१,८७०	२१८,७००	२,१,८,७०,०००	२,१८,७०,००,०००

नीतिप्रकाशिकाने राजाको सेनाका सर्वोच्च अधिकारी माना है। इसके नीचे युवराजको रखा है। राजाका वेतन तो नहीं बतया, पर युवराजका ५,००० वर्ष लिखा है। यह वर्ष प्राचीनकालका सुवर्ण नाणक है, जिसका मूल्यनिर्द्धारण असम्भव नहीं, तो कठिन अवश्य है। युवराजके

१ अध्याय ७ श्लोक ६ से ११ और २७ से ३०

सेनाके वेतनकी व्यवस्था

नीचे दण्डनायक वा प्रधान सेनापतिका स्थान है जिसका मासिक वेतन ४००० वर्व है। अतिरथका वेतन ३०००, महारथका २०००, रथी और गजयोधीका १०००, अर्द्धरथका ५०० वर्व, एकरथ और हस्तिचालकका ३०० निष्क है। अश्वबलाध्यक्षका ३००० निष्क, पत्यक्षका २००० निष्क, १००० पदातियोंके नायकका ५०० निष्क, इतने ही सैनिकोंके नायकका १००० निष्क है। जिस नायकके अधीन १०० पत्ति हों और जो घोड़ेपर रहता हो, उसका ७ वर्व और साधारण सैनिकका ५ सुवर्ण रखा है। अतिरथ सबसे बड़ा रथी होता था। इससे छोटा महारथ और इससे नीचे एकरथ होता था तथा इससे नीचे अर्द्धरथका स्थान था। दो अर्द्धरथ एक ही रथपर बैठकर शत्रुओं से लड़ते थे। निम्नलिखित कर्मचारियोंका मासिक वेतन १५।१५ वर्व लिखा है:—हस्तिचालक, सारथी, पताकावाही, चक्राध्यक्ष, ३०० पदातियोंका नायक उष्ट्रचालक, सन्देशवाहक, दौवारिक, मुख्य भाट, मुख्य गायक, मुख्य विरुद-गायक, मुख्य भाण्डागारिक, सेनाको वेतन देनेवाला (बख्शी) और बन्दूकों का अफसर।

वर्म और शस्त्रास्त्रका भी इतिहास है। वर्म मनुष्य ही नहीं, हाथी और घोड़े भी पहनते थे। वर्मके विषयमें कहा गया है कि दक्ष प्रजापतिकी दो कन्याएँ थीं जया और सुप्रभा और दोनों ब्रह्माके मानस पुत्र कृशाश्वको ब्याही थीं। ब्रह्माकी प्रतिज्ञाके अनुसार जया तो सब शस्त्रास्त्रोंकी माता हुई, पर उसकी बहन सुप्रभाके दस पुत्र हुए जो संहार कहलाये और फिर ब्रह्माकी विशेष कृपासे ग्यारहवां पुत्र हुआ जिसका नाम सर्वमोचन हुआ। जयाके पुत्र सामान्य शस्त्रास्त्र थे और सुप्रभाके मंत्रदैव संयुक्त दुराधर्ष और दुरतिक्रम और अत्यन्त बलवान् हुए। सर्वमोचन सबका छुड़ानेवाला था।[1]

जया और सुप्रभा सब शस्त्रास्त्रोंकी माताएं

१ नीतिप्रकाशिका अ० १ श्लो० ४५-४७ अ० २ श्लो० ३८

जैसा पहले कहा जा चुका है, धनुर्वेद यजुर्वेदका उपवेद है। इसे ब्रह्माने पृथुको दिया था। धनुर्वेदको देवताका रूप दिया गया है। इसके चार पैर, आठ वाहु, तीन नेत्र हैं, रक्त वर्ण और चार मुँह हैं तथा सांख्यायन इसका गोत्र है। इसके चारो हाथोंमें वज्र, धनुष और चक्र हैं। चार वाम बाहुओंमें शतघ्नी, गदा, शूल और पट्टिश है। इसका किरीट मंत्र युक्त है, अंग नीति हैं, कंचुक वा वर्म मन्त्र है, उपसंहार हृदय है और शस्त्रास्त्र दोनो कुण्डल हैं। इसके भूषण अनेक वल्गिताकार युद्ध गतियां हैं, नेत्र पीले हैं। यह जयमालासे परिवृत है और वैलपर सवार है। जिस मन्त्रके जपसे शत्रुका नाश और विजय की प्राप्ति होती है, वह इस प्रकार है:—ॐ नमो भगवते धर्म धनुर्वेदाय माम् रक्ष रक्ष मम शत्रून् भक्षय भक्षय हूँ फट् स्वाहा। यह ३२ अक्षरका मंत्र ३२००० बार जपनेसे कार्यसिद्धि होती है। इसका ऋषि ब्रह्म्, छन्द गायत्री देवता महेश्वर और अरिनिग्रहके लिये विनियोग है। [1]

धनुर्वेदका स्वरूप और शत्रुनाशक मंत्र

धनुर्वेद के चार पाद चार प्रकारके अस्त्र हैं यथा मुक्त, अमुक्त, मुक्तामुक्त और मंत्रमुक्त। अग्निपुराण ने पांच प्रकारके अस्त्र माने हैं। धनुर्वेदके प्रथम पाद वा मुक्ताओंमें धनु, इषु (वाण), भिण्डिपाल, शक्ति, द्रुघाण, तोमर, नलिका, लगुड, पाश, चक्र दन्तकण्टक और भुशुण्डी हैं। अमुक्तमें वज्र, ईली, परशु, गोशीर्ष, असिधेनु, लवित्र, आस्तर, कुन्त, स्थूण, प्राश, पिनाक वा त्रिशूल, गदा, मुद्गर, सीर, मुसल, पट्टिश, मौष्टिक, परिघ, मयूखी और शतघ्नी हैं। ये द्वितीय पादमें हैं।

धनुर्वेदके चार पाद

---

१ नीतिप्रकाशिका अ० २ श्लो० ५ से ६।

तृतीय पादमें मुक्तामुक्त अस्त्र हैं जो फेंके जाते हैं और नहीं भी फेंके जाते। इनके दो भेद हैं सोपसंहार और उपसंहार। सोपसंहार वे हैं जो उपसंहारोंको वापस लेते वा रोकते हैं और उपसंहार पूर्वकथित अस्त्रोंको रोकते हैं। सोपसंहार ४४ और उपसंहार ५५ हैं। चतुर्थ पादमें मंत्रमुक्त हैं जो मंत्र पढ़कर चलाये जाते हैं। ये हैं विष्णुचक्र, वज्रास्त्र, ब्रह्मास्त्र, कालपाशक, नारायणास्त्र और पाशुपतास्त्र। पहला विष्णुका, दूसरा इन्द्रका और तीसरा ब्रह्माका अस्त्र, चौथा यमका पाश वा जाल, पांचवां नारायणका और छठा पशुपति वा महादेवका अस्त्र है।[1]

धनुर्वेद जैसा उसके नामसे ही जाना जाता है, धनुषवाणकी महिमाका बखान करता है। धनुषका रूपक यों बताया गया है कि इसकी गर्दन चौड़ी, चेहरा छोटा, कमर पतली और पीठ दृढ़ है।

धनुष और मुक्तास्त्र

यह चार हाथ ऊँचा और तीन स्थानोंमें झुका हुआ है। इसकी जीभ लम्बी और इसके मुंहमें भयङ्कर दांत हैं। इसका वर्ण रक्त है और यह सदा गरटिका शब्द किया करता है। यह आंतोंकी माला पहने है और अपनी जीभसे मुंहके दोनो कोने चाटता रहता है। बायें हाथसे धनुषको झुकाना और दाहिने हाथसे ज्या वा डोरी पकड़नी चाहिये और अंगूठेपर तथा अंगुलियोंके बीचमें धनुषकी पीठपर बाण लगाना चाहिये। धनुषमें दो ज्या वा डोरियाँ साधारणतः लगायी जाती हैं। धनुर्धर बायें हाथमें हस्तघ्न (चमड़ेका दस्ताना) पहनता है और पीठपर तूणीर (तरकश) बांधे रहता है। इषु वा बाणका शरीर काला और ३ हाथ लम्बा होता है। एक अञ्जलि इसका घेरा होता है और यह बहुत दूर जाता है। भिण्डिपालका शरीर टेढ़ा, सिर झुका और चौड़ा होता है। यह एक हाथ होता है और एक हाथका इसका मण्डल होता है। यह तीन बार घुमाकर शत्रुके पैरपर मारा जाता है। भिण्डिपाल चलानेके समय बायां पैर सामने रखना चाहिये।

---

१ नीतिप्रकाशिका अ० २ और ४।

शक्ति दो हाथ लम्बी और इसकी गति तिर्यक् होती है। इसकी जीभ तीक्ष्ण और नख उग्र होते हैं। तथा घंटेकी नाईं इसका भयङ्कर नाद होता है। इसका मुँह खुला होता है। यह बहुत काली और शत्रुके रक्तसे रंगी होती है। अन्तड़ियोंकी मालासे यह लदी होती है। इसका मुंह सिंहका मुह होता है और देखनेमें यह भयङ्कर होती है। मुट्ठीकी भाँति यह चौड़ी होती और दूर तक जाती है। दोनों हाथोंमें उठाकर फेंकी जाती है। द्रुघणका शरीर लोहेका, गर्दन टेढ़ी और सिर चौड़ा होता है। यह ५० अंगुल लम्बा और घेरा एक मुट्ठीका होता है। तोमर तीन हाथ लम्बा होता है। इसका शरीर काठका और सिर धातुका फूलोंके गुच्छेसा होता है। यह टेढ़ा नहीं होता। इसका रंग लाल होता है। नलिकाका शरीर सीधा होता है। इसके अवयव पतले होते हैं और बीचमें यह खाली होती है। यह मर्म स्थानोंको छेद देती है और काली होती है। इसका व्यवहार करनेके समय इसे जलाते हैं। यह निशानेको छेद देती है। इसे कड़ाबीन बन्दूक समझना चाहिये। लगुड़का पाँव छोटा और कन्धा और सिर चौड़े होते हैं। पैरका भाग धातुसे मढ़ा रहता है। यह छोटा, बड़ा चौड़ा और दाँतकी शकलका होता है। इसका शरीर दृढ़ और यह दो हाथ ऊंचा होता है। पाश धातुके बने छोटे अवयवका, तिकोना और घेरेमें एक बित्ता होता है और सीसेके गोलोंसे सजा रहता है। चक्र गोलाकार और मध्यमें चतुष्कोण छिद्रयुक्त होता है। इसका रंग नील जलकी नाईं होता है। दन्तकण्टक धातुनिर्मित काँटा सामने चौड़ा और पीछे पतला होता है। इसका रंग कोयलेका होता है। यह एक बाँह ऊंचा, अच्छे बेंटवाला और सीधा होता है तथा भयङ्कर दिखता है। भुशुण्डी या भुसुण्डी आठ सिरोंवाली गदा होती है। इसकी गांठें और देह चौड़ी होती है और पकड़नेके लिये अच्छा बेंट होता है। यह तीन बांह लम्बी होती है और इसका रंग भयङ्कर विषधर सर्पकासा होता है।

जिन मुक्तास्त्रोंकी चर्चा ऊपर हुई है, उनकी तथा जिन २० अमुक्तास्त्रोंका वर्णन किया जायगा, उनकी मनोरंजक कथा है। इंद्रके वज्रको तो दधीचि की

३२ अस्त्र दधीचिकी ३२ हड्डियां हैं।

हड्डियां सभी जानते हैं, परन्तु यह भी जाननेकी बातहै कि बत्तीसों मुक्तामुक्त अस्त्र दधीचिकी ३२ हड्डियां हैं। जब देवासुरसंग्राममें देवता असुरोंसे हार गये, तो जिस मार्गसे उन्हें भागना पड़ा, उसीके पास दधीचि ऋषि बैठे थे। इन्हें वे अपने अस्त्रादि सौंपकर तबतक भागते चले गये, जब तक मन्दार पर्वत नहीं पहुँचे। इसकी कन्दराओंने उन्हें शरण दी। यहाँ वे बहुत वर्षोंतक इन्द्रको अपना नेता मानकर बने रहे। इस बीचमें मुनिने उनके अस्त्रोंकी भली भाँति रक्षा की। उनकी तपस्याके फलसे वे अस्त्र मेख बनकर उनके शरीरमें पहुंचकर हड्डियोंमें परिवर्तित हो गये। बहुत समय बीतनेपर देवताओंने फिर असुरोंसे लड़नेका विचार किया और ब्रह्मासे सहायताकी प्रार्थना की। ब्रह्माने उन्हें धनुर्वेदका उपदेश दिया। अब देवता दधीचिसे अपने अस्त्रादि माँगने गये। दधीचिने कहा कि हमें स्वर्गमें स्थान मिले, तो हम वे अस्त्र देनेको तैयार हैं, चाहे हमारी जानपर ही क्यों न बीते। जब यह प्रार्थना स्वीकार कर ली गयी, तब दधीचिने कहा कि एक गाय ले आओ, जो हमारी देह चाटे जिसमें तुम्हारे अस्त्र रूपी हमारी अस्थियाँ खुल जाँय। ऐसा करनेपर दधीचिकी ३१ हड्डियोंसे ३१ अस्त्र निकले और ३२ वीं हड्डी रीढ़ इन्द्रका वज्र बनी। इन ३२ अस्त्रोंसे देवताओंने असुरोंसे युद्ध करके उन्हें हरा दिया। दधीचिकी देह चाटकर गाय ब्रह्महत्याका कारण बनी, इस लिये अबतक गायका मूत्र और गोबर तो पवित्र माने जाते हैं, पर मुँह अपवित्र समझा जाता है।[1] बत्तीसों मुक्तामुक्त अस्त्रोंकी उत्पत्तिका यह इतिहास है।

---

१. गोमुखं ब्रह्महत्यापि विवेश नृपसत्तम।
देवसन्तोषणात् लोकान् शाश्वतान् स ऋषिर्ययौ ॥ ५४॥
तदा प्रभृति लोका वै न पश्यन्तीह गोमुखम्।
प्रातः पुरुषशार्दूल तद्दोषगतमानसाः ॥ ५५ ॥

नीतिप्रकाशिका अ० २

मुक्तास्त्रोंका वर्णन ऊपर हो चुका है, इसलिये अब नीतिप्रकाशिकाके अनुसार ही अमुक्तास्त्रोंका वर्णन किया जाता है। अमुक्तास्त्रोंमें सर्व प्रथम वज्र है, जो वृत्रासुरके वधार्थ निर्मित हुआ था। यह कोटिसूर्यसमप्रभ है और प्रलयाग्निके समान प्रकाशमान् है। इसकी दाढ़ें १० योजन लम्बी और जीभ अत्यन्त भयंकर है। यह प्रलयकी कालरात्रिके समान है और १०० गांठोंसे आच्छादित है। इसकी लम्बाई १० योजन और चौड़ाई ५ योजन है। इसका घेरा तीक्ष्ण नोकोंसे ढका है। रंगमें यह बिजलीके समान है। इसमें चौड़ा और सुदृढ़ बेंट लगा रहता है। इली दो हाथ लम्बी छोटी तलवार काले रंगकी और बिना मूठकी होती है। धारका सामनेका भाग टेढ़ा होता है और पाँच अंगुल चौड़ा होता है। परशु वा फरसा पतली छड़ीकी तरह चौड़े मुँहका होता है। चेहरा चमकता और अर्द्धचन्द्राकार तथा शरीर मैला होता है। यह एक हाथ लम्बा होता है। गोशीर्ष दो फुट लबा होता है। इसका ऊपरी भाग लोहेका और निचला भाग लकड़ीका होता है। इसमें धार होती है और यह मैले और धातके रंगका होता है। इसके तीन शीर्ष होते हैं और अच्छी मूठ होती है। यह १६ अंगुल ऊँचा और सामने तेज तथा बीचमें चौड़ा होता है। असिधेनु कटार है। यह एक हाथ लम्बी, काले रंगकी, तीन किनारोंकी तथा दो अंगुल चौड़ी होती है। मूठमें हाथके बचावकी व्यवस्था नहीं होती। कमरबन्दसे लटकती रहती है। यह खड्गकी बहन है और पासकी लड़ाईमें काम आती है। राजा इसे लटकाये रहते हैं। लवित्र वाँ हँसुएकी शकल टेढ़ी होती है। यह पीछेकी ओर चौड़ा और तेज, काले रंगका, पाँच अंगुल चौड़ा और डेढ़ हाथ ऊँचा होता है। इसका बेंट चौड़ा होता और भैंसोंको यह टुकड़े टुकड़े कर डालता है। यह दोनों हाथोंसे उठाकर फेंका जाता है। आस्तरके पैरमें गांठ होती है और इसका सिर लम्बा होता है। यह एक हाथ चौड़ा, दो हाथ लम्बा, काले रंगका होता और इसका बीचका भाग एक हाथ तक झुका रहता है। यह रथियों और पैदलोंके लिये अच्छा अस्त्र है। कुन्त वा भाला लोहेका होता है। इसका सिरा तीक्ष्ण

अमुक्तास्त्रोंका वर्णन

होता है और इसके छः किनारे होते हैं। यह ६ या १० हाथ ऊँचा होता है और पैरके सिरेमें गोल होता है। स्थूण वा निहाईका रंग लाल होता है और पासपास उसमें कई गाँठें होती हैं। वह मनुष्य बराबर ऊँची और सीधी होती है। वह घुमाकर मारी जाती और शत्रुको नीचे गिरा देती है। प्राश वा बर्छी सात हाथ लम्बी और लाल रंगे हुए वांसकी होती है। इसके सिरे पर धात लगी रहती है और पैरकी ओर यह तेज रहती है। इसपर रेशमी कलगी लगी रहती है। पिनाक वा त्रिशूल तीन सिरोंका होता है। सामने तीक्ष्ण होता है। इसका शरीर कांसेका और सिर लोहेके होते हैं और यह चार हाथ लम्बा होता है। इसपर रीछके बालोंकी कलगी होती है और गर्दनमें पीतलके जोशन पड़े रहते हैं। यह शत्रुको सूलीपर चढ़ा देता है। गदा तीक्ष्ण लोहेकी होती है और इसके चौड़े सिरपर सौ कीलें वा मेखें लगी रहती हैं। बगलोंमें भी मेखें रहती हैं। यह चार हाथ लम्बा भयानक अस्त्र होता है। इसका काय रथके अक्षके बराबर होता है। सिरपर कलगी रहती है। यह सुनहले कटिबन्धसे ढकी रहती है तथा हाथियों और पहाड़ोंको कुचल सकती है। बारूदके सहारे भी यह चलायी जाती है। मुद्गर वा सूक्ष्मपाद पैरकी ओर छोटा, हीनशीर्ष और तीन हाथका होता है। इसका रंग मधु सदृश, कन्धा चौड़ा और यह आठ भार भारी होता है। इसकी मूठ अच्छी होती है और यह गोल काले रंगका तथा एक हाथ घेरेका होता है। यह घुमाया जाता है और भूमिपर वस्तुओंको गिरा देता है। सीर वा हल दो ओरसे टेढ़ा होता है। इसके सामने लोहेका पत्र रहता है और जिनसे इसका संघर्ष होता है, उन वस्तुओंको चूर कर देता है। मनुष्यके समान इसकी उँचाई होती है, रंग अच्छा होता है और जब बहुत खींचा जाता है, तब मनुष्यों और वस्तुओंको भूमिपर गिरा देता है। मुसल या मूसलके सिर, आँख, हाथ, पैर कुछ नहीं होते। वह दोनो सिरोंपर जुड़ा रहता है और शत्रुओंको गिराता और कुचलता है। पट्टिश तब्बल या कुल्हाड़ा है, जो आदमीके बराबर ऊँचा होता है, जिसकी दो तेज धारें होती हैं। इसके बेंटमें हाथके बचावकी व्यवस्था रहती है। यह तलवारका सगा भाई कहाता है। मौष्टिककी मूठ अच्छी होती है। यह एक

त्तिा लम्बा और अलंकृत होता है। इसका किनारा तेज, गर्दन ऊँची, बीचमें चौड़ा और काले रंगका होता है। वैशम्पायनने इसकी बड़ी प्रशंसा की है। इसे भोंकनेवाला बड़ा छुरा समझना चाहिये। परिघ वर्तुलाकार ताड़के पेड़की नाईं लम्बा अच्छी लकड़ीका होता है और इससे काम लेनेको पलटनसी लगानी पड़ती है। मयूखी आदमीकी तरह ऊँची लकड़ी होती है, जिसमें मूठ भी होती है। इसमें घंटियाँ लगी रहती हैं, जो कई रंगोंकी दिखती हैं और इसके साथ मित्ररूपमें ढाल रहती है। यह चोट पहुँचाने, मार डालने, छुड़ाने, चोट बचाने और वार करनेके काममें आती है। शतघ्नीमें कांटे होते हैं और यह काले लोहेकी और कड़ी होती है। वैशम्पायनके मतसे, यह गदाके समान होती और गदाकी भाँति ही अन्य यंत्रद्वारा फेंकी जाती थी। यह मुगदरसी जान पड़ती है, वर्तुलाकार और मूठदार होती है।

मुक्त और अमुक्त अस्त्रोंमें असि वा खड्गका नाम नहीं आया, यद्यपि असि अमुक्तास्त्र ही है। इसका कारण यह है कि खड्गकी उत्पति भिन्न प्रकारसे हुई है। कहते हैं कि जब देवासुर संग्राम हो रहा था, तब ब्रह्माके द्वारा हिमालय पर्वतपर असिदेवता प्रकट हुए, जिनके प्रकाशसे सारा आकाश जगमगा उठा और पृथ्वी काँपने लगी। इस प्रकार प्रबल पराक्रमी असुरोंसे विश्वका उद्धार करनेके लिये ब्रह्माने खड्गका आविर्भाव किया। वह ५० अंगुल लम्बा और ४ अंगुल चौड़ा था और ब्रह्माने उसे रुद्रको सौंपा। जब रुद्र इसका उपयोग कर चुके, तब उन्होंने विष्णुको दिया और इन्होंने मरीचि आदि ऋषियोंको दिया। ऋषभ ऋषिने इसे इन्द्रको दिया। इन्द्रने दिक्पालोंको दिया और इन्होंने वैवस्वत मनुको दुष्टोंको दण्ड और न्यायमें सहायता देनेके लिये दिया। उस समयसे यह मनुके वंशमें है। खड्गका नक्षत्र कृत्तिका है, देवता अग्नि, गोत्र रोहिणी और परम दैवत रुद्र है। निस्त्रिंशके अतिरिक्त इसके नाम असि, विशसन, खड्ग, तीक्ष्णधर्म, दुरासद, श्रीगर्भ, विजय और धर्ममूल हैं। ३२ प्रकारसे उसका प्रयोग होता है और बायीं ओर वह लटकाया जाता है।

खड्ग अमुक्तास्त्र ही है।

मुक्तामुक्तास्त्रोंमें ४४ सोपसंहारोंके ये नाम हैं :—दण्डचक्र, धर्मचक्र, कालचक्र, ऐन्द्रचक्र, शूलवर, ब्रह्मशीर्ष; मोदकी, शिखरी, धर्मपाश, वरुण-पाश, पैनाकास्त्र, वायव्य, शुष्क, आर्द्र, शिखरास्त्र, क्रौञ्चास्त्र, हयशीर्ष, विद्यास्त्र, अविद्यास्त्र, गन्धर्वास्त्र, नन्दनास्त्र, वर्षण, शोषण, प्रस्वापन, प्रशमन, सन्तापन, विलापन, मथन, मानवास्त्र, सामन, तामस, संवर्त्त, मौस, सत्य, सौर, मायास्त्र, त्वाष्ट्र, सोमास्त्र, संहार, मानस, नागास्त्र, गरुडास्त्र, शैलास्त्र और इषीकास्त्र। ५४ उपसंहार अस्त्रोंमें ये हैं :—सत्यवान्, सत्यकीर्ति, रभस, धृष्ट, प्रतिहार, अवाङ्मुख, पराङ्मुख दृढनाभ, अलक्ष्य, लक्ष्य, आविल, सुनाभक, दशाक्ष, शतवक्त्र, दशशीर्ष, शतोदर, धर्मनाभ, महानाभ, दुन्दुनाभ, नाभक, ज्योतिष, विमल, नैराश्य, कर्षण, योगन्धर, सनिद्र, दैत्य, प्रमथन, सारचिरमाला, धृति, माली, वृत्तिम, रुचिर, पित्र्य, सुमनस, विधूत, मकर, करवीर, धनरति, धान्य, कामरूपक, जृम्भक, आवरण, मोह, कामरुचि, वारुण, सर्वदमन, सन्धान, सर्पनाथक, कङ्कालास्त्र, मौसलास्त्र, कापालास्त्र, कङ्कण और पैशाचास्त्र।

सोपसंहार और उपसंहार

धनुर्वेदके चतुर्थपादके अस्त्र मंत्रमुक्त कहाते हैं। इनकी संख्या ६ ही है ये मंत्र पढ़कर चलाये जाते हैं। इनके नाम हैं विष्णुचक्र, वज्रास्त्र, कालपाशक, नारायणास्त्र और पाशुपतास्त्र। मुक्तामुक्त और मंत्रमुक्त अस्त्रोंके विषयमें विशेष जानना कठिन हैं। इन सोपसंहार और उपसंहार अस्त्रोंका वर्णन रामायण वालकांडके २६ वें और ३० वें सर्गोंमें भी है और इन्हींका ज्ञान विश्वामित्रने राम लक्ष्मणको दिया था।

मंत्रमुक्तास्त्र

शुक्रनीतिसारमें तोप (वृहन्नालिका) और बन्दूक (लघुनालिका) जैसे आग्नेयास्त्रों तथा बारूद वा अग्निचूर्णका वर्णन मिलता ही है, परन्तु इस

तोपबन्दूककों और गोलीबारूदका वर्णन

ग्रंथकी प्राचीनता सन्दिग्ध है। इसलिये यह कहा नहीं जा सकता कि हमारे देशमें प्राचीन कालमें इनका प्रचार था या नहीं, परन्तु कामन्दकीय नीतिसारमें भी बन्दूकका वर्णन मिलनेसे यह मानना पड़ता है कि ईस्वी सन्‌के आरम्भमें यहाँ गोली बारूदसे काम लिया जाता था; क्योंकि ईस्वी-चौथे शतकमें यहाँसे नीतिसार बालीद्वीप गया था। इस कामन्दकीय नीतिसारमें लिखा है कि जब राजा मदिरापान, स्त्रियों और जुएकी गोष्ठियोंमें प्रमत्त हो गया हो, तब गुप्त दूतोंको चाहिये कि गोलियाँ दागने आदि उपायों द्वारा उसे सावधान करते रहें[1]। वैशम्पायनकी नीतिप्रकाशिका कामन्दकीय नीतिसारसे भी प्राचीनतर ग्रंथ है; और जब हम देखते हैं कि उसमें लोहे-सीसोंके यंत्रों और गोलियोंके फेंकनेका[2] स्पष्ट वर्णन है, तब भारतमें प्राचीन कालसे इनके अस्तित्वमें शङ्का कैसे की जा सकती है?[3] और राजलक्ष्मीनारायणहृदयमें, जो अथर्वणरहस्य है, जब बारूदके योगका स्पष्ट उल्लेख मिलता है, तब तो गोली बारूदके विषयमें हिन्दुओंका ज्ञान कितना प्राचीन है यह सहज ही समझमें आ जाता है यह अथर्वणरहस्य राजलक्ष्मीनारायणहृदय अथर्ववेदके समान प्राचीन न होनेपर भी वर्तमान नीति ग्रंथोंसे प्राचीन अवश्य है। इसमें बतायागया है कि जिस प्रकार कोयले, गन्धक आदिके योगसे बनानेवालेकी चतुरतासे आग पैदा होती है, वैसे ही मेरी भक्तिके चैतन्य रूपमें योग होनेसे हे लक्ष्मीजी, तुम

---

१ पानस्त्रीद्यूतगोष्ठीषु राजानमभितश्चराः।
बोधयेयुः प्रमाद्यन्तमुपायैर्नालिकादिभिः ॥५२॥ सर्ग ५

२ यंत्राणि लोहसीसानां गुलिकाक्षेपणानि च।
तथा चोपलयंत्राणि कृत्रिमाण्यपराणि च ॥५२॥ अ० ५

३ परन्तु पं० जवाहरलाल नेहरूने Discovery of India नामकी पुस्तकमें लिखा है कि बारूदका आविष्कार चीनियोंने किया है!

शीघ्र मेरी कांक्षा पूरी करो।[1] हम पहले कह आये हैं कि सिकन्दरी युद्धोंमें आग्नेयास्त्रोंके प्रयोगका पता नहीं लगता, परन्तु डा० गस्टव ओपर्टने अपने ग्रन्थमें[2] लिखा है कि क्रिटस कर्टियसके लेखोंके एक अंशसे जाना जाता है कि सिकन्दरको भारतमें आग्नेयास्त्रोंका भी सामना करना पड़ा था, यद्यपि धर्मयुद्धमें इनके प्रयोगका निषेध होनेसे इनका व्यवहार बहुत कम देखा गया है। रामायण और महाभारतमें भी आग्नेयास्त्रोंका वर्णन पाया जाता है।

वारूदकी जन्म-भूमि भारत

डा० गस्टव ओपर्टका दृढ़ मत है कि भारत ही तोप-बन्दूक और गोली-बारूदका जन्मस्थान है। उन्होंने हमारे प्राचीन ग्रंथोंके आधारपर ही नहीं, शिल्पकलाके उदाहरणोंद्वाराभी सिद्ध किया है कि भारतमें बंदूक और बारूद बनानेका ज्ञान लोगोंको प्राचीन कालसे ही है। बारूद बनानेमें जिन तीन पदार्थोंका योग होता है, वे हैं शोरा, गंधक और कोयला और ये सभी यथेष्ठ मात्रामें यहाँ मिलते हैं। शोरा भारत, मिस्र और अमेरिका में ही प्राकृतिक रूपमें मिलता है। यह दीवारोंमें लगे नोनेसे तैयार किया जाता है और शोरा इस देशसे बहुत अधिक मात्रामें विदेशोंको भेजा भी जाता था और है। यह औषधिके काममें भी आता है, विशेषकर अनपचको दूर करता है। गंधक भी यहाँ अधिकतर सिंधु प्रदेशमें पाया जाता है। यह भी औषधि है। तीसरा पदार्थ कोयला है। अर्क वा अकौड़े अथवा मदारका कोयला ही बारूद बनानेके काममें आता है। अकौड़ेका

---

१ इङ्गालगन्धादिपदार्थयोगात्, कर्त्तुंमनाषानुगुणा यथाग्निः।
चैतन्यरूपे मम भक्तियोगात् कांक्षानुरूपं भज रूपमाशु॥

राजलक्ष्मीनारायणहृदय

२ On the Weapons, Army Organization and Political Maxims of the Ancient Hindus by Gustav Oppert Ph. D. p. 69,

प्रयोग भी औषधिके लिये होता है और अच्छा इस्पात बनानेमें भी यह सहायक होता है। स्नुही वा स्नुहका कोयला भी अकौड़ेकी तरह ही काम देता है। यही गुण लहसुनके कायलेमें भी है। शुक्रनीतिसारके अनुसार बारूद बनानेके लिये ५ भाग शोरेमें १ भाग कोयला और १ भाग गंधक मिलाना चाहिये। शोरा ५ भागके बदले ४ वा ६ भाग भी किया जा सकता है। भारतमें आतिशबाजी और पटाके विशेष उत्सवोंपर छुड़ानेकी चाल बहुत पुरानी है, इससे भी भारत बारूदकी जन्मभूमि प्रमाणित होता है।

डा० गस्टव ओपर्टने मधुरा जिलेके रामनद स्थानसे उत्तर कुछ ही दूर पर तिरूपल्लाणिमें आदि जगन्नाथके मंदिरके बाहर पत्थरके मण्डपपर कुछ सैनिकोंकी मूर्तियाँ खुदी देखी हैं। इन सिपाहियों के हाथों में उन्हें छोटी बंदूकें दिखायी दी हैं। इनकी वर्दी भी विचित्र है, क्योंकि इनके कमरबंदोंमें घंटियाँ लगी हुई हैं। इनके पैरोंमें चप्पल और सिरोंपर विचित्र टोपियाँ हैं। कुम्भकोणम्‌में शार्ङ्गपाणिके ११ तल्लेवाले मंदिरके ५ वें तल्ले में डा० गस्टव ओपर्टने देखा है कि रथपर एक राजा बैठा है जिसके सामने दो सिपाही छोटी बंदूकें लिये खड़े हैं जो पिस्तौल-सी जान पड़ती हैं। यह मंदिर ५०० वर्षसे कमका बना नहीं है। काञ्चीमें लक्ष्मीकुमार ताताचार्यका शतस्तम्भ मण्डप है जो चतुष्कोण है। उत्तरकी ओर जो चौथा स्तम्भ है, पश्चिमकी ओरसे आनेपर जान पड़ता है कि एक मोटा पत्थर काटकर उसमें सैनिकोंका युद्ध दिखाया गया है। इनके हाथोंमें बंदूकें हैं। यह मण्डप सन् १६२४ में बना था। तंजोरके मंदिरके घेरेके भीतर स्वर्ग एकादशी फाटकके पत्थरके सामने सिपाहियोंकी मूर्तियाँ छोटी कड़ाबीनें लिये हुए काटी गयी हैं। कोयम्बट्टूरसे कुछ ही मीलपर पेरारमें एक प्रसिद्ध शिवालय है और इसके पास ही सुंदर सभामण्डप है। इसके चौड़े आधारपर एक सैनिक हाथमें बंदूक लिये खड़ा है। इस स्थापत्य शिल्पसे सिद्ध है कि बंदूक

मन्दिरोंकी मूर्त्तियाँ प्रमाण दे रही हैं।

वा आग्नेयास्त्रका व्यवहार भारतमें बहुत प्राचीन समयसे होता है। इसके विपरीत यूरोपमें १४ वीं ईस्वी शताब्दीसे पहले बारूद पहुँची ही नहीं थी।

---

१२ तूष्णीम् युद्ध और गैस आदि

धर्म-युद्ध, कूट-युद्ध और तूष्णीम्-युद्ध इन युद्ध-भेदोंका उल्लेख मात्र पहले किया गया है। धर्म-युद्ध तो युद्धके मनुष्योचित दया, क्षमा, आदि नियमोंसे होता है; पर कूट-युद्धमें येन केन प्रकारेण छल-बलसे शत्रु को पराजित करना ही अभीष्ट होता है। तूष्णीम्-युद्ध इन दोनोसे विलक्षण है। तूष्णीम्का अर्थ है, चुपचाप। यह 'तुष' और 'नीम्' से बना है। तुषका अर्थ प्रसन्न रखना और 'नीम' का है बहुत समयतक। इस प्रकार तूष्णीम्का अर्थ हुआ कि शत्रुको धोखेमें रखना और उसे अपना अभिप्राय न जानने देना। यह अँग्रेजीका war of nerves वा cold war भी कहा जा सकता है।

तूष्णीम् युद्ध

जैसे धर्म और कूट-युद्धोंके व्यापारमें शस्त्रास्त्रों और आग्नेयास्त्रों—तोप, बन्दूक, गोला, गोली, बारूद आदिका प्रयोग होता है और इनकी मारसे अपना बचाव करनेके लिये सैनिकों और हाथी घोड़ोंको वर्मकवच आदि पहनाये जाते हैं, वैसे ही तूष्णीम्युद्धसे बचावका कोई बढ़िया उपाय नहीं है। तूष्णीम्युद्धमें चरोंके द्वारा शत्रुपर प्रहार किया जाता है और मंत्रौषधसे उसे नष्ट करनेका उद्योग किया जाता है। इन मंत्रौषधोंका वर्णन कौटिल्यने अर्थशास्त्रके चौदहवें अधिकरणमें औपनिषदिक नामसे किया है। इसमें चार अध्याय हैं। पहले अध्यायमें 'परघातप्रयोग' वा शत्रुको मार डालनेके लिये मन्त्रों और औषधोंका योग है, दूसरे अध्यायमें 'प्रलम्भनमें अद्भुतोत्पादन', तीसरे में 'भैषज्यमन्त्र प्रयोग' और चौथेमें इन प्रयोगोंका प्रतीकार बताया गया है। प्रलम्भनका अर्थ धोखा देना है। धोखा दो प्रकारसे दिया जा सकता है एक अद्भुत दृश्य उत्पन्न करके और दूसरे मन्त्रौषधके प्रयोग से। इनमें पहला आजकलके युद्धों में प्रयुक्त camauflage ही समझना चाहिये।

औपनिषदिकका रहस्य

प्रथम महासमरमें गैसका कुछ प्रयोग किया गया था, पर अधिक कदाचित् इसलिये नहीं किया गया कि इससे नर-संहार अधिक होता अथवा यह भय था कि शत्रु के पास भी गैसके प्रयोग के साधन हैं। परन्तु दूसरे महासमरमें हवाई जहाजोंसे बम गिराकर तथा जापानके हीरोशिमा और नागासाकीपर ऐटम बम चलाकर सैनिकोंकी अपेक्षा असैनिकोंमें त्रास उत्पन्न करनेका ही प्रयत्न किया गया था। कौटिल्यने बताया है कि गूढ़ पुरुषोंद्वारा शत्रुके वस्त्रालङ्कारादिमें विषका संसर्ग करा देने अथवा कई औषधों और चिड़ियों, कीड़ों, जानवरों आदिके चूर्णका धुआँ देनेसे लोग मर जाते हैं। बताये हुए कई कीड़ोंमें एक कीड़ेको अग्निमें तपाकर यदि वह किसीको सुंघा दिया जाय तो उसका शरीर सूख जाता है और काले सांप और काँगनीके साथ इसका योग कर दिया जाय, तो यह प्राण हर लेता है। शत्रुको मारनेके कई प्रयोग बताकर उसे अन्धा कर देनेके दो प्रयोग भी बताये गये हैं। साथ ही यह भी कहा गया है कि इसका प्रयोग करनेवाले अपनी आखोंका प्रतिकार करके ही प्रयोग करें, नहीं तो वे भी अन्धे हो जायँगे। एक योग ऐसा बताया गया है, जिसका धुआँ जहाँतक फैलता है वहाँतक लोग मर जाते हैं। ऐसे प्रयोगसे जल दूषित भी होता है। लोगोंमें भ्रम उत्पन्न करनेके लिये 'मदनयोग' बताया गया है, जिससे पशुओंका चारा, ईंधन और जल भी दूषित होता है। एक योगसे मनुष्य अन्धा तथा पागल बनाया जा सकता है। क्षय रोग और ज्वर उत्पन्न करनेके योग भी बताये गये हैं। सम्भवतः इन योगोंसे रोगोंके कीटाणु उत्पन्न होते हैं।

मारक और रोगाणु उत्पन्न करनेवाले प्रयोग

शत्रु सेनाको नष्ट करनेके लिये कौटिल्यने एक विचित्र उपाय बताया है। कई औषधोंके योगसे विदग्ध बाण तैयार किया जाता है। इससे जिसका जिसका शरीर विद्ध होता है, वह किन्हीं दस पुरुषोंको काट लेता है और फिर ये दस दस पुरुषोंको काटते हैं जिससे विष फैल जाता है। एक दंशयोग और है

दंशयोग

जिसमें वाणका प्रयोजन नहीं होता । जलाशयको दूषित कर देनेसे मछलियां इसी प्रकार काटने लगती हैं । इसके जलको पीने वा छूनेवाला भी विषयुक्त हो जाता है ।

कौटिल्यने एक ऐसी आग पैदा करनेका योग बताया है जिससे दुर्गमें आग लग जाय, तो उसका प्रतिकार हो ही नहीं सकता । कुछ मन्त्र भी बताये हैं, जिनको पढ़कर विशेष प्रकारकी सामग्रियोंसे हवन करनेसे ऐसी आग उत्पन्न होती है, जिसका प्रतिकार शत्रु किसी प्रकार कर ही नहीं सकता । इस अग्निमें एक विशेषता भी है और वह यह कि अप्रतिकार्य तो है ही, इसको देखने मात्रसे शत्रु मूढ़ हो जाता है अर्थात् उसकी विवेक बुद्धि नष्ट हो जाती है ।

दुर्ग आदि जलाने और शत्रुको मूढ़ बनानेके योग

विश्वामित्रने रामलक्ष्मणको सोपसंहार और उपसंहार अस्त्र ही नहीं दिये थे, उन्हें ऐसे योग भी बताये थे जिनसे भूख प्यास नहीं लगती थी । हमारे आचार्य कौटिल्यने अद्भुतोत्पादनमें ऐसे योग बताये हैं, जिनके प्रयोगसे मनुष्यको १५-१५ दिनों तक भूख नहीं लगती और वह महीनेभरतक उपवास कर सकता है । मनुष्यका सब शरीर श्वेत हो जाय; इसके छ योग बताये हैं । बाल श्वेत हो जायं इसका एक योग कहा है । यह श्वेतीकरण योग श्वेतकुष्ट कारक जान पड़ता है, क्योंकि आगे चलकर कुष्टकारक तीन प्रयोग कहकर चिरौंजीके काढ़ेसे इसका प्रतीकार बताया है । गोरे बननेका एक और काले बननेके दो प्रयोग बताये हैं । यह भी कहा है कि जुगनूका चूर्ण सरसोंके तेलमें मिलानेसे रातको जलने लगता है । शरीरके चमकानेके सिवा शरीरके जलानेका भी प्रयोग बताया है जिसके मलनेसे विना किसी पीड़ाके अग्नि प्रज्वालन किया जा सकता है । कई प्रयोग ऐसे हैं जिनमें शरीर विना अग्निके संसर्गके जलने लगता है और कई ऐसे हैं जिन्हें जलानेके लिये अग्निका संसर्ग आवश्यक होता है ।

भूख न लगना, रोग उत्पन्न करना, काला गोरा बनाना, आग जलाना आदि

सुना जाता है कि कोई साधू जलती आगपर ऐसा चलता था, जैसे कोई फूलोंपर चलता हो। यह आश्चर्यकी बात है। पर कौटिल्यने बताया है कि नीम, खरेटी, वञ्जुल, थूहर और कदलीकी जड़ोंका कल्क बनाकर मेंढककी चर्बीके साथ तेल मिलाकर पैरोंमें मनुष्य मल ले, तो अंगारोंपर चल सकता है। प्रायः ऐसा ही दूसरा योग है जिसको धुले पावोंपर मलकर आगपर वैसे ही चल सकता हैं, जैसे फूलोंके ढेरपर। मुँहसे आग

शत्रुको बेचैन करने के योग

और धुआँ निकालने, वर्षा और आँधीमें भी आग जलती रहनेके योग लिखकर बताया है कि पानीमें तैरते रहनेपर लगी आग कैसे नहीं बुझती। यही नहीं, कभी आग पानीके संसर्गसे और भी भभकने लगती है। ऐसा भी प्रयोग बताया गया है कि दूसरी आग जल ही न सके। कितने ही लोग जञ्जीर वा सांकल तोड़ देते हैं जिसे देखकर लोगोंको अचरज होता है, परन्तु कौटिल्यने जंजीर तोड़नेका भी योग बताया है। ऐसा योग भी बताया है जिसके प्रयोगसे मनुष्य बिना थकावटके १०० योजन वा ४०० कोस चल सकता है।

तीसरे अध्यायके विषय

तीसरे अध्यायमें अंधेरेमें सब वस्तुएँ देखने, सबके सामने विचरण करनेपर भी अपनेको कोई न देख सके, रूप ही नहीं अपनी छाया भी किसीको न दिखायी दे, ऐसे योग बताये हैं। पशुओंको अन्तर्धान करनेके आठ योग और सबको सुला देनेवाले चार योगोंका वर्णन किया गया है। किवाड़ तोड़ने, ताला खोलने और लोगोंको सुलानेके मन्त्र दिये गये हैं, नासिका और मुँह बन्द करने, मल रोकने, शत्रुको अंधा बना देने, आदमीको सुखाकर मार डालने, उसकी आजीविका नष्ट करने, किसी पुरुषको तीन सप्ताह वा डेढ़ महीनेमें स्त्री-पुत्र सहित मार देने और औषधको स्पर्श कराके तत्काल मार देने, किसी को अपुरुप बना देने, दो बैलोंकी गाड़ी मंगा लेने, अपने खाद्य पदार्थोंको क्षीण न होने देने, अपने ही घड़ेमें गाँव भरका मक्खन मँगा लेने, वृक्षोंके फलोंको बुलाने आदिके मंत्रों और योगोंका वर्णन है। इस अध्याय के अन्तमें आचार्य कौटिल्यने लिखा

है कि मंत्रों और औषधियोंसे युक्त जिन योगोंका और मायायुक्त जिन योगोंका निरूपण किया गया है उनसे विजिगीषु शत्रुका नाश और स्वजनों-की परिपालना करे।

---

१३ षाड्गुण्य

शम और व्यायामसे योगक्षेमकी और षाड्गुण्यसे शम और व्यायामकी उत्पत्ति होती है। दुर्गनिर्माण तथा सन्धि आदि कार्योंमें आनेवाले विघ्नोंके नाशका साधन शम और उन कार्योंपर उपकरण सहित योग्य पुरुषोंकी नियुक्ति व्यायाम है। अप्राप्त धनादिका सम्पादन योग और प्राप्तका संरक्षण क्षेम कहाता है। सन्धि, विग्रह, यान, आसन, संश्रय और द्वैधीभावको षाड्गुण्य कहते हैं। षाड्गुण्य परराष्ट्र-नीति वा फारेन पालिसीका आधार है अथवा वह युद्धनीति है। वृद्धि (उन्नति) क्षय (अवनति) और स्थान (समान स्थिति) ये तीनों षाड्गुण्यके फल हैं। ये फल दो प्रकारके कर्मोंसे प्राप्त होते हैं दैव और मानुष। धर्म और अधर्म रूप अदृष्टसे कराया कर्म दैव और मंत्रशक्ति, प्रभुशक्ति तथा उत्साह-शक्तिसे होनेवाला कर्म मानुष कर्म कहाता है। दैव कर्मसे वाञ्छित फलका योग अय और अवांछित फलका योग अनय है। इसी प्रकार मानुष कर्मसे यदि योग क्षेमकी सिद्धि हो जाय तो वह नय और विपत्ति आ जाय, तो अपनय है। योगक्षेमकी सिद्धिके लिये और असिद्धिके प्रतिकारके लिये राजनीतिमें मानुष कर्मका ही विचार किया जाता है।

शम, व्यायाम, योगक्षेम और षाड्गुण्य

दो राजाओंका किन्हीं पणों वा शर्तोंपर मेल pact 'सन्धि' है। किसी राजाका कोई अपकार करना 'विग्रह' (hostile act) है। सन्धि विग्रह न करके उपेक्षा करना 'आसन' तथा शक्ति आदिकी अधिकता यानका कारण होनेसे यान (चढ़ाई) वा सवारी है। बलवान् राजाको आत्मसमर्पण करना 'संश्रय' और एकसे सन्धि तथा दूसरेसे विग्रह करना द्वैधीभाव है। जर्मनीने रूससे सन्धि करके पोलैंड और उसके मित्रोंसे विग्रह किया, इसलिये उसका कार्य द्वैधीभाव

षाड्गुण्य क्या है ?

समझा जायगा। अपने राज्यकी सातों प्रकृतियाँ और राजमण्डल षाड्गुण्यके कारण हैं।

अपने गुणोंसे युक्त तथा परस्परको सहायता और अपने अपने कर्मोंमें लगी हुई राज्यकी सातों प्रकृतियां 'राजसम्पत्ति' कहाती हैं। वाग्मी (अर्थपूर्ण भषाणमें समर्थ), प्रगल्भ (निडर), स्मृति, मति तथा बलसे युक्त, उन्नतचित्त, संयमी, हाथी, घोड़े आदि चलानेमें चतुर शत्रुकी विपत्तिमें चढ़ाई करनेवाला, किसीके अपकार वा उपकारका शास्त्रानुसार प्रतिकार करनेवाला, लज्जाशील, दुर्भिक्ष और सुभिक्षमें धान्य आदिका ठीक ठीक विनियोग करनेवाला, दीर्घ और दूरदर्शी, अपनी सेनाके युद्धोचित देशकाल, उत्साहशक्ति तथा कार्यको प्रधान रूपसे देखनेवाला, सन्धिके प्रयोगको समझनेवाला, प्रकाश युद्ध आदिमें चतुर, सुपात्रको दान देनेवाला, प्रजाको कष्ट पहुँचाये बिना गुप्त वा अप्रत्यक्ष रूपसे कोषको बढ़ानेवाला, शत्रुमें मृगया, द्यूत, आदि व्यसन देखकर, उसपर तीक्ष्ण रस आदिका प्रयोग करनेवाला, टेढ़ी भौंह न करके देखनेवाला, काम, क्रोध, लोभ, मोह, चपलता, उपताप (डाह) और पिशुनतासे रहित, प्रियभाषी, हंसमुख, उदारता पूर्वक बोलनेवाला और वृद्धों के उपदेश तथा आचार माननेवाला राजा होना चाहिये। ऐसा राजा 'आत्म-सम्पन्न' कहाता हैं। आत्मसम्पन्न, अमात्य, द्रव्य प्रकृति सम्पन्न और नीतिका आश्रयभूत राजा विजिगीषु कहाता है।

आत्मसम्पन्न विजिगीषुके लक्षण

विजिगीषुके राज्यके चारो ओर लगे हुए राज्यके अधिपति 'अरिप्रकृति' कहाते हैं। इसी प्रकार एक एक राज्यके अन्तरपर जो राज्य होते हैं, 'मित्र प्रकृति' कहाते हैं। विजिगीषु राजाका अगला पड़ोसी उसका शत्रु और इसका पड़ोसी उसका मित्र होता है। पड़ोसी शत्रुका मित्र शत्रु और इसका पड़ोसी विजिगीषुके मित्र और इसका पड़ोसी शत्रु के मित्रका मित्र होता है। फिर विजिगीषुके पिछले भाग

द्वादशराजमण्डलमें मित्र, शत्रु, मध्यम और उदासीन

(पार्ष्णि rear) में शत्रुपक्षका जो राजा चढ़ाई करने आता है वह पार्ष्णिग्राह कहाता है। पार्ष्णिग्राहके पीछे विजिगीषु पक्षका जो राजा चढ़ाई करने आता है, वह आक्रन्द कहाता है। पार्ष्णिग्राहका पक्षपाती पार्ष्णिग्राहासार और आक्रन्दका आक्रन्दासार कहाता है। विजिगीषु और शत्रुके बीचमें जो राजा रहता है और दोनोंके मिल जानेपर अनुग्रह और विभिन्नता होनेपर निग्रह करनेमें समर्थ होता है, वह मध्यम कहाता है। शत्रु और विजिगीषुसे परे जो राजा होता है, उसकी संज्ञा उदासीन है।

शक्ति और सिद्धि तथा गुणका अवलम्बन

बलको शक्ति और सुखको सिद्धि कहते हैं। शक्ति तीन प्रकारकी होती है मंत्रशक्ति, प्रभुशक्ति और उत्साहशक्ति। ज्ञानका बल मंत्रशक्ति, कोश और दण्डका बल प्रभुशक्ति तथा विक्रमका बल उत्साहशक्ति है। इसी प्रकार सिद्धिके भी तीन भेद हैं मंत्रसिद्धि, प्रभुसिद्धि और उत्साहसिद्धि। मंत्रशक्तिसे होनेवाली सिद्धि मंत्रसिद्धि, प्रभुशक्तिवाली प्रभुसिद्धि और उत्साहशक्तिवाली उत्साहसिद्धि समझनी चाहिये। यदि विजिगीषु समझे कि शत्रुसे मैं निर्बल हूँ, तो इससे सन्धि करे और बलवान् समझे तो विग्रह करे। पर यदि देखे कि न मैं शत्रुको दबा सकता हूं, और न वही मुझे दबा सकता है तो आसनका अवलम्बन करे। परन्तु शक्तिहीन हो, तो संश्रयका और यदि किसी कार्यमें सहायताकी अपेक्षा हो, तो द्वैधीभावका प्रयोग करे। जर्मनीने रूससे सन्धि और पोलैण्डसे विग्रह करके द्वैधीभाव गुणका अवलम्बन किया था।

सन्धिके चार धर्म

सन्धिके चार धर्म हैं अकृतचिकीर्षा, कृतश्लेषण, कृतविदूषण और अवशीर्ण क्रिया। किसी राजाके साथ पहले पहल प्रयुक्त सामादिके द्वारा सन्धि करना और अपनी शक्तिके अनुसार हीनशक्ति, समशक्ति और अधिकशक्ति राजाओंकी सामादिके साथ व्यवस्था करना अकृतचिकीर्षा है। की हुई सन्धिको प्रिय तथा हित आचरणके द्वारा दोनों पक्षोंकी ओरसे बनाये रखना, नियमोंका

ऐसे पालन करना कि शत्रु भेद न डाल सके। यह कृतश्लेषण क्रिया है। 'इसने राजद्रोहीसे सन्धि की है' इस बहानेसे सन्धिदोष सिद्ध करके विजिगीषुका पहले की हुई सन्धि तोड़ देना कृतविदूषण क्रिया (denouncement) है। जर्मनीने इङ्गलैण्डसे नौवल सन्धि (naval agreement) की थी तथा पोलैण्डके साथ अनाक्रमण सन्धि (non-aggression pact) की थी। पर दोनो कृतविदूषण कर दीं। सोवियट रूसने फिनलैण्डसे जो अनाक्रमण सन्धि की थी, वह भी इसने कृतविदूषण कर दीं। किसी दोषसे विजिगीषुको छोड़कर गये हुए किसी भृत्य वा मित्रके साथ फिर सन्धिका हो जाना अवशीर्णक्रिया है। संक्षेपमें समादि द्वारा सन्धि और उसकी व्यवस्था रखना अकृतचिकीर्षा, की हुई सन्धिका प्रामाणिकतासे पालन करना कराना कृतश्लेषण तथा किसी बहानेसे सन्धि तोड़ देना कृतविदूषण और टूटी हुई सन्धिको फिर जोड़ लेना अवशीर्ण क्रिया है।

सन्धि कब करनी चाहिये ?

प्रत्येक गुणका आश्रय हिताहितके विचारसे किया जाता है। सन्धि कर लेनेपर यदि राजा अपने दुर्ग आदि बनाकर शत्रुके दुर्ग आदि कार्योंका नाश कर सके अथवा अपने देशके उद्योग-धंधोंकी उन्नति वा शत्रुके उद्योग-धंधोंका नाश कर सके, तो उसे सन्धि ही करनी चाहिये। वर्तमान समयमें व्यापारकी प्रतियोगिता अथवा युद्धोपयोगी साधनों, यथा रणपोत वायुयान प्रभृतिकी चढ़ाऊपरी रोकनेके लिये भी सन्धिकी जाती है। प्रथम महासमरके पूर्व जर्मनी और इङ्गलैण्डमें यह सन्धि थी कि जर्मनी अपनी नौसेना अथवा रणपोत न बढ़ावे, परन्तु जर्मनीने अपने मित्र आस्ट्रिया-हङ्गरीको नौसेना बढ़ानेके लिये प्रोत्साहित करके यह सन्धि व्यर्थ कर दी थी। दूसरे महासमरके पहले भी जर्मनीने सन्धि की थी कि वह ब्रिटिश नौसेनाके १०० रणपोत होनेपर अपनी नौसेनामें ३५ से अधिक रणपोत न रखेगा, पर इसे कृतविदूषण कर दिया। सन्धिसे दूसरा लाभ यह है कि अपने महाफलशाली कर्मोंकी भांति वह शत्रुके कर्मोंका भी उपभोग कर सकता है। इटलीने जर्मनी और आस्ट्रियासे प्रथम महासमरके

पहले सन्धि की थी, परन्तु समरारम्भके कुछ ही दिनोंतक उसने उससे लाभ उठाया, अनन्तर शत्रु होकर अपना काम बनाया। सन्धि रहनेसे शत्रु राजा अपने ऊपर सन्देह नहीं कर सकता, इससे गूढ़ पुरुषों और तीक्ष्ण आदि प्रयोगों तथा जलदूषण आदिके द्वारा शत्रुके कार्योंका नाश किया जा सकता है। सन्धिके कारण सुभीतों, कर आदि न लेने तथा अन्य उपकारोंके लोभसे शत्रुके कार्यकुशल पुरुष आकर्षित होते हैं, जिससे शत्रु राज्यके लाभ तो कम होते, पर अपने बढ़ते हैं। अत्यधिक बलवान् राजा भी सन्धि इसलिये कर लेता है कि दुर्बल शत्रुको बहुत धनादि देना पड़ेगा जिससे वह और भी दुर्बल हो जायगा तथा क्षीणकोश होनेसे काम न कर सकेगा अथवा जिस द्वैधीभावका आश्रय लेकर वह संधि करता है, उसका विग्रह दूसरे शत्रुसे बहुत कालतक बना रहेगा। सन्धि करनेका एक कारण यह भी होता है कि जिससे सन्धिकी जाती है, वह शत्रुके राष्ट्रको अवश्य पीड़ित करेगा अथवा उसका राष्ट्र दूसरेसे पीड़ित होनेके कारण मेरे ही पास आ जायगा। इसके उपरान्त मैं अपने दुर्ग आदि कर्मोंकी अत्यधिक वृद्धि कर सकूंगा। अथवा दुर्ग आदि कर्मोंके नष्ट होनेसे शत्रु मुझपर आक्रमण न कर सकेगा और दूसरे शत्रुकी सहायतासे यदि वह अपना कार्य आरम्भ कर भी देगा, तो दोनोंके साथ सन्धि होनेसे अपने कर्मोंकी उन्नति भली-भाँति कर सकूंगा। अथवा शत्रुके साथ सन्धि करके उसके मण्डलमें मैं भेद डाल सकूंगा और जब वह मण्डलसे अलग हो जायगा, तब उसे अपने वशमें कर लूंगा। अथवा यदि समझे कि सैनिक सहायता देकर शत्रुको वशमें करके मण्डलमें मिलनेकी उसकी इच्छा मैं व्यर्थ कर दूंगा और उससे द्वेष करा दूंगा और द्वेष हो जानेपर मण्डलसे ही उसे मरवा दूंगा, तो सन्धि कर ले।

यदि विजिगीषु समझे कि मेरे राज्यमें आयुधजीवी क्षत्रिय और कृषिकर्म करनेवाले पुरुष ही विशेष रहते हैं और वन, पर्वत, नदी और दुर्ग अधिक हैं और राज्यसे बाहर जानेका मार्ग एक ही है, इसलिये शत्रुके किये आक्रमणका प्रतिकार मेरा राष्ट्र भली भाँति

विग्रह कब करे?

कर सकता है, तो उसके साथ विग्रह कर दे। अथवा देखे कि राज्यकी सीमाके अति दुर्भेद्य दुर्गका आश्रय लेकर मैं शत्रुके दुर्ग आदि कर्मोंका नाश कर सकूँगा, तो भी विग्रह करे। अथवा यदि जाने कि व्यसन और पीड़ाओंसे हतोत्साह शत्रुके कार्योंका विनाश-काल आ गया है तो भी विग्रह करे। अथवा समझे कि जिस शत्रुसे विग्रह किया है, उसके राष्ट्रको किसी दूसरे मार्गसे पार कर सकूँगा, तो भी विग्रह कर दे।

समबलवालोंके लिये आसन ही उत्तम है

परन्तु यदि विजिगीषुकी समझमें आ जाय कि न तो शत्रु मेरे दुर्ग आदि कर्मोंका नाश कर सकता है और न मैं ही उसके दुर्ग आदि कर्म नष्ट कर सकता हूँ और इस समय इसपर विपत्ति आयी है, इसलिये समान शक्तिवाले कुत्तों और सुअरोंकी तरह हमारा विग्रह हो जानेपर भी मैं अपने कर्मोंका अनुष्ठान करता हुआ अपनी वृद्धि कर सकूँगा, तो आसनका अवलम्बन करे।

यानका समय

परन्तु यदि विजिगीषु समझे कि शत्रु मेरा तो बाल बांका नहीं कर सकता, क्योंकि मैंने अपने कर्मोंकी रक्षाका सुप्रबन्ध कर दिया है और मेरे यानसे शत्रुके कर्मोंका नाश हो सकता है, तो यानके द्वारा ही उन्नति करे। पोलैण्ड और फिनलैंडकी दृष्टिसे लड़ना बुरा था, परन्तु इङ्गलैण्ड और फ्रांसके लिये अच्छा ही था, क्योंकि इन युद्धोंसे उनके प्रत्यक्ष शत्रु जर्मनी और अप्रत्यक्ष शत्रु रूसकी शक्तिका ह्रास ही हुआ। अवश्य ही पोलैण्ड यदि डैंसिग और कोराइडर (परिक्रमा) जर्मनीको दे देता, तो युद्ध टल जाता और देशपर विपत्त न आती। हाँ, यदि रूसका आश्रय पोलैण्ड ले सकता, तो कोई हानि न होती; पर इसकी सम्भावना जर्मनीने पहले ही नष्ट कर दी थी। ऐसे समय कौटिल्यका उपदेश है कि उसे शत्रु वा अभियोक्ताकी ही शरण लेनी चाहिये और सेना, भूमि आदि देकर उसके उपकारकी चेष्टा दूरसे ही करनी चाहिये। बलवान् के निकट रहना

कभी कभी बंधन और बधका भी कारण होता है। परन्तु बलवान् राजासे शत्रुका विग्रह हुआ हो, तो उससे मिलनेमें कोई आपत्ति नहीं है। फिर यदि बलवान् राजाको बिना उसके पास गये प्रसन्न करना सम्भव न हो, तो उसे अपनी सेना देकर उसके पास रह जाय और जब अवसर पावे, अर्थात् राजा किसी प्राणान्तकारी व्याधिसे पीड़ितहो—उसके पुरोहित, मंत्री आदि कुपित हो गये हों, शत्रु बढ़ गये हों वा मित्र किसी विपत्तिमें फँसा हो और उसकी मुसीबतसे अपना हित समझे, तो किसी धर्मकार्य वा सम्भाव्य व्याधिका बहाना करके अपने देशको चला जाय अथवा वहीं रहकर उसकी निर्बलताओंपर बराबर आघात करता रहे। दो बलवान् राजाओंमें रहकर उसीका आश्रय ले जिसे अपनी रक्षा करनेमें समर्थ समझे। जो अपने समीप हो, उसीका आश्रय ले और यदि दोनो राजा समीप हों, तो जाकर दोनोसे अलग अलग कहे कि यदि आप मेरी रक्षा न करेंगे, तो दूसरा राजा मेरी जड़ उखाड़ डालेगा। यह कपालसंश्रय कहाता है। इसके बाद दोनोंमें भेद बढ़ाकर गुप्त रीतसे उन्हें मरवा डालना चाहिये।

जिस राजासे शीघ्र भयकी आशंका हो, उसके समीप रहकर भावी आपत्तिका प्रतिकार करना अथवा दुर्गका आश्रय लेकर द्वैधीभावका अवलम्बन करना चाहिये। दोनो प्रतिस्पर्द्धियोंके दूष्यों, शत्रुओं और आटविकोंको दान, सत्कार आदिसे वशमें कर ले। दोनोंमें किसी एकका सामना करता हुआ जिस विषयमें वह निर्बल हो, उसीमें दूष्य आदि द्वारा प्रहार करावे। यदि दोनो अपनेको पीड़ा पहुँचावें, तो मण्डलके मध्यम वा उदासीनका आश्रय ले और इनके साथ रहकर सम्भव हो तो दोनोका उच्छेद कर दे, नहीं तो एकको दानादिसे वशमें कर ले और दूसरेका उच्छेद कर दे। यदि उनमें कोई न्यायशील राजा हो, तो जिसकी अमात्य आदि प्रकृतियां अपने अनुकूल वा प्रीति करनेवाली हों, उसीका आश्रय ले। जिसके साथ रहकर अपना उद्धार कर सके, पूर्व पुरुषोंका सम्बन्ध हो अथवा जहाँ बहुतसे शक्तिशाली मित्र हों, उसीका आश्रय ले।

द्वैधी भावका रहस्य

परन्तु यदि विजिगीषुको समझमें आवे कि न तो मैं शत्रुके कार्यों का नाश कर सकता हूँ और न अपने कर्योंकी रक्षा कर सकता हूँ, तो बलवान्‌का आश्रय ले। अपने कर्मोंका अनुष्ठान करता हुआ क्षयसे स्थान और स्थानसे वृद्धिकी आकांक्षा करे। परन्तु यदि राजा समझे कि एक शत्रुके साथ सन्धि करके अपने दुर्ग आदि कार्योंका निर्माण यथावत् करता रहूँगा, तो द्वैधीभावका अवलम्बन करके उन्नतिका सम्पादन करे।

संश्रयके अवलम्बन और द्वैधीभाव के समय

इस सम्बन्धमें एक बात बड़े मार्केकी कौटिल्यने बतायी है, जो बुद्धिमत्ता और दूरदर्शितापूर्ण है और वह यह कि जब मृदु उपायसे वही फल होता है, जो तीक्ष्णसे होता हो, तो मृदुका ही अवलम्बन किया जाय। 'जो गुड़ दीन्हे ही मरै ताहि माहुरं न दीजियें' यह सिद्धान्त राजनीतिके विरुद्ध नहीं है, क्योंकि उद्देश्य मारना है और वह गुड़ खिलानेसे ही मरता है। इसीसे कहा है कि सन्धि और विग्रहका समान फल हो, तो सन्धिका; आसन और यानका सम फल हो तो आसनका और संश्रय और द्वैधीभावका परिणाम एक ही हो, तो द्वैधीभावका अवलम्बन करे। इसके कारण हैं, क्योंकि विग्रहमें जननाश, धनधान्यनाश, दूसरे देशमें जाना और शत्रुद्वारा विष प्रयोग आदि अनेक कष्टों और अनर्थोंकी सम्भावना रहती है। संश्रयसे दूसरोंके हाथका खिलौना बनना पड़ता है और अपने राजाका उपकार करते करते और उसकी त्यौरियां देखते देखते दिन काटने पड़ते हैं।

मृदु और तीक्ष्ण उपायोंके एकसे फलमें मृदुका अवलम्बन करे।

संश्रयका अवलम्बन करते समय जिस बातका ध्यान रखनेकी बड़ी आवश्यकता है, वह यह है कि जिसका आश्रय हम लेने जा रहे हैं, वह हमारे शत्रुसे प्रबल है या नहीं। और यदि वह प्रबल न हो, तो शत्रुकी ही शरण लेनी चाहिये; क्योंकि दुर्बल राजाका आश्रय लेनेसे कोई लाभ नहीं

संश्रयके विषयमें विचारणीय बातें

होता। यदि संश्रयदाता प्रबल भी हो, परन्तु शत्रुके दमनकी यथोचित व्यवस्था करनेमें असमर्थ हो, तो उसका आश्रय लेकर सर्वनाश कराने की अपेक्षा शत्रुकी ही बातें मान लेना अधिक श्रेयस्कर है। इङ्गलैंड और फ्रांसकी सहायताके भरोसे पोलैंड जर्मनीसे झगड़ पड़ा यह मूर्खता-का ही काम किया, क्योंकि ये पोलैण्डको किसी प्रकारकी सहायता पहुँचाने में समर्थ न थे। इसी प्रकार फिनलैण्डकी पीठ ठोंककर रूसके सामने तथोक्त प्रजासत्ताके हिमायतियोंने उसे खड़ा कर दिया। पर उस बिचारेको बुरी तरह मार खाकर रूससे सन्धि करनी ही पड़ी। इससे लैटविआ, एस्टोनिया और लिथुआनियाका कार्य बुद्धिमानीका था, जिन्हें मार नहीं खानी पड़ी।

सन्धिके तीन मुख्य भेद हैं एक दण्डोपनत, दूसरा कोशोपनत और तीसरा देशोपनत। सेना और अपनी सेवा शत्रुको अर्पण करनेसे जो सन्धि होती है, वह दंडोपनत है। इसके भी तीन प्रकार हैं आमिषसन्धि, पुरुषान्तरसन्धि और अदृष्टपुरुष सन्धि। जब विजित यथाशक्ति धन और विजेताकी मुँह मांगी सेना स्वयं ले जाकर उसकी सेवा करनेकी प्रतिज्ञा करता है, तब वह आमिष-संधि कहाती है। परन्तु जब स्वय न जाकर सेनापति वा कुमारको सेवाके लिये भेजता है, तब पुरुषान्तर सन्धि कहाती है। इसका दूसरा नाम आत्मरक्षणसन्धि है। परन्तु जब सन्धिमें यह प्रतिज्ञा की जाती है कि शत्रुके कार्यकी सिद्धिके लिये मैं दूसरे स्थानमें अकेला ही जाऊँगा वा अपनी सेना भेजूँगा, तब अदृष्टपुरुष सन्धि होती है। पहली दोनों सन्धियोंमें कौटिल्यका परामर्श है कि राजा मुख्य राज्यके व्यक्तियोंकी कन्याओंसे विवाह करे। तीसरे अदृष्टपुरुष सन्धिमें शत्रुको विष आदि गूढ़ प्रयोगोंसे वशमें करे।

सन्धिके तीन मुख्यभेद और दंडोपनत सन्धिके प्रकार

कोशोपनत सन्धिमें शत्रुको धन देना पड़ता है। यह चार प्रकारकी कही गयी है परिक्रयसंधि, उपग्राहसंधि, सुवर्णसंधि और कपालसंधि। युद्धमें बंदी

मंत्री आदिको छुड़ानेके लिये जिसमें धन (ransom) दिया जाता है, वह परिक्रयसंधि है अर्थात् इस संधिमें धनके बदले मंत्री आदि मिलता है। परन्तु जिसमें कई किस्तोंमें युद्धक्षतपूर्त्यर्थ धन (indemnity) दिया जाता है, जैसे वर्साई संधिके फलस्वरूप जर्मनीको देना पड़ा था, तो उसे उपग्राहसंधि कहते हैं। परन्तु यदि इसमें यह शर्त वा प्रण रहे कि अमुक स्थानमें इतना धन अवश्य दिया जाय, तो यह उपग्राह संधि अत्यय संधि कहाती है। परन्तु सुखपूर्वक नियत समयमें धनराशि देनेके लिये जो संधि होती है, उसका नाम सुवर्ण संधि है, क्योंकि तपे हुए सुवर्णके समान यह संधि शत्रु और विजिगीषुको आपसमें मिलानेका भी साधन होती है। यह कन्यादानसे भी प्रशस्त है और भविष्यमें अच्छा फल देती है। परन्तु जिस संधिमें तुरन्त सब धन दे देना पड़े, वह कपालसंधि है। यह संधि शास्त्रकार प्रशस्त नहीं मानते। परिक्रय आदि चार संधियोंको व्यर्थ करनेके उपाय भी कौटिल्यने बताये हैं। कहा है कि परिक्रय और उपग्राहमें कपड़े, कवच आदि तथा लोहे, तांबेकी असार वस्तुएँ शत्रुको दे दे अथवा शत्रुकी इच्छा होनेपर बूढ़े हाथी घोड़े दे दे और उन्हें ऐसा विष खिला दे कि तीन चार महीनेमें वे मर जाँय। इससे 'मियाँकी जूती मियाँके सिर' कहावत चरितार्थ नहीं हो सकती। सुवर्ण संधिको व्यर्थ करना हो तो कुछ धन देकर कह दे कि आजकल हमारी अवस्था अच्छी नहीं है और काम बिगड़ गये हैं, इसलिये इतनेसे ही सन्तोष कीजिये जर्मनीने यही किया था। कपाल सन्धिमें मध्यम और उदासीनका आश्रय लेकर 'आजकल, आजकल' करता हुआ टालता चला जाय।

कोशोपनत सन्धि और उसके भेद

देशोपनत सन्धिमें राज्यका भाग दिया जाता है। यह संधि चार प्रकार की बतायी गयी है। प्रकृतिकी रक्षाके लिये राज्यका कुछ भाग देकर जो संधि की जाती है, वह आदिष्ट संधि (dictated treaty) कहाती है। जर्मनीके साथ वर्साईमें मित्रराज्योंकी जो संधि हुई थी, वह आदिष्ट सन्धि ही थी; क्योंकि जर्मनी को अपने साम्राज्यके बहुतसे अंश और उपनिवेश भी

देशोपनत संधि और उसके भेद

देने पड़े थे और क्षतिपूर्त्यर्थ उससे धन भी लिया गया था और सेना आदिके संबंधके अनेक बंधन लगाये गये थे। गूढ़ पुरुषों और चारोंद्वारा अपघात करानेमें जो समर्थ हो, उस विजिगीषुके लिये यह सन्धि बड़े काम की है। दुर्ग और नगर छोड़कर असार भूमि शत्रुको देकर जो संधि की जाती है, वह उच्छिन्न सन्धि है। भूमिमें उत्पन्न पदार्थ देकर जिस संधिमें शत्रुसे भूमि छुड़ाई जाती है, वह अवक्रय संधि हैं। परन्तु जिसमें उत्पन्न पदार्थोंके अतिरिक्त और भी कुछ दिया जाता है, वह परदूषण-संधि कहाती है। पहली दो संधियोंमें शत्रु की विपत्तिकी प्रतीक्षा करनेका उपदेश दिया गया है।

यहाँतक संधिके जो भेद बताये गये हैं, वे शत्रुके जालसे निकलनेके लिये हैं। अब ज कहे जायँगे, वे पारस्परिक उन्नति वा लाभके लिये ही होंगे।

परिपणित और अपरिपणित संधियां

यह संधि तीन प्रकार की होती है परिपणित, अपरिपणित और अपसृत। देश, काल व कार्यका निर्देश करके जो संधि की जाती है, वह परिपणित संधि है। जैसे यह कहकर कि तुम अमुक देशको ले लो और हम अमुकको ले लें, जो संधि की जाय, वह देश परिपणित सन्धि है। विश्वास है कि जर्मनीने पौलैंडके विषयमें रूससे ऐसी ही संधि करके दो भाग कर लिये हैं। इसी प्रकार यह कहना कि 'अमुक समय तक तुम कार्य्य करो और अमुक समयतक मैं करूँगा' काल परिणित संधि है तथा 'अमुक कार्य तुम करो और अमुक मैं करूं' कार्य परिणित संधि है। गत यूरोपियन महासमरमें मित्रोंमें इसी प्रकारकी अनेक संधियाँ हुईं थीं, जिनसे उन्होंने यूरोपका नया नकशा बनाना चाहा था। जो संधि देश काल और कार्यकी व्यवस्था न करके केवल यह कहकर ही की जाती है कि 'हम दोनो आपस में संधि करते हैं' संधिके बहाने उसपर अपना विश्वास जमाकर तथा उसके दोषोंका पता लगाकर उसपर आक्रमण कर दिया जाता है, तब वह अपरिपणित संधि कहाती है; जैसी पहले अनाक्रमण सन्धि करके हिटलरने रूसपर आक्रमण कर दिया था।

---

१४ नगर-निर्माण

दुर्ग, पुर वा नगर शब्द प्राचीन कालसे राजधानीके वाचक माने जाते हैं, इसलिये नगरनिर्माणका अर्थ राजधानी बनाना और बसाना है। राज्यमें राजधानीके अतिरिक्त प्रदेशोंके भी नगर रहते हैं, तथापि साधारणतः नगर शब्दसे राजधानीका ही बोध होता है। पांस वा खाद अथवा घूरेके टीलोंसे घिरी हुई बस्ती खेटक वा खेड़ा और छोटे टीलोंसे घिरी हुई बस्ती खर्वट है। यद्यपि पट्टण पत्तन शब्दका ही रूपान्तर है, तथापि दोनों में भेद है। सग्गड़ गाड़ीसे जानेयोग्य तथा नावसे उतरनेके घाट जहाँ हों, वह पत्तन और जहाँ नावसे ही पहुँच हो सके, वह पट्टण कहाता है। द्रोणमुख वे हैं, जिनमें जल और स्थल मार्ग हो। निगम और बनियांके वे स्थान भी नगर कहाते हैं, जिनमें कर न लगता हो।[1] जिस स्थानको एक बार राजधानी वा नगर बनाते हैं, उसे छोड़कर दूसरे स्थानमें भी राजधानी ले जा सकते हैं। इससे पुरानी राजधानीमें केवल राजकार्य ही नहीं होता

राजधानी, नगर, पुर, पत्तन, खेट, आदि

---

१ नगरं राजधानी, पांसुप्राकारनिबद्धखेटकं, क्षुल्लक प्राकारवेष्टितं खर्वटं अर्धगव्यूतितृतीयान्तग्रामान्तररहितं मण्डपम्।
पत्तनं शकटैर्गम्यं घाटिकैर्नौभिरेव च।

नौभिरेव तु यद्गम्यं पट्टणं तत्प्रचक्षते॥ इति रायसेणा सूत्रव्याख्याने पृ० २०६। नगराणि करवर्जितानि निगमवणिजां स्थानानि। जनपदा देशाः पुरवराणि नगरैकदेशभूतानि द्रोणमुखानि जलस्थलपथोपेतानि। खेटकानि धूलीप्राकारोपेतानि। खर्वटानि कुनगराणि। मण्डपानि दूरस्थलसीमान्तराणि। संवाहाः स्थपिन्यः पत्तनानि जलस्थलपथयोरन्यतरयुक्तानि। इति प्रश्न व्याकरणसूत्र व्याख्याने पृ० २०६

और किसी प्रकारकी न्यूनता नहीं आने पाती, क्योंकि गृहादि ज्योंके त्यों बने ही रहते हैं। परन्तु नयी राजधानी जहाँ बनायी जाती है, वहाँ उजाड़ जंगल नगरके रूपमें परिणत हो जाता है।

प्रत्येक राजधानीमें एक दुर्ग हुआ करता था, क्योंकि आसपासके राजाओं से शत्रुता वा युद्धके समय आत्म-रक्षाके लिये राजा दुर्गका आश्रय लेता था। दुर्गके आश्रयसे वह शत्रु पर आक्रमण भी करता था। शुक्राचार्यका कहना है कि एक धनुर्धर दुर्गके प्रपाल (बुर्ज) पर खड़ा हो जाय, तो सौ सैनिकोंसे और सौ सैनिक खड़े हो जांय तो दस हजारसे मोर्चा ले सकते हैं। शूद्रकके दुर्ग मसगकी रक्षा सिकंदरके आक्रमणके समय ३८ हजार पदातियोंने की थी। पूर्व ओरसे ढालू किनारोंवाली तेज धार नगरका मार्ग रोके हुई थी, दक्षिण और पश्चिमकी ओर ऊँची चट्टानें थीं, जिनके किनारे चौड़े थे और बीचमें चौड़े झरने बह रहे थे। इसके सिवा बड़ी भारी खाई थी। नगरप्राचीर भी था। मल्लव लोगोंका दुर्ग तो एक बार घायल होनेके बाद ही सिकन्दर ले सका था। भारतके अनेक नगरोंमें आज भी दुर्ग हैं, पर न तो अब उनकी आवश्यकता है और न लाभ ही। कारण कि पड़ोसी राजाओंसे युद्ध नहीं होते। परन्तु प्राचीन कालमें यह बात न थी, इसलिये नगरनिर्माणका भी शास्त्र था। शुक्रनीतिसारके अनुसार राजाको ऐसी समभूमिपर राजधानी बननी चाहिये, जहाँ नाना प्रकारके वृक्ष और और लताएं हों, पशु पक्षियोंके गण हों, प्रभूत अन्न और जल हो, काष्ठ और तृणका सुख हो, समुद्रपर्यन्त नाव जा सकती हो और पहाड़ भी पास हों। राजधानीकी भूमि अर्धचन्द्राकार गोल वा चौकोर हो तथा प्राकारों और परिखाओंसे युक्त हो और ग्रामादि भी उसके बीचमें हों।

दुर्ग बनानेके विषयमें शुक्रनीतिसार

परन्तु कौटिल्यने इस विषयका विस्तार पूर्वक विवेचन किया है। इनका कहना है कि वास्तु विद्याके विद्वान् जिस प्रदेशको श्रेष्ठ बतावें

राजधानी कहाँ बनायी जाय।

अथवा जो प्रदेश किसी नदीके किनारे या तालाब किंवा बड़े जलाशयके किनारे हो, वहाँ भूमिके अनुसार गोलाकार दीर्घाकार वा चौकोर राजधानी बनानी चाहिये। इसके बाद ही वे दुर्गनिर्माणकी व्यवस्था बताते हैं कि भूमिके चारो ओर छोटी छोटी नहरें होनी चाहिये, जिनमें जल सदा बहता रहे। आसपास उत्पन्न होनेवाली वस्तुओंके संग्रह तथा विक्रयका प्रबन्ध हो तथा जहाँ जल स्थल दोनो मार्गोंसे पहुंचनेका सुभीता हो। उसके चारों ओर एकएक दण्डकी दूरीपर तीन खाइयाँ खुदवायी जायं, जो क्रमशः १४, १२ और १० दण्ड चौड़ी हों और जितनी ये चौड़ी हों, उसी हिसाबसे चौथाई वा आधी इनकी गहराई हो। खाइयोंकी भूमिपर पत्थर जड़े हों और इनके किनारे भी पत्थरोंसे दृढ़ कर दिये जायँ। कहीं कहीं खाइयाँ इतनी गहरी खोदी जायँ कि इन्हींसे पानी निकलने लगे। यदि न निकले, तो किसी नदी आदिसे लाकर जल भर दिया जाय। जलके निकासकी भी व्यवस्था रखी जाय और इसमें कमल और मगर भी रहें। फिर इन परिखाओंसे चार दण्ड अर्थात् १६ हाथपर ६ दण्ड ऊँचा सुदृढ़ वप्र वा बुर्ज बनवावे। खाइयोंसे निकली हुई मिट्टीसे ही ये बनाये जायँ।

वप्र और प्राकार

वप्रोंके तीन भेद कहे गये हैं, (१) ऊर्ध्वचय जो नीचे बहुत मोटा और ऊपर पतला हो, (२) मञ्चपृष्ठ, जो ऊपर नीचे एक समान मोटा हो और (३) कुम्भकुक्षिक, जो बीचमें मोटा और ऊपर नीचे पतला हो। इन वप्रोंको गाय बैलों और हाथियोंसे अच्छी तरह खुदाना चाहिये, जिससे मिट्टी बैठकर दृढ़ हो जाय। इसके इधरउधर काँटेदार झाड़ियाँ और विषैली लताएँ लगा देनी चाहिये। फिर भी यदि मिट्टी बच रहे, तो उससे वे गढ़े भर देने चाहिये जिनसे मकान बनानेको मिट्टी ली गयी हो। इस वप्रपर प्राकार वा दीवार खड़ी करवावे जो चौड़ाईसे दूनी उँची हो। यह १२ से लेकर १३ आदि विषम संख्याओंमें वा १४ आदि सम संख्याओंमें २४ हाथ

तक उँची होनी चाहिये। अथवा प्राकार इतना चौड़ा बनाया जाय कि उसके ऊपरसे एक रथ सहजमें जा सके। ताड़के पेड़की जड़ वा मृदङ्ग अथवा बन्दरकी खोपड़ीके आकारके छोटेबड़े पत्थर, ईंटके चूरे वा बड़ी बड़ी शिलाओंसे बाहरका भाग बनाया गया हो, ऐसा प्राकार वप्रके ऊपर बनाना चाहिये। प्राकार काठका कभी न बनाना चाहिये, क्योंकि आग लगनेका भय रहता है। यह प्राकार ही नगरप्राचीर वा शहरपनाह है।

अट्टालक, प्रतोली और इन्द्रकोश

प्राकारके आगे चारो ओर ऐसे अट्टालक बनाने चाहिये जो प्राकारके विस्तार वा उँचाईके समान ही विस्तृत वा ऊँचा हो और जिसमें चढ़ने उतरनेके लिये सीढ़ियाँ हों। ये अट्टालक ३०।३० दण्डकी दूरीपर होने चाहिये। यह अट्टालक मीनार (tower) है। दो अट्टालकोंके बीचमें चौड़ाईसे ड्योढ़ी लम्बी दो खंडोंसे युक्त 'प्रतोली' बनवाये और प्रतोली और अट्टालकके बीचमें 'इन्द्रकोश' बनवावे। अर्थशास्त्रके टीकाकारने 'प्रतोली' और 'इन्द्रकोश' दोनोंका अर्थ 'गृहविशेष' बताया है। परन्तु विलसनके कोशमें 'प्रतोली' a high street, the principal road through a town or village और 'इन्द्रकोश' a platform or a projection of the roof of a house forming a kind of balcony or terrace लिखा है। इस हिसाबसे प्रतोली तो सड़क और इन्द्रकोश वरंडा वा छज्जा ठहरता है। दो अट्टालकोंके बीचमें प्रतोली नामकी सड़क और अट्टालक और प्रतोलीके बीचमें इन्द्रकोश होना ठीक ही है। अभिप्राय यह जान पड़ता है कि अट्टालकोंके बीचसे नगरमें जानेका मार्ग रहे और फिर यदि इसका दुरुपयोग कहीं कोई करे, तो अट्टालकसे निकले हुए बरामदेपर बैठे धनुर्धर उसे समझ लें, क्योंकि इसके बाद ही कहा गया है कि इन्द्रकोशमें इतना स्थान हो कि तीन धनुर्धर बैठ सकें। बाहरसे इनपर कोई वार न कर सके, इसलिये इनके सामने तख्ते लगे रहें, पर इन तख्तोंमें छेद हों जिनसे इनके वाण बाहर जा सकें।

प्राकारके साथ-साथ एक देवपथ वा गुप्तमार्ग होना चाहिये, जो प्राकार के पास तो आठ हाथ और प्राकार और प्रतोलीके बीचमें दो ही हाथ चौड़ा रहे। एक वा दो दण्डकी दूरीपर प्राकारपर चढ़ने उतरने के लिये 'चार्या' वा जीना बनाना चाहिये। ऐसी चार्या देवगिरिके रामदुर्गमें है। प्राकारपर हीएक ऐसे स्थानपर जो दिखाई न दे, छिपनेके लिये 'प्रधावितिका' बनानी चाहिये। इस प्रधावितिकामें ऐसे छेद रहने चाहिये, जिनसे भीतर बैठा मनुष्य तो बाहर होनेवाली घटनाएँ देख सके, पर उसे कोई न देखने पावे। इन छेदोंको निष्कुहद्वार कहते हैं। यहाँ तक तो दुर्गके भीतरकी बनावटका वर्णन हुआ।

देवपथ, प्रधावितिका और चार्या

अब बाहरकी व्यवस्था बताते हैं। नहर और खाइयोंके मार्गकी जो भूमि है, वहीं शत्रुके आनेका मार्ग है। इनमें जानुभंजनी वा लकड़ीकी-घुटनेतोड़ खूँटियाँ गाड़नी चाहिये। शत्रुके इस मार्गको त्रिशूलोंके ढेरों, अंधेरे गढों, लोहेकी छड़ों तथा तिनकोंसे ढके गढ़ों, लोहेके काँटोंके ढेरों, साँपोंके अस्थिपंजरों, ताड़पत्तेके समान बने लौहजाल, तीन नोकोंवाले लोहेके काँटों, कुत्तेकी दाढ़की नाईं लोहेकी तीक्ष्ण कीलों, बड़ेबड़े लट्ठों, एक ही पैरके बराबर बनाये कीचड़के गढ़ों, अग्निके गढ़ों तथा दूषित जलके गढ़ोंसे मार्गको पाट देना चाहिये। अवश्य ही शत्रुके आगमनके समय इन गढ़ोंको खोल देनेकी भी व्यवस्था होगी, जिसमें उसे बाधा पहुँचे।

दुर्गके बाहरकी व्यवस्था

भीतर और बाहरकी रक्षाका इस प्रकार प्रबन्ध हो चुकनेपर, अब नगर-द्वार वा फाटक बनानेकी बात कहते हैं। जहाँ फाटक लगानेका निश्चय हो, वहाँ प्राकारके नीचे दोनों ओर डेढ़ दण्ड वा ६ हाथ लम्बा और इतना ही चौड़ा चबूतरा बनाकर उसपर प्रतोलीके समान छ खम्भे खड़े कर द्वारका निर्माण किया जाय। द्वारका विस्तार पांचसे आठ दण्ड तक चौकोर होना चाहिये। नीचेके तलसे खम्भोंकी उँचाई १५ से १८ हाथ होनी चाहिये

द्वार वा फाटक

और परिधि वा मुटाई उँचाईका छठा भाग होनी चाहिये । मुटाईका दूना भाग तो गाड़ दिया जाय और चौथाई भाग खम्भेकी ऊपरकी चूलके लिये छोड़ देना चाहिये ।

प्रतोलीके साथ हर्म्य भी है । यह कै तल्लोंका होना चाहिये यह स्पष्ट नहीं होता, पर अनेक तल्लोंका ही होगा । हर्म्यके तीन तल्ले बताये गये हैं और कहा गया है कि पहले तल्लेके पांच भाग किये जायं, जिनके बीचमें बावली, इधर-उधर शालाएं और शालाओंके किनारे सीमागृह रखे जायं । शालाके किनारोंपर आमने सामने दो चौतरे और शाला तथा सीमागृहके बीच एक द्वार होना चाहिये । प्रतोलीके साथ जो हर्म्य बताया गया है, उसकी दूसरी मंजिलकी उँचाई पहलीसे आधी होनी चाहिये । उत्तमागार वा सबसे ऊपरके तल्लेकी उँचाई आधा वास्तुक वा डेढ़ दण्ड होनी चाहिये, जब नीचेके द्वारका परिमाण ५ दण्ड हो । न्यूनाधिक होनेसे अन्तर करना चाहिये । द्वारका तृतीयांश परिमाण द्वारके उत्तमागारका होना चाहिये । उत्तमागारके इधरउधरके भाग ईंटोंसे दृढ़ करने चाहिये उसकी बायीं ओर चढ़ने उतरनेकी चक्करदार सीढ़ियां और दाहनी ओर भीतमें गुप्त सीढ़ियाँ बनानी चाहिये ।

शाला, सीमागृह और उत्तमागार

तोरणशिर अर्थात् द्वारके ऊपरकी सजावट दो हाथकी करनी चाहिये । तीन वा पाँच भागोंके दो किवाँड़ वा फाटक होने चाहिये । किवाँड़ोंके पीछेकी ओर दो अर्गला वा परिघ होनी चाहिये । किवाँड़ बन्द करनेको एक इन्द्रकील (चटखनी) होनी चाहिये । फाटकके बीचमें ५ हाथकी एक खिड़की होनी चाहिये । यह द्वार इतना बड़ा हो कि चार हाथी एक साथ इसमें घुस सकें । द्वारकी उँचाईसे आधी उँचाईवाला हाथीके नखके समान, आवश्यकतानुसार उतार चढ़ाववाला द्वारके समान ही आकारवाला दुर्गपर यथावसर घूमने फिरनेका मजबूत लकड़ीका बना हुआ मार्ग होना चाहिये । जलरहित स्थानोंमें यह मिट्टीका भी हो सकता

तोरण और द्वार की बनावट

है। उँचाई आदिमें प्राकारके समान ही निकलनेका मार्ग बनवाकर उसका तृतीयांश गोहके मुंहके अनुरूप आकारका गोपुर अर्थात् नगरद्वार बनवाना चाहिये।

प्राकारके बीचमें ही बावली बनाकर उसके साथ एक द्वार रखना चाहिये। इसका नाम पुष्करणीद्वार है। इसी प्रकार जिस द्वारके आस पास चार शालाएँ बनायी गयी हों, उसके द्वारमें पहले कहे हुए छोटे द्वारसे ड्योढ़ा एक छोटा द्वार लगा होना चाहिये। इसका नाम कुमारीपुरद्वार है। जो द्वार दो तल्ला हो, पर उसपर कंगूरे आदि न हों, तो वह मुण्डक द्वार है। इसके सिवा माल लाने ले जानेके लिये नहरें बनानी चाहियें, जो साधारण नहरसे तिहाई अधिक चौड़ी हों। आनेवाले मालमें पत्थर, कुद्दाल, कुठार, बाण, कल्पना ('हाथियोंके उपकरण), भुशुण्डी (बन्दूक आदि शस्त्र), मुद्गर, लाठी डंडे, चक्र, यंत्र, शतघ्नी, लुहारीका वा लुहारोंका बनाया सामान, तीक्ष्ण नोंकवाले भाले आदि, बांस, उँटकी गर्दनके आकारके हथियार, आग, लगाकर चलाये जानेवाले आयुध तथा कुप्य वा लकड़ी, कन्द, मूल, फल आदि औषधवर्ग तथा जङ्गलकी और वस्तुएँ हैं।

गोपुर, कुमारीपुर और मुण्डकद्वार

अब नगरके भीतरके रूपका वर्णन करते हैं। तीन राजमार्ग पूर्वसे पश्चिम और तीन ही उत्तरसे दक्खिनको होने चाहिये। रथ्या वा छोटी गली ४ अरत्नि वा हाथ चौड़ी बनानी चाहिये। इसके सिवा राजमार्ग, द्रोणमुख, स्थानीय, राष्ट्र, विवीत, व्यापारी मंडियों, सेना, श्मशान तथा अन्य गांवोंको जानेवाले मार्ग ८ दण्ड चौड़े बनाने चाहिये। परन्तु जंगलों और जलाशयोंको जानेवाला मार्ग ४ ही दण्ड होना चाहिये। पशुओंके आकार प्रकारके अनुसार उनके लिये मार्गकी व्यवस्था है। हाथियों तथा खेतोंमें जानेके लिये २ दण्ड चौड़ा मार्ग होना चाहिये। ५ हाथ चौड़ा रथोंका, ४ हाथ चौड़ा पशुओंका तथा २ हाथ चौड़ा मनुष्यों, भेड़ बकरियों तथा छोटे जानवरोंका होना चाहिये।

नगरके भीतरकी बनावट

वास्तु वा नगरभूमिके मध्यभागसे उत्तरकी ओरके ९ वें भागमें अन्तःपुर बनाना चाहिये जिसका द्वार पूर्व वा पश्चिमकी ओर होना चाहिये। अतःपुरके पूर्वोत्तर भागमें आचार्य, पुरोहितके स्थान, यज्ञस्थान, जलाशय और मन्त्रियोंके निवासस्थान, पूर्व दक्षिण भागमें राजकीय महानस (पाकशाला), हस्ति-शाला और कोष्ठागार बनवाना चाहिये। इसके आगे पूर्वमें गन्धमाल्य, धान्य और रसकी दूकानें, प्रधान कारीगरों और क्षत्रियोंके वास-स्थान होने चाहिये। दक्षिण पूर्व भागमें भाण्डागार, अक्षपटल (आय-व्ययकी गणनाका मुख्य स्थान) तथा सोने चांदी आदिकी बनी वस्तुएँ रखनेका स्थान तथा दक्षिण पश्चिम भागमें कुप्य तथा सोने चांदीको छोड़ सब धातुएँ रखने का स्थान तथा आयुधागार होना चाहिये। इसके आगे नगराध्यक्ष, धान्याध्यक्ष, व्यावहारिकाध्यक्ष (व्यापारियोंका निरीक्षक अधिकारी), कार्मान्तिकाध्यक्ष (कारखानों तथा खानोंका निरीक्षक) सेनाध्यक्ष, पकाये अन्नकी दूकानें, मद्य मांसकी दूकानें हों। वेश्या, नट आदि तथा वैश्य दक्षिणकी ओर बसाये जायं।

अन्तःपुर और उसके पास गृहादि

पश्चिम-दक्षिण भागमें गधों और ऊंटोंके तबेले, कर्मगृह (कारखाने) तथा पश्चिमोत्तर भागमें शिविका (पालकी) आदि सवारियों तथा रथादि यानोंके लिये स्थान बनाये जायं। इसके बाद ऊन, सूत, बांस, चमड़े, वर्म और शस्त्रावरणके कारीगरों तथा शूद्रोंको पश्चिम ओर बसावे। उत्तर-पश्चिमकी ओर पण्यगृह—बिक्रीवाली वस्तुओंके गोदाम तथा औषधालय और उत्तर-पूर्वके भागमें कोश तथा गाय बैलों और घोड़ोंके लिये स्थान बनवाना चाहिये। इसके आगे उत्तर दिशाकी ओर नगर देवस्थान और राजकुलके देवस्थान, लुहारों, मणियारों और ब्राह्मणोंके निवासस्थान होने चाहिये। बीचमें जो जगह छूट गयी हो, उसमें धोबी, दर्जी, तांती आदि तथा विदेशोंसे आनेवाले व्यापारियोंको बसाना चाहिये। अपराजिता (दुर्गा),

नगरकी चारों दिशाओंमें चार देवताओंकी स्थापना

अप्रतिहत (विष्णु), जयन्त, वैजयन्त (इन्द्र), शिव, वैश्रवण (वरुण), अश्विनीकुमार, लक्ष्मी और मदिरा इन देवताओंके मन्दिर नगरके मध्यमें बनवाने चाहिये। कोष्ठागारोंके वास्तु देवताकी भी स्थापना करे। नगरकी चारो दिशाओंके चार देवता ये होते हैं—उत्तरके ब्रह्मा, पूर्वके इन्द्र, दक्षिणके यम और पश्चिमके सेनापति (कार्त्तिकेय)। नगरके चारो ओर की परिखासे बाहर १०० दण्डकी दूरीपर चैत्य, पुण्यस्थान, जंगल तथा जलाशय बनवाये जायं और वहीं भिन्न-भिन्न दिशाओंके देवताओंकी स्थापना की जाय। नगरके पूर्व वा उत्तर श्मशान होना चाहिये। दक्षिणमें शूद्रोंका श्मशान रहना चाहिये।

कौटिल्यने अन्तःपुर निर्माणके विषयमें जो कुछ लिखा है, उससे जाना जाता है कि उनका अभिप्राय किला दरकिला बनानेका है, क्योंकि 'निशान्त प्रणिधि' प्रकरणमें उन्होंने बताया है कि

राजभवन और भूल भुलैया

वास्तु विद्यामें प्रवीण मनुष्य जिस स्थानकी प्रशंसा करे, उसमें प्राकार, द्वार और अनेक कक्षाओं वा ड्योढ़ियोंसे युक्त अन्तःपुर बनाया जाय। इसके बीचमें अपने रहनेके लिये राजभवन बनवावे। इसके चारो ओर ऐसे मकान बनवाये जायं जिनकी दीवारों और रास्तेके सिलसिलेका पता न लगे अर्थात् मोहनगृह हों। मोहनगृहको ही भूलभुलैया कहते हैं। मोहनगृहके बीचमें भूमि खुदवाकर राजा अपना वासगृह बनवावे। यह वासगृह तहखानेके समान रहेगा। इस प्रकारकी भूलभुलैयामें रहनेका कारण शत्रुके आक्रमणसे बचना ही है। इसके द्वारके पास ही दुर्गा आदि किसी देवताकी मूर्त्ति अवश्य होनी चाहिये और उसमें जाने आनेके लिये सुरंग होनी चाहिये। अथवा ऐसा प्रासाद बने जिसकी दीवारोंमें जाने आनेका गुप्त मार्ग अथवा पोले खम्भोके भीतरसे चढ़ने उतरने और बाहर जानेका मार्ग हो वा ऐसा महल बनावे जो यन्त्रोंपर खड़ा रहे, जिससे इच्छानुसार वह गिराया भी जा सके। ऐसा वासगृह विपत्तिके समय के लिये तो अवश्य ही बनवा लेना चाहिये। यदि राजाको सन्देह

हो कि मेरे शत्रु राजाने भी ऐसा ही वासगृह बनवाया है, तो अपनी बुद्धि और कल्पनाके अनुसार वह अन्य प्रकारका वासगृह बनवा सकता है।

अन्तःपुरमें आग न लग सके इसलिये मनुष्यकी हड्डीमें बांसकी रगड़से उत्पन्न होनेवाली आगसे अन्तःपुरका स्पर्श कराते हुए साथसाथ इस विषय के अथर्व मन्त्रोंका उच्चारण करते हुए बायीं ओरसे तीन परिक्रमाएँ करा देनी चाहिये। इसी प्रकार बिजली गिरनेसे जले हुए पेड़की राख लेकर उसमें उतनी मिट्टी मिलाकर धतूरके पानीके साथ गूंधकर यदि दीवारपर उसका लेप कर दिया जाय, तो भी मकानमें आग नहीं लग सकती। गिलोय वा गुड़च, शंखपुष्पी, काली पांडरी और करौंदेके पेड़पर लगे बन्देकी माला आदिके लगानेसे अन्तःपुर में सर्प तथा अन्य विषोंका कोई प्रभाव नहीं होता। बिल्लियां, नेवले, हिरन और मोर घरमें रहनेपर साँपको खा जाते हैं। तोता, मैना और बड़ा भौंरा साँपके विषकी आशंकासे चिल्लाने लगते हैं। क्रौंच पक्षीके पास विषके पहुँचते ही यह व्याकुल हो उठता है। जीवञ्जीव विषको देखते ही हर्ष-रहित खिन्न हो जाता है। कोयल विष देखते ही मर जाती है। चकोरकी आखें विष देखते ही लाल हो जाती हैं। इन सब उपायों द्वारा आग और विषसे रक्षा करनी चाहिये।

आग और सर्प आदिक विषसे रक्षाका उपाय

राजाके वासगृहके पीछेकी ओरके कक्ष्या विभागमें अन्तःपुर—रनिवास बनाया जाय। उसके पास ही प्रसूता स्त्री, रुग्ण तथा असाध्य रोगियोंके लिये पृथक्पृथक् तीन स्थान बनाये जायं। इनके साथ ही छोटेछोटे उद्यान तथा जलाशय रहें। इससे बाहरकी ओर राजकन्याओं तथा बालक कुमारोंके घर रहें।

रनिवास और राजाका वासगृह

राजाके निवास स्थानके आगे की ओर पहले सुन्दर घास तथा फलोंसे युक्त उपवन अथवा सुन्दर शोभायुक्त महल होना चाहिये। इसके आगे

मंत्रसभागृह, उपस्थान और अध्यक्षों के कार्यालय

मंत्रसभागृह (राज्य-कार्य सम्बन्धी मंत्रणा भवन), फिर उपस्थान वा दरबारका स्थान और इसके आगे युवा राजकुमारोंके स्थान तथा अध्यक्षोंके कार्यालय होने चाहिये । कक्षाओंके बीचबीचमें कंचुकी (खोजा) तथा अन्तःपुर रक्षक अन्य पुरुषोंका समूह रहे ।

कोशगृह

कोशगृह आदि बनानेके विषयमें कौटिल्यका आदेश है कि जहाँ सोड़ (नमी) न हो और पानी न हो, ऐसे स्थानपर खोदकर भूमिगृह—तहखाना बनाया जाय, चारों ओरसे उसकी दीवारों और नीचेकी जमीनको बड़ी-बड़ी शिलाओंसे दृढ़ कराके बीचमें मजबूत लकड़ीसे एक तितल्ला पिंजरा-सा बनाया जाय । इसमें अनेक कोठरियां हों, निचले, बिचले तथा ऊपरके तल्लेमें बढ़िया फर्श लगे हों, दरवाजे और सीढ़ियां यंत्रयुक्त हों तथा किवाड़ोंपर देवताओंकी आकृतियाँ बनी हों । इसके ऊपर दोनों ओरसे बन्द होनेवाले सामने बरामदोंसे युक्त पक्की इटोंसे मजबूत किया हुआ, चारों ओरसे विविध द्रव्योंसे भरे हुए मकानों से घिरा हुआ कोशगृह बनाना चाहिये । जनपदके मध्यमें विपत्तिमें काम आनेके लिये बध्य पुरुषों द्वारा भुवनिधि वा स्थायी कोशगृहका निर्माण कराया जाय । बध्य पुरुषोंसे बनवानेका हेतु यह है कि गृह निर्मित हो जानेपर इनका तो बध हो दी जायगा, इसलिये इसका भेद किसीको ज्ञात न होगा ।

कोष्ठागार, कुप्यगृह और आयुधागार

कोष्ठागार और पण्यगृह पक्की ईटोंसे बने चारों ओर चार मकानोंसे युक्त हों । द्वार तो उसमें एक ही हो, पर कोठरियां अनेक हों और तल्ले भी अनेक हों । चारो ओर खुले खम्भोंवाले चबूतरे हों, लम्बी-लम्बी अनेक शालाओंसे युक्त चारो ओर कोठरियोंसे घिरी हुई दीवारोंवाला कुप्य-गृह भीतरकी ओर बनाया जाय । भूमिगृहयुक्त उस कुप्यगृहको आयुधागार बनावे ।

धर्मस्थों वा महामात्रों द्वारा दण्ड पाये हुए स्त्री-पुरुषोंके लिये बन्धनागार या कारागृहमें पृथक्-पृथक् स्थान रखा जाय। बाहर निकलनेके मार्ग तथा चारो ओरके स्थानोंकी रक्षा की जाय। इन सब स्थानोंमें शाला, परिखा तथा कुएँकी भाँति स्नानागार बनाये जायं तथा अग्नि और विषसे पूर्वोक्त उपायोंद्वारा इनकी रक्षा की जाय। रक्षकोंद्वारा इनकी रक्षा भली भाँति करायी जाय तथा देवताओंकी पूजा भी करायी जाय। कोशगृहके देवता कुबेर, कोष्ठागारकी अधिष्ठात्री श्री, कुप्यगृहके देवता विश्वकर्मा, आयुधागार के यम और बन्धनागारके वरुण हैं। कोष्ठागारमें वृष्टि मापनेके लिये एक कुण्ड बनाया जाय, जिसमें वर्षाका जल गिरनेसे वृष्टिकी इयत्ता का पता लगे। इसका मुँह एक अरत्नि वा २४ अंगुल होना चाहिये।

दुर्गमें कौन सामग्री सदा रहे ?

रस, सार (चन्दनादि), फल्गु (वस्त्रादि) और कुप्य (लकड़ी, चमड़ा बांस, छाल), घी, तेल, क्षार, नमक, औषध, सूखे साग, भूसा, सूखा मांस, घास, लकड़ी, कोयला, लोहा, स्नायु (तांत), विष, सींग, सरदारु (अच्छी लकड़ी), हथियार, कवच, पत्थर आदि वस्तुएँ दुर्गमें इतनी अधिक मात्रामें रखी जायं कि वर्षों काम आवें। पुरानी हो जांय, तो उनके बदले नयी रखी जायं।

बाहर वालोंको सीमान्तमें बसावे

बाहरी लोगों वा परदेशियोंको भी राजा किसी प्रकार भी नगरमें न बसने दे। ये पुर और राष्ट्रके उपघातक होते हैं। यदि इन्हें बसाना ही हो, तो राजा इन्हें सीमाप्रान्तमें बसावे और वहां बसनेवाले अन्य परिवारोंकी भाँति इनसे भी कर ले।

श्मशान

नगरके उत्तर वा पूर्वकी ओर श्मशान होना चाहिये। पाषण्डों (कापालिक आदि) तथा चाण्डालोंके स्थान श्मशानके पास ही होने चाहिये।

फल फूलके बाग, कमल आदिके समूह तथा अन्य सागोंकी क्यारियां

बनायी जायं और राजा तथा अधिकारी पुरुषोंकी सम्मतिसे अन्य विविध विक्रेय वस्तुएं भी उनमें उपजायी जायं। बीस हलोंसे जोती जानेवाली भूमि सींचनेको एक कुआं होना चाहिये।

बाग बगीचे

शुक्रनीतिसारमें नगर-निर्माणके विषयमें जो बातें बतायी गयी हैं, वे इतनी अपूर्ण हैं कि उनके वर्णनसे कोई लाभ नहीं हो सकता।

हिन्दुओंकी सभ्यता और नगरनिर्माणकलाका पता तो इतनेसे ही लग जाता है कि यूनानी लेखकोंके अनुसार सिकन्दरने अकेले पंजाबमें २००० से अधिक नगर जीते थे। इसलिये कौटिल्यके नगरनिर्माण के सिद्धान्तोंसे इतिहासका कोई संबंध है वा नहीं यह जाननेको पाटलिपुत्र, उज्जयिनी और कान्यकुब्ज इन तीन नगरोंका संक्षेपसे उल्लेख करते हैं।

हिन्दू सभ्यता के समयके नगर

एरियनके अनुसार 'भारतीय नगरोंकी संख्या इतनी अधिक है कि निश्चयपूर्वक बतायी ही नहीं जा सकती। परन्तु ऐसे नगर नदियोंके किनारे बसे हैं और काठके बने हैं, क्योंकि ईंटोंके बनाये जाँय, तो भीषण वर्षामें टिक नहीं सकते। परन्तु जो नगर ऊँचेपर बसे होते हैं, वे ईंटों और मिट्टीके भी बने होते हैं। भारतका सबसे बड़ा नगर प्राच्यों के राज्यमें है और पालिमबोथरा (पाटलिपुत्र) कहाता है। वहाँ एरन्नबोआज (हिरण्यबाह) और गंगाका संगम होता है।' मेगस्थनीज पाटलिपुत्रके विषयमें कहता है कि वह दोनों ओर १०।१० मीलतक बसा है और उसकी चौड़ाई दो मील है। उसके चारो ओर ६०० फुट चौड़ी और ३० हाथ गहरी नहर है और उसके प्राकारपर ५७० अट्टालक हैं तथा उसके ६४ द्वार हैं। फाहियानने जब पाटलिपुत्र देखा था, तब वह ध्वस्त हो चुका था, पर प्राकारके वप्र खड़े थे।

पाटलिपुत्रका ऐश्वर्य

सातवीं ईसवी शताब्दीमें उज्जयिनी नगरी कैसी थी इस विषयमें काद-

म्बरीकार बाण भट्टने लिखा है, 'त्रैलोक्यका सबसे जगमगाता रत्न उज्जयिनी नगर है। उसके चारो ओर नरकके समान गहरी खाई है और वह घेरों और प्राकारोंसे घिरा है और पलस्तर से कैलासकी भाँति श्वेत जान पड़ता है। उसके बड़े-बड़े बाजार अगस्त्यसे सोखे हुए समुद्रकी भाँति दूर लगे हुए हैं, जिनमें बालूकी जगह स्वर्णरज, शङ्ख, सीपके मोती, मूंगे और पुखराज पड़े हुए हैं। चित्रोंसे दूकानें चित्रित हैं और उनमें देवचित्र हैं। उनकी चौमुहानियाँ मन्दार जैसे मन्दिरोंसे चमक रही हैं, जो मथानीसे उठे हुए दूधके फेनके समान श्वेत हो रही हैं। हरे हरे मैदानोंमें केतकीके पेड़ हैं। वे हरे बागोंसे काले हो रहे हैं, जो बराबर उन कुओंके पुरोंसे सींचे जा रहे हैं जिनपर बैठनेको ईंटें जड़ी हुई हैं। इनसे शोभा और भी बढ़ गयी है।'

उज्जयिनीका उत्कर्षकाल

चीनी पर्यटक श्यूआन चुआङ्ने कान्यकुब्जका वर्णन इस प्रकार किया है:—नगरके चारो ओर खाई है जिसपर सुदृढ़ ऊँचे अट्टालक आमने सामने बने हुए हैं। चारो ओर फूल, जंगल, स्वच्छ जलाशय और चमकते तड़ाग दिखायी देते हैं। और यहाँ चारों ओरसे बहुमूल्य पण्य एकत्र होता है। लोग सुखी और संतुष्ट हैं, घर अच्छे बने हुए हैं और सम्पन्न हैं। सर्वत्र फूल और फल दिखायी देते हैं।' श्यूआन चुआङ्के समय कनौज नगर ३॥ मील लम्बा और पौन मील चौड़ा था। महमूदके आक्रमणके समय उसका ऐश्वर्य बहुत बढ़ गया था। उस समय वह अपना सिर आकाशतक ऊँचा किये था और दृढ़ता और बनावटमें अद्वितीय होनेका अभिमान कर सकता था।

कान्यकुब्जकी ईश्वरता

———

१५ नगरव्यवस्था

नगरमें सुव्यवस्था रखनेके लिये अर्थशास्त्रमें जिस अधिकारी पुरुषकी नियुक्ति आवश्यक बतायी गयी है, उसका नाम कौटिल्यने 'नागरिक' रखा है। इसे सब वे अधिकार प्राप्त होते थे, जो भारतमें लोकल सेल्फ गवर्नमेंटके आरम्भके पहले जिला अफसरोंको प्राप्त थे। नगरके भीतरकी शान्ति, सुव्यवस्था और स्वच्छता रखनेहीका भार इसपर न था, प्रत्युत लोगोंसे कर लेने और नियम विरुद्ध आचरण करनेवालोंको दण्ड देनेका भी इसे अधिकार था।

नागरिक और उसके अधिकार

नगरकी सुव्यवस्थाके लिये सबसे पहले नागरिकको उसके विभाग करने चाहिये। नगरका सबसे बड़ा अधिकारी नागरिक और सबसे छोटा गोप होता था। गोप मुहल्ले या वार्डका अधिकारी होता था। ये वार्ड दस, बीस और चालीस कुलोंके होते थे। गोपका कर्त्तव्य था कि अपने अधीन मुहल्लेके स्त्री पुरुषोंके वर्ण, गोत्र, नाम, कार्यों या पेशोंके साथ साथ उनकी संख्या और आय-व्यय भी जाने। गोपोंके ऊपर स्थानिक वा लोकल आफिसर होता है। इसका अधिकार दुर्गके चौथे भागपर होता है। इसलिये चार स्थानिक होते थे। नागरिकके नीचे स्थानिक और इसके नीचे गोप होते थे।

गोपा और स्थानिक

नगरमें जो धर्मशालाएं हों, उनके अधिकारी पाषण्डों (बौद्ध, जैन आदि) पथिकोंको गोपकी अनुमतिके विना न ठहरावें, परन्तु जिन तपस्वियों वा श्रोत्रियोंको वे जानते हों, उनके लिये अनुमति लेनेका प्रयोजन नहीं है। कारुशिल्पी वा कारीगर अपने विश्वस्त यात्रियोंको अपने कर्मस्थान वा कारखानोंमें और व्यापारी अपनी दूकानोंमें ठहरा सकते थे। परन्तु

धर्मशालाओंमें कौन ठहराये जायँ?

देश कालके विपरीत वस्तु बेंचनेवाले वा परायी वस्तुका व्यवहार करनेवाले के विषयमें सूचना दे दें। मद्य, पकाया मांस तथा अन्न बेंचनेवाले—शराब बेंचनेवाले और होटलवाले और वेश्याएँ अपने परिचितोंको ठहरा लें, परन्तु जो बहुत अधिक व्यय करता हो वा बहुत मद्यपान करता हो, उसकी सूचना गोप वा अधिकारीको दे दें।

जो लोग हथियार आदिके घावोंकी चिकित्सा गुप्त रूपसे कराते हों अथवा रोग वा मरी आदि फैलानेवाले द्रव्योंका उपयोग करते हों, उनकी चिकित्सा करनेवाला यदि अधिकारीको सूचना दे देता है, तब तो निर्दोष समझा जाता है। पर यदि नहीं देता, तो चिकित्सकके समान ही दण्डनीय होता है। जिस घरमें ऐसा कार्य होता हो, उसका स्वामी यदि सूचना न दे, तो अपराधीके समान ही दण्डभागी होता है। यदि किसी घरका स्वामी अपने यहाँ आये वा गये हुई मनुष्यके विषयमें सूचना न दे और वह रातको कोई चोरी आदि करे, तो सूचना न देनेके अपराधमें गृहस्वामीसे प्रति रात्रि ३ पण दण्ड लिया जाय।

दण्डनीय कौन है ?

व्यापारी आदिके वेषमें बड़े बड़े मार्गोंमें तथा ग्वाले, लकड़िहारे आदिके वेषमें जंगलोंमें घूमनेवाले चार नगरके भीतर बाहरके देवालयों, तीर्थस्थानों, जंगलों अथवा श्मशानोंमें यदि हथियार आदिके घाववाले, निषिद्ध वस्तु पास रखनेवाले, शक्ति से अधिक भार उठाये हुए, डरे वा घबराये हुए, घोर निद्रामें सोये हुए, लम्बी यात्राके कारण थके हुए मनुष्य वा अजनबीको देखें, तो पकड़ लें। परराष्ट्रके चार ऐसे वेषोंमें स्वराष्ट्र का किसी प्रकारका भेद न लेने पावें, इसीलिये उनको बंधुआ बनानेको कहा है। यही नहीं, नगरके अन्दर, शून्य स्थानों, आवेशनों वा शिल्पशालाओं, शौण्डिकों (सूँडियां), औदनिकों (होटलवालों), पक्कमांसिकों, द्यूत (जुआड़-खानों) और पाषण्डोंके स्थानोंमें ऐसे लोगोंकी खोज की जाय।

चार अपराधियोंको खोजें

गर्मीकी ऋतुमें दिनके बीचके चार भागोंमें फूस आदिके घरोंमें कोई आग न जलाने पावे। जो इस निषेधाज्ञाका उल्लंघन करे अर्थात् दूसरे और तीसरे भागमें फूसके मकानोंमें आग जलावे, तो उससे अष्टभाग पण दण्ड लिया जाय। मकानके बाहर आग जलायी जा सकती है। जो कोई ५ घड़ी-तक निषिद्ध समयमें अग्निकार्य करे, तो वह चतुर्थ पण दण्डका भागी होता है। दण्डका भागी वह मनुष्य भी होता है, जो गर्मीकी ऋतुमें अपने घरके द्वारके सामने पानीभरे घड़े, पानीभरी द्रोणी (लकड़ीकी नांद), नसेनी, कुल्हाड़ा, सूप (छाजके सामने फैले हुए धुएँको रोकने के लिये), भीतर से कपड़े आदि निकालनेके लिये अंकुश, छप्परका फूस आदि उतारनेको कच ग्रहणी और दती (मशक) न रखे। कौटिल्यकी इस व्यवस्थासे फायरब्रिगेडकी आवश्यकता नहीं रह गयी थी और लोगोंमें निश्चय ही स्वावलम्बन पूर्वक सहयोगकी प्रवृत्ति बढ़ी होगी। फिर भी उनका मत था कि गर्मीमें फूस और चटाईके मकान रखे ही न जायँ। अग्निजीवियों को कौटिल्यने एक ही मुहल्लेमें बसानेकी सम्मति दी है। सुनार, लुहार, इत्यादि एक ही मुहल्लेमें रखनेसे दूसरे मुहल्लोंमें आगका उपद्रव नहीं हो सकता। गृहस्वामियोंको गर्मीमें रातको द्वारपर सोनेका उपदेश दिया है। इसका अभिप्राय यह है कि कहीं आग लगे, तो सब एक साथ दौड़ पड़ें। गलियोंमें पानीके हजार घड़े रहें। ऐसी ही व्यवस्था चौराहों, नगरके प्रधान द्वार और अश्वशाला, आदिमें भी की जाय। यह तो घरवालों और राज-कर्मचारियोंका कर्त्तव्य हुआ। इतनी व्यवस्थाके बाद भी यदि आग लग जाय और उसे देखकर भी जो न बुझावे, तो उसे १२ पण और उस घरमें भाड़ेपर रहनेवाला ऐसी ही उपेक्षा करे, तो उसे ६ पण दण्ड दिया जाय। यदि किसीकी असावधानीसे घरमें आग लग जाय, तो उसपर ५४ पण दण्ड दिया जाय। यदि कोई आग लगाता पकड़ लिया जाय, तो उसे प्राणदण्ड दिया जाय। अन्यत्र ऐसे मनुष्यको आगमें जलानेका आदेश दिया गया है। इसका कारण यह है कि वह राजापराधिक (सार्वजनिक शत्रु—

नगरवासियों के कर्त्तव्य

public enemy) है। यह व्यवस्था धर्माचार्योंको सम्मत है, क्योंकि मनुस्मृतिमें[1] आततायीको बिना विचारें मार डालनेको कहा है।

अब नगरकी स्वच्छताके विषयमें कौटिल्यका आदेश है कि जो सड़कपर कूड़ा कर्कट या मिट्टी डाले, उसे अष्टभाग पण और जो मारे कीचड़ या पानीसे सड़क रोके, उसें चौथाई पण दण्ड दिया जाय। परन्तु जो यही अपराध 'राजमार्ग' पर करे, तो उसे इससे दूना दंड दिया जाय। इसी प्रकार यदि कोई मनुष्य राजमार्ग, पुण्यस्थान, उदकस्थान (नदी, कुएं, बावली वा तालाब), देवगृह वा राजपरिग्रह आदिमें विष्ठा डाले अथवा मलत्याग करे, उसे उत्तरोत्तर १ पण अधिक दण्ड दिया जाय। अर्थात् राजमार्गपर मलत्याग करनेवालेको १ पण, पुण्यस्थानमें २ पण, उदकस्थानमें ३ पण, देवालयमें ४ पण और राजपरिग्रहमें मल त्यागनेवालेको ५ पण दण्ड होना चाहिये। मूत्रत्यागका दण्ड आधा है। जिसने विरेचनकी औषधि खायी हो, अथवा जो अतिसार, प्रमेह आदिका रोगी हो अथवा भयके कारण ऐसा कार्य करे, तो उसे दण्ड न दिया जाय। बिल्ली, कुत्ते, नेवले और सांपके मर जानेपर कोई इन्हें यदि नगरके बीचमें डाल दे, तो ३ पण, मरे गधे, ऊंट वा खच्चरको डाल दे, तो ६ पण और मृत मनुष्यको डाल दे, तो ५० पण दण्ड दिया जाय।

नगरकी स्वच्छताके नियम

मुर्दे ले जानेके लिये मार्ग और द्वार निश्चित हो जानेपर जो भिन्न मार्ग और भिन्न द्वारसे मुर्दा ले जाय, तो उसे प्रथम साहस दण्ड दिया जाय और द्वारका जो रक्षक ले जानेवालोंको न रोके, तो उसे २०० पण दण्ड दिया जाय। नियत श्मशानसे अन्यत्र जो मुर्दा गाड़े वा जलावे तो उसे १२ पण दण्ड दिया जाय।

निश्चित मार्गसे मुर्दा ले जाना

---

१ गुरुं वा बालवृद्धौ वा ब्राह्मणं वा बहुश्रुतम्।
आततायिनमायान्तं हन्यादेवा विचारयन्॥ ३५० ॥ अ० ८

चोरों और डाकुओंसे लोगोंकी रक्षाका उपाय भी कौटिल्यने बताया है। कहा है कि रातकी पहली ६ घड़ी अर्थात् दो घंटे ३६ मिनट और अन्तिम ६ घड़ीमें चाहे जो इच्छानुसार चल फिर सकता है। ६ घड़ी समय समाप्त होनेपर बाजेका ऊंचा शब्द किया जाय, जिससे लोग समझ जायं कि अब घूमने फिरनेका निषेध है। पर जब ६ घड़ी रात रहे ऐसा ही ऊंचा शब्द किया जाय, तब समझना चाहिये कि चलने फिरनेका निषेध नहीं रहा। इसे एक प्रकारका करफ्यू आर्डर समझना चाहिये जिसकी सूचना देनेका भार अधिकारियोंपर था। इस रात्रिघोषणाकी अवहेलना करके निषिद्ध समयके प्रथम भाग और अन्तिम भागमें राजभवनके पाससे जाता हुआ कोई मनुष्य देखा जाय, तो उसे १। पण और जो मध्य घड़ियोंमें आवे जाय, उसे २॥ पण दण्ड दिया जाय। नगरके बाहर चलने फिरनेवालेपर चौगुना दण्ड था। शंकनीय स्थानोंमें जो लोग ऐसे समयमें पाये जायं अथवा जिनके पास ऐसी शंकाके चिह्न दिखायी दें तथा जिनकी चोरी आदिकी बात पहले ही ज्ञात हो चुकी हो, उनसे पूछताछ कर व्यवस्था की जाय और यदि वे राजपरिग्रहमें चले जायं वा नगरके वप्र आदिपर चढ़ जायं, तो उन्हें मध्यम साहस दण्ड दिया जाय। परन्तु यदि निषिद्ध समयमें भी कोई मनुष्य सूतिकाके लिये चिकित्सक बुलाने, मुर्दा उठाने, प्रदीपयान (लालटेन) लेकर नागरिक तूर्य (नगरके लोगोंको सूचना देनेके लिये बाजा बजाने), प्रेक्षा (राजासे अनुमत तमाशा देखने) अथवा आग लगनेके कारण इधर उधर जाय, अथवा जिसके पास नागरिककी मुद्रा वा पर्मिट हो, तो वह न पकड़ा जाय।

कौटिल्यका कर्फ्यू-आर्डर

जिन रात्रियोंमें महोत्सवके कारण लोगोंको घूमने फिरनेकी स्वच्छन्दता हो, उनमें भी कोई गुप्त भेषमें अथवा स्त्री पुरुषके वा पुरुष स्त्रीके भेषमें पाया जाय किंवा कोई संन्यासीके भेषमें हाथमें दण्ड अथवा कोई हथियार लिये पाया जाय, तो उसे अपराधके अनुसार दण्ड दिया जाय। जो नगररक्षक

छद्म वेषवाले पकड़े जायं

न रोकने योग्यको रोके और रोकने योग्यको न रोके, उसे दूना वा २॥ पण दण्ड दिया जाय।

नैतिक अपराधोंके लिये भी कौटिल्यने दण्डकी व्यवस्था की है। जो मनुष्य दूसरेकी दासीके साथ गमन करे, तो उसे प्रथम साहस दण्ड, गणिकाके साथ गमन करे तो मध्यम साहस और भार्यारूपसे स्वीकृत किसीकी दासी वा अदासीके साथ गमन करे, उसे उत्तम साहस दण्ड दिया जाय। पर जो कुलीन स्त्रीके साथ बलात्कार करे, वह प्राणवधका दण्ड पावे।

नैतिक अपराधोंके लिये दण्ड

नागरिकके दण्डकी भी व्यवस्था है। चेतन अचेतन सम्बन्धी रात्रिको किये हुए अपराधका पता पानेपर भी यदि नागरिक व्यवस्था न करे, तो दोषानुरूप उसे दंड दिया जाय। मद्यपान करके नगर रक्षामें प्रमाद करनेका जो दंड हो, वही दिया जाय। नागरिकका कर्त्तव्य है कि सदा उदकस्थान, मार्ग, भूमि छन्नपथ (सुरङ्ग), वप्र, प्राकार, रक्षा आदि स्थानोंकी देखभाल भली भाँति करे और खोये, भूले या कहीं छूटे हुए आभूषण, सामान तथा प्राणियोंको तबतक सुरक्षित रखे, जबतक उनके स्वामियोंका ठीक ठीक पता न लगे।

नागरिक भी दण्ड्य है।

राजाके जन्मदिनके अतिरिक्त बालक, बूढ़े, रुग्ण और अनाथ बंदियोंको शुभ नक्षत्रों और पौर्णमासी पर्वपर छोड़नेका नियम कौटिल्यने बताया है। धर्मपूर्वक आचरण करनेकी प्रतिज्ञा करके (नेकचलनीका मुचलका देकर) और निष्क्रय देकर भी लोग छूट सकते हैं। निष्क्रय तीन प्रकार का था, काम कराना, शारीरिक दंड देना (बेंत आदि मारकर) और हिरण्य आदि लेना। नया देश जीतने, युवराजके अभिषेक अथवा पुत्र जन्मपर भी बन्दी छोड़नेकी सम्मति कौटिल्यने दी है।

बँधुओंकी छोड़नेकी व्यवस्था

---

१६ वार्ता और दण्डनीति का सम्बन्ध

बृहस्पतिके अनुयायियोंने जो दो विद्याएं मानी हैं,वे दण्डनीति और वार्ता हैं। ऐसा करना उचित भी है, क्योंकि वार्ताके बिना देश वा राष्ट्र समृद्ध नहीं होता और असमृद्ध वा दरिद्र राष्ट्रके लोगोंमें सुखसन्तोषका सर्वथा अभाव ही रहता है।

वार्तासे सुखसमृद्धि

वार्ताके बिना दण्डनीति लंगड़ी रहती है और उसका सुफल नहीं होता। इसलिये राज्यको वार्ताके विस्तार और उन्नतिका सदा ध्यान रखना चाहिये।

कौटिल्यने जो चार विद्याएं मानी हैं, उनमें लौकिक उन्नतिकी दृष्टिसे वार्ताका प्रथम स्थान है, क्योंकि जैसा सोमदेव सूरि कहते हैं कि वार्ताकी समृद्धिमें राजाकी सभी समृद्धियां रहती हैं।[1] इसलिये जानना चाहिये कि वार्ता क्या है।

वार्ता किसे कहते हैं?

कृषिकर्म, पशुपालन और वणिक्क्रिया वार्ता कहाती है अर्थात् वार्ता वैश्यकर्म है। वेदोंके अनुसार विश् वा वैश्य ही प्रजा थे और बहुत करके इन्हींके लिये राजाके धर्माधिकरणका प्रयोजन था, क्योंकि इन्हींके वाद और प्रतिवाद अधिक होते थे। परन्तु वार्तामें ही कुप्य और विष्टिका भी समावेश होता है। कुप्य तो जंगलमें उत्पन्न होनेवाली चीजें हैं और विष्टि नौकर, चाकर, यान आदि हैं। जिसके घरमें खेती पशुपालन और व्यापार होता है, उसीके घरमें नौकर चाकर और सवारियाँ भी रहती हैं। जहाँ मनुष्य निरुद्यमी होता है, वहाँ वह अकेला ही रहता है।

कृषि, पशुपालन और वाणिज्यका अन्योन्याश्रय सम्बन्ध है और इसीलिये

---

१ वार्तासमृद्धौ सर्वाः समृद्धयो राज्ञः ॥२॥ वार्तासमुद्देशः, नीतिवाक्यामृत

कृषि पशुपालन और वाणिज्य का सम्बन्ध

ये वैश्यकर्म बताये गये हैं। कृषिकर्ममें पशुओंका प्रयोजन होता है और कृषिजात पदार्थ बेंचे जाते हैं। इसलिये जिसके घरमें खेती होती है, वही अच्छा व्यापारी हो सकता है और व्यापारसे अधिक धन कमा सकता है। कृषिजात अन्नका ही व्यापार नहीं चलता, कपास, पटसन, मूंगफली, ऊख तथा शाक, फल इत्यादिका भी क्रय विक्रय होता है। इतना ही नहीं, कपाससे सूत और कपड़ा, पटसनसे सुतली, टाट और बोरा, मूंगफलीसे तेल, ऊखसे गुड़ और चीनी बनती है। कृषिजात पदार्थकी संज्ञा कच्चा माल है और उससे बनी हुई वस्तु तैयार किया हुआ माल कहाती है। जो मनुष्य कच्चा माल बेंचता है, उससे वह मनुष्य अधिक लाभमें रहता है, जो उससे दूसरा माल बनाकर बेंचता है। किसान ही सुभीतेसे पशुपालन कर सकता है, क्योंकि पशुओंका खाद्य उसके खेतमें उपजता है।

वार्त्तासे राजाका सम्बंध

वार्त्ताके द्वारा जो धन धान्य उत्पन्न होता है, उसमें राजाका छठा भाग रहता है और कृषिजात पदार्थों तथा उनसे बने हुए मालसे जो व्यापार होता है, उसपर राज्यको दान और शुल्क मिलता है। इससे राज्य समृद्ध होता है। स्वराष्ट्रकी मंडियोंमें जो माल बिकता है, उसपर लगनेवाला राज्य-कर 'दान' कहाता है। परराष्ट्रोंमें विक्रयके लिये जो माल जाता है अथवा पर-राष्ट्रोंसे स्वराष्ट्रमें विक्रयके लिये जो माल आता है, उसपर निर्गत और आगत 'कर' लगते हैं। इनकी संज्ञा शुल्क है। इसीलिये वार्त्ताकी समृद्धिमें राष्ट्रकी समृद्धि बतायी जाती है।

अन्न संग्रह करना राज्यकर्त्तव्य है।

अन्नाभावसे राज्यकोशकी जो क्षति होती है, उसकी कल्पना राज्यशास्त्रके आचार्योंको अच्छी तरह थी। इसीलिये नारदने राजाको शरत् और ग्रीष्मकी ऋतुओंमें अन्नसंचय करनेका परामर्श दिया है। कारण यह है कि राजाको कमसे कम अपने और अपने कर्मचारियोंके भोजनके लिये अन्न-संग्रह करना ही पड़ता था। इसीसे नारदने कहा है कि जो राजा ग्रीष्म और

शरत्में अन्नका संग्रह नहीं करता और दाम देकर नित्य मोल लेता है, उसके कोशका क्षय होता है,[1] क्योंकि सोमदेव सूरिके अनुसार नित्य हिरण्यव्ययसे मेरुपर्वत भी क्षीण हो जाता है।[2] यही शुक्र दूसरे शब्दोंमें यों कहते हैं कि जिसकी आय तो चार हो और व्यय साढ़े पाँच हो, वह दरिद्रताको प्राप्त होता है, चाहे कुबेर ही क्यों न हों।[3] जहाँ राजाको अन्न मोल लेना (बिसाहना) पड़ता है, वहाँ सदैव दुर्भिक्ष रहता है।[4] अन्नाभावके कारण ही वर्त्तमान भारत में विदेशों से अन्न मँगानेके लिये प्रतिवर्ष १३० करोड़ रुपये व्यय करने पड़ते हैं।

अन्न और गोरसके अभावका कारण

पशुपालन भी व्यापार है। जो लोग अच्छी नस्लके पशु रखते हैं, उनके कृषिकर्ममें ही इनसे सुभीता नहीं होता, व्यापारमें भी वृद्धि होती है। वे पशुओंका क्रयविक्रय तो कर ही सकते हैं, दूध, मक्खन, पनीर और घीका भी व्यापार कर सकते हैं। डेनमार्क, स्विटजरलैंड और अमेरिकामें इस व्यापारकी बड़ी उन्नति हुई है। हमारे देशमें पशुपालन एक कठिन कार्य हो गया है, क्योंकि जिस कृषिसे पशुपालन सुकर था, उसकी ओरसे लोग उदासीन हो गये, इससे चारेका अभाव हो गया। वैश्योंने कृषि और पशु-पालन छोड़ दिया और व्यापारपर ही ध्यान लगाया। ये दोनो कार्य शूद्रोंके हाथमें चले गये, जो इनमें पूंजी लगानेकी योग्यता नहीं रखते। इससे अन्न और गोरसका अभाव हो गया।

कृषि और वाणिज्यका चोली दामनका साथ है यह जर्मनी और अमेरिकाने अच्छी तरह समझ लिया, इसीसे उक्त दोनो देशोंने वाणिज्यमें जो

---

१ ग्रीष्मे शरदि योनान्नं संगृह्णाति महीपतिः
नित्यं मूल्येन गृह्णाति तस्य कोशक्षयो भवेत् ॥ नारदः

२ नित्यं हिरण्यव्ययेन मेरुरपि क्षीयते॥५॥ वार्त्ता समुद्देशः,नीतिवाक्यामृत

३ आगमे यस्य चत्वारि निर्गमे सार्द्ध पञ्चमः।
स दरिद्रत्वमाप्नोति वित्तेशोऽपि स्वयं यदि ॥शुक्रः

४ तत्र सदैवदुर्भिक्षंयत्रराजाविसाधयति॥६॥वार्त्तासमुद्देशः नीतिवाक्यामृत

तीनोंमें सहयोग आवश्यक

उन्नति की वह अंगरेज नहीं कर सके, क्योंकि अंगरेजोंको दिसावरसे कच्चा माल ही क्यों, खाद्य पदार्थ भी मंगाने पड़ते हैं और जर्मनी तथा अमेरिकाको स्वदेशमें ही कच्चा माल मिल जाता है। इसलिये कृषि, पशुपालन और वाणिज्य तीनों काम एक साथ और परस्परके सहयोगसे चलते और पनपते हैं। जिस देशमें इनका सहयोग नहीं होता, वे इनसे व्यापारिक होड़में नहीं जीत सकते।

वणिग्जन भी समृद्धि के बाधक होते हैं।

आजकल ही नहीं, प्राचीन कालमें भी व्यापारी व्यापारके नियमोंका उल्लंघन करके ग्राहकोंको ठगा करते थे। आजकल तो सिंहल और ईरानसे शिकायतें आ रही हैं कि यहाँसे जो माल वहाँ गया है या तो नमूनेके अनुसार नहीं है या उसमें कवाड़ किया गया है। सिंहलवालोंका कहना है कि लहसुन, जीरा और धनिया आदि मसाले जो यहाँसे वहाँ गये हैं, वे शुद्ध नहीं हैं और उनके दाम भी अधिक हैं। इसलिये १९४८ के पूर्वार्द्धमें जितना माल यहाँसे गया था, उससे इस वर्षके पूर्वार्द्धमें बहुत कम गया है। इसी तरहकी शिकायत ईराननें भी की है। व्यापारी अधिक लाभके लिये कैसे दिसावर खो रहे हैं इसका एक और उदाहरण चीनीके व्यापारी हैं। क्यूबाकी चीनी क्यूबासे पाकिस्तान पहुँचकर भी सस्ती बिकती है, इसलिये पाकिस्तान भारतकी चीनी नहीं ले सकता। जबतक और देशों के बराबर हमारा माल अच्छा और सस्ता अथवा उन्हीं दामोंका न होगा, तब तक इसे कौन लेगा? वाणिज्यके ह्रासके साथ ही राष्ट्रकी समृद्धिमें बाधा पड़ती है। देशके दैनिक उपयोगमें आनेवाले पदार्थोंके दाम बढ़ानेवाले और ठीक दामोंपर बेंचना अस्वीकार करनेवाले वार्द्धुषिक कहाते हैं। इनसे भी देशकी समृद्धिमें बाधा पड़ती है।

बनिये प्रत्यक्ष चोर क्यों है?

यद्यपि राष्ट्रकी समृद्धिका बड़ा भारी कारण व्यापार और व्यापारी हैं, तथापि अपने अतिलोभके कारण राज्य-शास्त्रकर्ताओंकी दृष्टिमें सबसे अधिक निन्दनीय भी हैं। वार्द्धुषिक तो कार्याकार्यके विचारसे रहित बताये ही गये हैं, पर बनिये

प्रत्यक्ष चोर अर्थात् आँखोंका काजल निकाल लेने वाले कहे गये हैं ।[1] परन्तु उनपर वैश्य जातीय होनेके कारण ही यह लाञ्छन नहीं है । जो कोई, चाहे ब्राह्मणही क्यों न हो, वणिक् वृत्ति करता है, वह इसी प्रकार लोभी होकर अन्यायसे धनोपार्जन करनेमें संकोच नहीं करता, क्योंकि लोभ उसे विवेक-शून्य बना देता है । बनिये कैसे प्रत्यक्ष चोर होते हैं इस विषयमें वल्लभदेव कहते हैं[2] कि बटखरेसे कुछ, तुला वा तराजूसे कुछ, मूल्यसे कुछ और तोलनेके ढंगसे कुछ वे चुराते हैं, इस लिये प्रत्यक्ष चोर हैं ।

दूसरा कारण शुल्कवृद्धि

वाणिज्यमें बाधक एक दूसरा कारण भी होता है और वह है राज्यकीय शुल्कको वृद्धि । शुल्क वा दान दो प्रकारका होता है एक स्वदेशमें स्वदेशी व्यापारियों पर लगता है और दूसरा विदेश जाने वाले मालपर लगता है । पहला स्वदेशी व्यापारी देते हैं और दूसरा विदेश जानेपर भाण्ड वा पण्यका दाम बढ़ा देता है । इसे विदेशी व्यापारियोंको देना पड़ता है । यदि राज्य इस निर्गत व्यापारपर शुल्क बहुत अधिक बढ़ा देता है, तो उसका फल भाण्ड वा पण्यके दामोंपर होता है और तदनुसार दाम बहुत बढ़ जाता है । यदि इन दामोंपर अन्य देशोंके उसी मालसे हमारा माल चढ़ा उपरी करके बिक सके, तो ठीक है, नहीं तो व्यापार नहीं चलता । इस सम्बन्धमें शुक्र का कहना है कि जहाँ शुल्क बढ़ा दिया जाता है, वहाँ बलात् मूल्य बढ़ जाता है वहाँ स्वप्नमें भाण्ड विक्रयी नहीं जाता । इस लिये शुल्क

---

१ न वणिग्भ्यः सन्ति परे पश्यतो हराः ॥१७॥
वार्त्ता समुद्देश, नीतिवाक्यामृत

२ मानेन किञ्चिन्मूल्येन किञ्चि
त्तुलयापि किञ्चित्कलयापि किंचित्
किञ्चिच-किञ्चिचगृहीतुकाया
प्रत्यक्ष चौरा वणिजो नराणाम् ॥ वल्लभदेवः

उतना ही रखना चाहिये, जितनेसे व्यापार चलता रहे, उसमें बाधा न पड़े।

राज्यको वार्द्धुषिकों और जो लोभ वश अच्छा माल कह कर सड़ा या कूड़ा कर्कट दे देते हैं, उनको राष्ट्रका कंटक समझना चाहिये और कंटक शोधन द्वारा उन्हें दण्ड दिलाना चाहिये, क्योंकि व्यापार नष्ट होनेसे राष्ट्रकी श्रीवृद्धिको धक्का लगता है और अन्तमें राष्ट्रहानि होती है। सोमदेव सूरिने भी कहा है कि चौर, चरण (बहिष्कृत वा निःसारित), धमन (लेवाल और बेचवालके बीचका मूल्य निर्णय करनेवाले), राजवल्लभ (राजाके प्रिय), आटविक (जंगली लोग), तलार (चौकीदार वा रक्षक), अक्षशाला (एका-उंट्स आफिस) और कण्टकशाला (स्पेशल ट्राइब्यूनल खासअदालत) के राजाधिकारी, ग्रामकूट (बलाधिकारी) और वार्द्धुषिक (मूल्य बढ़ाकर अकाल लानेवाले वणिक्‌जन) ये सब राष्ट्रकण्टक हैं। इसलिये प्रताप दिखाकर निष्ठुर होकर इनका दमन करना चाहिये।

राज्यकी सतर्कता

परिशिष्ट (अ)

१—भूमिकी मापका मान

शुक्रनीतिसारके अनुसार

अ० १ श्लो० १९६-२०८

बीचकी उंगलीकी बीचकी पोर ८ जौओंका मध्य भाग वा ५ लम्बे जौ	=	१ अंगुल
५ जौ	=	१ अंगुल (मानव)
२४ अंगुल	=	१ प्राजापत्य हस्त
४ हस्त वा ६०० जौ (मानव)	=	१ लघु दण्ड
५ हस्त वा ७६८ जौ (प्राजापत्य)	=	१ दीर्घ दण्ड
३००० अंगुल वा १५००० जौ वा १२५ मानव हस्त	=	१ निवर्त्तन
२४०० अंगुल वा १०० हस्त वा १९२०० जौ	=	१ निवर्त्तन(प्राजापत्य)
२५ दण्ड	=	१ निवर्त्तन भुज
६२५ दण्ड	=	१ निवर्त्तन (वर्ग)
७५००० अंगुल वा ३१२५ हस्त वा ३ लाख जौ	=	१ परिवर्त्तन
६०००० " वा २५०० हस्त वा ४८०००० जौ	=	१ परिवर्त्तन (मानव)
४००० हस्त वा ८०० दण्ड	=	३२ निवर्त्तन मानव
२५ दण्ड	=	१ परिवर्त्तन भुज
१०००० हस्त	=	परिवर्तन क्षेत्र

अर्थशास्त्रके अनुसार

८ परमाणु	=	१ धूलीकण (रथके पहियेसे उड़ा धूलका कण)

८ धूलीकण	=	१ लिक्षा (लीख)
८ लिक्षा	=	१ यूकामध्य (जुएका बीचका भाग)
८ यूकामध्य	=	१ यवमध्य (जौके बीचका भाग)
८ यवमध्य	=	१ अंगुल
४ अंगुल	=	१ धनुर्ग्रह
२ धनुर्ग्रह	=	१ धनुर्मुष्टि
१॥ धनुर्मुष्टि	=	१ वितस्ति (बित्ता या बालिश्त)
२ वितस्ति	=	१ अरत्नि (हाथ) प्राजापत्य
४ अरत्नि	=	१ दण्ड, धनु, नालिका वा पौरुष
१० दण्ड	=	१ रज्जु
२ रज्जु	=	१ परिदेश
१॥ परिदेश	=	१ निवर्त्तन
६६⅔ निवर्त्तन वा २००० दण्ड	=	१ गोरुत
४ गोरुत	=	१ योजन

(२)

१४ अंगुल	=	१ शम वा शल वा परिरय वा पैर
२८ "	=	१ हाथ (विर्वात वा गोचर वा लकड़ी-की तुला नापनेके काम आता है)।
३२ "	=	१ किष्कु वा कंस (छावनी आदिमें लकड़ी चीरनेको)
४२ "	=	१हाथ (छावनी आदिमें बढ़ईके कामके लिये)
५४ "	=	१ हाथ (कुप्य द्रव्य और जंगल सम्बन्धी कामोंके लिये)
८४ "	=	१व्याम (रस्सी तथा कुएँ खाई आदि नापनेके लिये)

१०८ अंगुल	= १ गार्हपत्य धनु (सड़क और परकोटा आदि नापनेको)
	= १ पौरुष (यज्ञ सम्बन्धी कार्योंके लिये)
६ कंस	= १ दण्ड (ब्राह्मणादिको भूमि देनेके लिये)

शुक्रनीतिसार और अर्थशास्त्र दोनो उँगुलीकी मापपर सहमत हैं, क्योंकि साधारणतः मनुष्यके हाथकी बीचकी उँगलीका बीचका पोर ८ जौओंके मध्य भागकी मुटाईके बराबर होती है। २४ अंगुलका प्राजापत्य हस्त शुक्रनीतिसारमें बताया गया है। कौटिल्यके हिसाबसे भी २४ अंगुलका हाथ होता है, क्योंकि २ वित्तेका हाथ अर्थशास्त्रमें बताया गया है। यह ३ धनुर्मुष्टिका होता है और १ धनुर्मुष्टि ८ अंगुलकी कही गयी है। रज्जु कदाचित् जरीब है जिससे खेत आदि मापे जाते हैं। इसका उल्लेख शुक्रनीतिसारमें नहीं मिलता। निवर्त्तनकी माप कौटिल्यके अनुसार १२० हाथ है, पर शुक्रनीतिसारमें प्राजापत्य निवर्त्तन तो १०० हाथका और मानव १२५ हाथका बताया गया है। गोरुत गायके रांभनेको कहते और इस विश्वास पर कि एक कोसतक उसका शब्द सुन पड़ता है, गोरुतका अर्थ कोस हो गया है। ४ कोसका योजन तो प्रसिद्ध ही है। शुक्रनीतिसारमें परिवर्त्तनकी जो माप दी हुई है, उसकी चर्चा अर्थशास्त्रमें नहीं है।

२—कालमान

शुक्रनीतिसारमें कालमान नहीं दिया गया है, इसलिये अर्थशास्त्रके अनुसार यहाँ दिया जाता है। कौटिल्यने कालके १७ भाग इस प्रकार किये हैं:—त्रुट, लव, निमेष, काष्ठा, कल्प, नालिका, मुहूर्त्त, पूर्व भाग (पूर्वाह्न), दिवस, रात्रि, पक्ष, मास, अयन, संवत्सर और युग।

पलक मारनेको निमेष कहते हैं। जितनी देर एक बार पलक मारनेमें

लगती है, उतनीमें ४ तुट होते हैं। इसलिये कालका सबसे छोटा भाग तुट है।

२ तुट	=	१ लव
२ लव	=	१ निमेष
५ निमेष	=	१ काष्ठा
३० काष्ठा	=	१ कला
४० कला	=	१ नालिका
२ नालिका	=	१ मुहूर्त्त
१५ मुहुर्त्त	=	१ दिनरात
१५ दिनरात	=	१ पत्त
२ पत्त	=	१ महीना
२ महीने	=	१ ऋतु
३ ऋतु	=	१ अयन
२ अयन	=	१ संवत्सर
५ संवत्सर	=	१ युग

सूर्य दिनका साठवां भाग अर्थात् १ घड़ी कम कर देता है, इसलिये ६० दिनमें वा १ ऋतुमें १ दिन अधिक बढ़ा होता है। इसलिये वर्षमें ६ दिन और २॥ वर्षमें १५ दिन बढ़ जाते हैं। इसी प्रकार चन्द्रमा भी प्रत्येक ऋतु में एक दिन कम करता चलता है, जिससे २॥ वर्षमें १५ दिन कम हो जाते हैं। इस प्रकार सौर और चान्द्र गणनाओंके अनुसार ढाई वर्षमें दोनोंमें एक महीनेका अन्तर पड़ जाता है। उस समय ढाई वर्षके ३० महीने बाद जो एक महीना बढ़ जाता है, वही मलमास वा लौंद कहाता है।

आजकल घड़ी, पल, विपल आदिसे कालगणना पंचांगोंमें की जाती है। १५ मुहूर्त्त आजकी ६० घटिकाओं वा घड़ियोंके बराबर हैं। २ घड़ियां १ नाड़िकाके बराबर हैं। आजकल जो घड़ी कहाती है, वह २४ मिनटोंके बराबर होती है। ४० कलाएँ १२० पलके बराबर हैं अर्थात् १ कला ३० पल वा आध घड़ीके बराबर है। अर्थात्

१ निमेष	=	१२ विपल
६० विपल वा १ काष्ठा	}	१ पल
६० पल	=	१ घटिका
२ घटिका	=	१ नाड़िका
२ नाड़िका	=	१मुहूर्त्त

विष्णु धर्मोत्तर पुराणके अनुसार लघु अक्षरके उच्चारणमें जितना समय लगता है, उसे निमेष कहते हैं।

२ निमेष	=	१ त्रुटि
१७ त्रुटि	=	१ प्राण
६ प्राण	=	१ विनाड़िका
६० विनाड़िका	=	१ नाड़िका
६० नाडिका	=	१ दिनरात
१ मुहूर्त्त	=	२ घड़ी
३० मुहूर्त्त	=	१ दिनरात

जब सूर्य दक्षिणायनसे उत्तरायणमें जाता है, तब दिन बढ़ता और रात घटती है और जब उत्तरायणसे दक्षिणायन होता है, तब रात बढ़ती है और दिन घटता है। इस कारण दिनरातके मुहूर्त्तका मान भी घटा बढ़ा करता है। सूर्य जब मेष वा तुला राशिपर होता है, तब दिनरात समान होते हैं और तब वह विषुवदयन कहाता है।

३—तोल और मापका मान

सोना तोलनेके लिये

१० दाने उर्दके वा ५ रत्ती	} =	१ सुवर्ण मापक (सोनेका माशा)

१६ सुवर्ण माषक	=	१ सुवर्ण वा कर्ष
४ कर्ष	=	१ पल

चांदी तोलनेके लिये

८८ श्वेत सरसों	=	१ रूप्यमाषक (चांदी का माशा)
१६ रूप्य माषक वा २० शैम्ब्य (मूली के बीज)	=	१ धरण

१४ प्रकारके बांट सोना तोलनेमें लगते थे, उनके नाम हैं :—(१) अर्धमाषक, (२) माषक, (३) दो माषक, (४) चार माषक, (५) आठ माषक, (६) सुवर्ण, (७) दो सुवर्ण, (८) ४ सुवर्ण, (९) आठ सुवर्ण, (१०) दस सुवर्ण, (११) बीस सुवर्ण, (१२) ३० सुवर्ण, (१३) ४० सुवर्ण और (१४) सौ सुवर्ण।

इसी प्रकार चांदी तोलनेके लिये भी १४ बांट थे :— (१) अर्ध माषक, (२) माषक, (३) दो माषक, (४) चार माषक, (५) आठ माषक, (६) धरण, (७) दो धरण, (८) चार धरण, (९) आठ धरण, (१०) दस धरण, (११) २० धरण, (१२) ३० धरण, (१३) ४० धरण और (१४) सौ धरण। बाँट लोहे या मेकल देशके पत्थरके बनाये जायँ।

४—रत्नादिकी तोलका मान

(शुक्रनीतिसारके अनुसार)

२० दाने तीसी (अलसी)	=	१ रत्ती
२ रत्ती मोतीकी	=	१ कृष्णा लों
२४ ”	=	१ टंक रत्नोंका
८ रत्ती	=	१ माशा
१० माशे	=	१ सुवर्ण

हीरा तोलनेके लिये

२० चावल	=	१ वज्रधरण

५—अन्नादिकी तोलका परिमाण

१० धरणिक	=	१ पल
१०० पल	=	१ तुला वा आयमानी
२० तुला	=	१ भार

आयमानी तुलाके सिवा ३ प्रकारकी तुला और हैं, यथा व्यावहारिकी, भाजनी और अन्तःपुरभाजनी। इनमें आयमानीसे व्यावहारिकी ५ पल कम, भाजनी इससे ५ पल कम और अन्तःपुरभाजनी इससे ५ पल कम होती है अर्थात् व्यावहारिकी ९५ पलकी, भाजनी ९० पलकी और अन्तःपुरभाजनी ८५ पलकी होती थी। व्यावहारिकी क्रयविक्रय व्यवहारमें, भाजनी नौकर-चाकरोंको बाँटनेमें तथा अन्तःपुरभाजनी रानियों और कुमारोंको द्रव्य देने में काम आती थी।

---

२०० पल उर्द	=	१ आयमान द्रोण वा राजकीय आयका द्रोण
१८७॥ " "	=	१ व्यावहारिक द्रोण वा क्रयविक्रयका द्रोण
१७५ " "	=	१ भाजनीय द्रोण वा भृत्योंको द्रव्यादि देनेका द्रोण
१६२॥ " "	=	अन्तःपुर भाजनीय द्रोण (रनिवासमें चलनेवाला द्रोण)

१६ द्रोण	=	१ खारी
२० द्रोण वा १। खारी	=	१ कुम्भ
१० कुम्भ	=	१ वह

गुप्तकाल सन् ४८८ ईस्वीमें

४ प्रस्थ	=	१ आढक

४ आढक = १ द्रोण
८ द्रोण = १ कुल्य

जितनी भूमिमें एक कुल्य अन्न बोया जाता था, वह कुल्यवाय और जितनीमें एक द्रोण बोया जाता था, वह द्रोणवाय कहाता था। कुल्यको आज भी कहीं कहीं 'कुरा' कहते हैं। पूर्व बंगालमें और पंजाबकी चम्बा रियासतमें द्रोण माप प्रचलित है।

६–तरल पदार्थोंकी मापका मान

८४ कुडुव = १ वारक घी तोलनेका
६४ कुडुव = १ " तेल तोलनेका
२१ " = १ घृत घटिका
१६ " = १ तैल घटिका

(शुक्रनीतिसारके अनुसार)

१० गुंजा = १ माष
१० माष = १ कर्ष
१० कर्ष = १ पदार्थ
१० पदार्थ = १ प्रस्थ
५ प्रस्थ = १ आढक
८ आढक = १ अर्मण

७—नाणक वा सिक्के

चाँदीके

२ अष्ट भाग पण = १ पाद पण
२ पाद पण = १ अर्ध पण
२ अर्ध पण = १ पण

१ पणमें ११ माष चाँदी, ४ माष ताँबा और एक माष लोहा, सीसा, राँगा वा अंजन अथवा antimoney होता था।

ताँबेके

२ अष्ट भाग माषक	=	१ काकणी
१ काकणी	=	१ पाद माषक
२ पाद माषक	=	१ अर्ध माषक
२ अर्ध माषक	=	१ माषक

कार्षापण नामके सोने, चाँदी और ताँबेके सिक्कोंका उल्लेख स्मृत्यादि ग्रन्थोंमें पाया जाता है। कहते हैं कि यह कर्षका पर्यायवाचक है।

सोनेके कार्षापणकी तोल १६ माषक वा १७६ ग्रेन थी।

चाँदीके कर्षापणका मूल्य कौड़ियोंके १६ पण था।

ताँबेके कार्षापणकी तौल भी ८० रत्ती वा १७६ ग्रेन थी।

ये मान अर्थशास्त्रके द्वितीय अधिकरणके १६ वें और २० वें अध्यायों के अनुसार दिये गये हैं।

परिशिष्ट (आ)

*रत्न और उनकी परीक्षा

शुक्रनीतिसारके अनुसार वज्र (हीरा), मोती, मूंगा, इन्द्रनील, वैडूर्य्य, पुखराज पाची (पन्ना) और माणिक्य (लाल) ये नौ महारत्न हैं। किस देवताको कौनसा रत्न प्रिय है यह इस प्रकार बताया गया है—लाल रंगका इन्द्रगोप सदृश कान्तिवाला माणिक्य सूर्यको प्रिय है। लाल, पीला, श्वेत और श्याम कान्तिवाला मोती चन्द्रमाको प्यारा है। पीलापन लिये हुए लाल मूंगा मङ्गलको प्रिय है। मोर वा नीलकण्ठके पंखके समान पाची बुधको, सोनेकी झलकवाला पुखराज बृहस्पतिको और तारोंके समान कांतिवाला वज्र शुक्रको, तथा जलवाले मेघकीसी कांतिवाला काला इंद्रनील शनिश्चरको, कुछ पीला लाल कांतिवाला गोमेद राहुको तथा बिल्लीके नेत्रोंके समान कांतिवाला और लकीरोंसे रहित वैडूर्य (लहसुनिया) केतुको प्यारा है। रत्नोंमें वज्र श्रेष्ठतर और गोमेद तथा मूँगा नीच बताये गये हैं। माणिक्य, पाची और मोती श्रेष्ठ हैं तथा इन्द्रनील पुखराज और वैडूर्य मध्यम हैं। सर्पमणि रत्नोंमें श्रेष्ठ है, पर दुर्लभ है। जिस रत्नके गर्भमें जाल न हो, जो उत्तम वर्ण हो, जिसमें रेखा और बिन्दु न हो, कोण अच्छे हों और जिसकी कांति भी अच्छी हो और चीनीकी आकृतिका वा कमलदल तुल्य हो, चिकना तथा गोल हो, ऐसा ही रत्न श्रेष्ठ कहा गया है।

कौटिल्यने रत्नोंका विस्तृत वर्णन किया है और प्रत्येक रत्नके भेद, उत्पत्तिस्थान तथा गुणदोष बताये हैं। पहले मोतीके विषयमें लिखा है कि उसकी उत्पत्तिका सम्बन्ध सीप, शङ्ख और प्रकीर्णकसे है। प्रकीर्णकका

---

*शुक्रनीतिसार अ० ४ और अर्थशास्त्र अधिकरण २ अध्याय २१ के अनुसार

अर्थ विविध वा विस्तृत है। साँप और हाथीके मस्तकोंसे जो मोती प्राप्त होते हैं, उन्हें ही प्रकीर्णकमें समझना चाहिये। देशभेदसे मोतीके दस भेद ये हैं :— (१) ताम्रपर्णिक जो पांड्य देशकी ताम्रपर्णी नदीके समुद्रसंगममें उत्पन्न होता है, (२) पाण्ड्यकवाटक, जो मलयकोटि नामक पर्वतपर उत्पन्न होता है; (३) पाशिक्य, जो पाटलिपुत्रकी पाशिका नदीसे निकलता है; (४) कौलेय जो सिंहलद्वीपकी कूला नामकी नदीसे निकलता है; (५) चौर्णेय, जो केरलके मुरचि नामक नगरके समीप चूर्णा नदीसे निकलता है,(६) माहेन्द्र, जो महेन्द्र पर्वतके पास समुद्रसे निकलता है; (७) कार्दमिक, जो ईरानकी कर्दमा नदीसे उपजता है; (८) स्रौतसीय, जो बर्बर देशकी स्रोतसी नदीसे उत्पन्न होता है, (९) हार्दीय, जो बर्बर देशके पासके समुद्रसे लगी हुई श्रीघंट नामक झीलसे निकलता है और (१०) हैमवत, जो हिमालय पहाड़पर होता है।

मोटा, गोल और झट लुढ़क जानेवाला, श्वेत, भारी, चिकना तथा ठीक स्थानपर बिंधा मोती उत्तम होता है। मसूरके आकारवाला तिखूंटा वा छोटी इलायचीके वा कछुएके आकारवाला, अर्धचन्द्रक (आधे चन्द्रमाके समान), ऊपर मोटे छिलकेवाला, जुड़ा वा कटा हुआ, खरखरा, दागवाला कमण्डलके आकारवाला, बन्दरके वा नीले रंगवाला तथा बेढंगा बिंधा हुआ ये १३ प्रकारके मोती दूषित समझे जाते हैं।

मणियोंके तीन भेद उद्गमस्थानभेदसे कहे गये हैं :—(१) कौट, मलय समुद्रके पास कोटि नामक स्थानमें पैदा होता है, (२) मौलेयक, मलय देशकी कर्णीयन नामक पर्वतमालापर उत्पन्न होनेवाला, (३) पारसमुद्रक, समुद्रपार सिंहल आदि द्वीपोंमें उपजनेवाला। इनके सिवा माणिक्य, वैडूर्य, इन्द्रनील और स्फटिककी गिनती भी मणियोंमें होती है।

माणिक्य पाँच प्रकारका होता है :—(१) सौगन्धिक जो इसी नामके सन्ध्याको खिलनेवाले कमलके समान रङ्गवाला, नीलापन लिये हुआ लाल होता है, (२) पद्मराग, जिसका रङ्ग पद्मके समान होता है, (३) अनवद्यराग, केसरके रङ्गके समान रङ्गवाला, (४) पारिजातपुष्पक,

पारिजातके फूलके समान रङ्गवाला और (५) बालसूर्यक जो उदय होते हुए सूर्यके समान अरुण रङ्गका होता है।

मणियोंमें दूसरी जाति वैडूर्यकी है। यह आठ प्रकारका होता है, (१) उत्पलवर्ण, लाल कमलके रङ्ग सदृश, (२) शिरीषपुष्पक, शिरीष फूलके रङ्गके समान, (३) उदकवर्ण, जलके रङ्ग जैसा, (४) वंशराग, बाँसके पत्तेके रङ्गवाला, (५) शुकपत्रपर्ण, तोतेके पर जैसे हरे रङ्गका, (६) पुष्पराग, हल्दीकेसे पीले रङ्गवाला, (७) गोमूत्रक, गोमूत्रके रङ्गके समान और (८) गोमेदक, गोरोचनके सदृश रङ्गवाला।

मणियोंकी तीसरी जातिमें इन्द्रनील आठ प्रकारका होता है :—(१) नीलावलीय जिसका सफेद रङ्ग हो और नीली धारियाँ हों, (२) इन्द्रनील, मोरके पेंचकी तरह नीले रङ्गवाला, (३) कलापपुष्पक, मटरके फूलके समान रङ्गवाला, (४) महानील, गहरे काले रङ्गका, (५) जाम्बवान्, जामुनके रङ्गकेसे रङ्गवाला, (६) जीमूतप्रभ, मेघसदृश वर्णका, (७) नन्दक भीतरसे सफेद, पर बाहरसे नीला और (८) स्रवन्मध्य, जिससे जल प्रवाहके समान किरनें बहती हों।

मणियोंकी चौथी जाति स्फटिकके चार भेद हैं:—(१) शुद्ध स्फटिक, अत्यन्त शुक्ल वर्णका, (२) मूलाटवर्ण, मक्खन निकाले हुए मट्ठेके समान रङ्गवाला, (३) शीतवृष्टि वा चन्द्रकान्त, चन्द्रमाकी किरनोंसे पिघलनेवाला और (४) सूर्यकान्त (radium), सूर्यकी किरनोंसे पिघलनेवाला।

मणि छकोनिया, चौकोनिया, गोल, गहरे रङ्गका, बहुत चमकीला, निर्मल, चिकना, भारी, दीप्तिवाला, बीचमें ही चंचल प्रभाववाला, तथा जो अपनी प्रभासे पासकी वस्तुको प्रकाशित करे और जिसकी बनावट भूषण आदिमें लगाने योग्य हो, ये ११ गुण मणियोंके हैं। जो हल्के रङ्ग, हल्की कान्तिवाला, खरखरा, जिसके ऊपर छोटे-छोटे दाने निकले हों, जिसमें छोटे-छोटे छेद हों, जो कटा हो, जिसमें बेढंगा छेद हो और जो तरह तरहकी रेखाओंसे युक्त हो, ये सात प्रकारके मणियोंके दोष कहे गये हैं।

मणियोंके ये १८ अवान्तर भेद हैं :—(१) विमलक, (सफेद और हरे रंगोंसे युक्त), (२) सस्यक, (नीला), (३) अंजनमूलक (नीले काले रङ्ग मिले हुए), (४) पित्तक (गायके पित्तेके रङ्गवाला), (५) सुलभक, (सफेद), (६) लोहिताक्ष (बीचमें काला और किनारोंपर लाल), (७) मृगाश्मक (सफेद और काला रङ्ग मिले), (८) ज्योतीरसक) सफेद और लाल रङ्ग मिले), (९) मैलेयक (शिंगरफ़के समान रङ्गवाला) (१०) आहिच्छत्रक (फीके रङ्गवाला) , (११) कूर्प (खुरदरा जिसके ऊपर छोटी छोटी बूँदेंसी उठी हों, (१२) प्रतिकूर्प (दागी, जिसपर धब्बे हों), (१३) सुगन्धि कूर्प (मूँगके रङ्गवाला), (१४) क्षीरपरक (दूधके रङ्गवाला), (१५) शक्ति-चूर्ण, (जिसमें कई रङ्ग मिले हों), (१६) शिला प्रवालक, (मूँगेके समान रङ्गवाला); (१७) पुलक, (बीचमें काला) और (१८) शुक्लदलक, (बीचमें सफेद) ।

इनके अतिरिक्त सब काच मणि बताये गये हैं । उस समय न तो कलचर किये हुए मोती थे और न सिन्थिटिक मणि, इसलिये इनके विषयमें कुछ नहीं कहा गया ।

वज्र वा हीरेके ६ भेद हैं:—(१) सभाराष्ट्रक (बरारमें निकलनेवाला), (२) मध्यमराष्ट्रक (महाकोशलमें निकलनेवाला), (३) कास्तीरराष्ट्रक (कास्तीरमें निकलनेवाला), (४) श्रीकटनक (श्रीकटन पर्वतसे निकलनेवाला), (५) मणिमन्तक नाम उत्तरी पर्वतसे निकलनेवाला और (६) इन्द्रवानक, (कलिंग देशमें निकलनेवाला) । खानों और जल प्रवाहके अतिरिक्त जहाँ कहीं हीरे मिलते हैं, उन्हें प्रकीर्णक वा विविधमें समझना चाहिये ।

हीरे कई रंगोंके होते हैं; जैसे (१) मार्जाराक्षक (बिल्लीकी आँखके समान), (२) शिरीषपुष्पक (सिरीस फूलके समान), (३) गोमूत्रक (गोमूत्रके रंगका), (४) गोमेदक (गोरोचनके समान), (५) शुद्ध स्फटिक (शुक्ल वर्ण स्फटिकके समान), (६) मूलाटी पुष्पक वर्ण (मूलाटीके

फूलके समान)। इनके अतिरिक्त मणियोंके जो वर्ण बताये गये हैं, उनमें किसी वर्णका हीरा हो सकता है। मोटा, चिकना, भारी, चोट सहनेवाला, बराबर कोनोंवाला, पानीसे भरे पीतल आदिके वर्त्तनमें डालकर हिलाये जानेपर उसमें लकीर कर देनेवाला, तकवेकी तरह घूमनेवाला और चमकीला हीरा प्रशस्त होता है। नष्टकोण अर्थात् शिखररहित, अश्रि वा तीक्ष्ण कोनेसे रहित तथा एक ओरको अधिक कोनोंवाला हीरा दूषित वा अप्रशस्त होता है प्रबाल वा मूंगा दो तरहका होता है। एक आलकन्दक, अलकन्द नामक म्लेच्छ देशमें समुद्रके किनारे उत्पन्न होता है और दूसरा वैवर्णिक यूनान देश के विवर्ण नामक समुद्र भागसे निकलता है। मूंगेका रंग लाल पद्मके समान होता है। यह न तो कीड़ेका खाया होना चाहिये और न बीचमें मोटा या उठा हुआ।

अर्थशास्त्रमें पुखराज और पाचीको महत्त्व नहीं दिया गया। पुखराज पुष्पराग रूपसे वैडूर्यकी श्रेणीमें चला गया है और पाची तथा गारुत्मतकी चर्चा ही नहीं हुई है। ज्ञात नहीं कि इसे काँचमणि समझकर छोड़ दिया वा कुछ और कारण है। शुक्रनीतिसारमें स्फटिक मणियोंका उल्लेख नहीं है। शुक्रनीतिसारमें इतना और लिखा है कि मूंगे और मोतीको छोड़ अन्य रत्न पुराने वा बूढ़े नहीं होते। इन्हें छोड़ और सब रत्नोंपर लोहे या पत्थरकी लकीर नहीं होती यह रत्नोंके पारखियोंका मत है। उससे मोतीके उद्गम स्थानोंमें मछली साँप, शङ्ख, सुअर, वाँस, मेघ और सीपका उल्लेख किया गया है। सिंहल द्वीपवाले कृत्रिम मोती भी बनाते हैं, इसलिये गर्म, नमकीन और तेलयुक्त जलमें रातभर मोतीको डाल रखे और सबेरे धानमें उसे मले। यदि मोतीका रंग मैला न हो, तो उसे अकृत्रिम मोती मानना चाहिये। सीपसे निकलनेवाले मोतीकी कांति श्रेष्ठ होती है। गोमेदकको छोड़ सब रत्नोंका मोल तोलके अनुसार होता है।

उक्त विवरण अकृत्रिम रत्नोंका है, जिनमें हीरा सर्वोत्तम समझा जाता है। यह कोयलेकी खानोंसे निकलता है और कोयला ही समझा जाता है।

कृत्रिम (आर्टिफिशल) हीरे रासायनिकोंने कोयलेसे ही बनाये भी हैं। सिकन्दरके भारत आक्रमणके बाद ही यूरोपको हीरेका हाल मालूम हुआ था। संसारके हीरोंमें कोहिनूर, ग्रेट मुगल और रीजेंट या पिट बड़े प्रसिद्ध रहे हैं। कोहिनूरकी तोल पहले १८२ कैरेट (१ कैरेट = ३१/६ ग्रेन) थी। बाद काटनेपर वह १०६ कैरेट रह गया। ग्रेट मुगल इससे बहुत बड़ा था। इसकी तोल ८१७ कैरेट थी और काट कर २८७॥ कैरेट रख दी गयी। पिट पहले ४२२ कैरेट तोलमें था, पर काटे जानेपर १४० कैरेट रह गया। यह सब हीरोंसे अधिक प्रभावान है और किसी समयके राजमुकुटमें रहता था। कोहिनूर और ग्रेट मुगलको नादिरशाह भारतसे ले गया था। परन्तु दक्षिण अफ्रिकामें जितने बड़े हीरे निकले संसारभरमें कहीं नहीं पाये गये। बोर युद्ध का कुछ कारण हीरे और सोनेकी खानें भी थीं। १९०५ में ट्रान्सवालकी किम्बरली खानसे जो 'कलियन' हीरा निकला, वह तोलमें ३१०६ कैरेट था। इसके बाद १९३४ में जोनकर नामका जो हीरा निकला उसकी तोल ७२६ कैरेट थी। साइबेरियाकी युराल पर्वतमाला, ब्राजिल, बोर्नियो और आस्ट्रेलिया में भी हीरे पाये जाते हैं। ब्राजिलमें हीरेवाली चट्टानें नदीमें गिर जाती हैं, इसलिये वहाँ नदीमें भी हीरे मिलते हैं।

रत्नोंके दो और भेद हैं जिनमें एकको कृत्रिम वा आर्टिफिशल और दूसरे को सदृश वा इमिटेशन कहते हैं। कृत्रिम रत्नोंका आधार तो एल्युमिनियम आक्साइड है। इससे मानिक, नीलम, मरकत इत्यादि बनाये जाते हैं। कृत्रिम मोती भी बनते हैं जो 'कलचर्ड' कहाते हैं। ये रत्न अकृत्रिम रत्नोंके समान ही होते हैं और बड़े अनुभवी रत्नपारखी वा ज़ौहरी ही दोनोंका भेद समझ सकते हैं। फिर भी कुछ ऐसी बातें हैं जिनसे और लोग भी दोनोंमें अन्तर समझ सकते हैं। एक पहचान तो यह है कि कृत्रिम रत्नोंमें भीतर जो तहें होती हैं, वे टेढ़ी होती हैं। अकृत्रिम रत्नोंकी चिपटी होती हैं। दूसरी पहचान यह है कि कृत्रिम रत्नोंमें हवाके बुलबुले होते हैं, अकृत्रिममें नहीं होते। तीसरी और अन्तिम परीक्षा यह है कि बिजलीकी किरणें जब रत्नपर पड़ती हैं और

स्विच बन्द कर दिया जाता है, तब कृत्रिम रत्न कुछ देरतक चमकता रहता है, पर अकृत्रिम नहीं चमकता।

सादृश्यरत्न वर्णहीन अस्वच्छ होते हैं। अथवा रंगीन स्फटिकप्रभ काच अकृत्रिम रत्नकी भाँति काट लिये जाते हैं। ये उच्च वक्रीभावयुक्त विशेष प्रकारके काँच होते हैं। विभिन्न धातुओंके आक्साइड वा संयुक्त पदार्थोंको काँचके साथ एक रूप करते समय ये रंगे जाते हैं।*

---

* यह जानकारी डा० पञ्चानन नियोगीके 'हिन्दुस्थान स्टैंडर्ड' के १९४९ के विशेषाङ्कमें प्रकाशित लेखके आधारपर है।

परिशिष्ट (इ)

ईस्वी पूर्व छठी शतीके लगभग भारतके राज्य और राजा

ईस्वी सन्से पूर्व छठी शतीमें अफगानिस्तान और बिलोचिस्तानपर भी भारतीय आर्योंका राज्य था, जिसका प्रमाण ऋग्वेदके १० वें मण्डलका ७५ वाँ सूक्त है। इस सूक्तकी ५वीं और छठी ऋचाओंमें भारतकी गंगा, यमुना सिन्धु इत्यादि नदियोंके साथ ही अफगानिस्तान और पठानी भूभागकी नदियोंकी भी स्तुति की गयी है। इन ऋचाओंमें इन नदियोंके नाम आये हैं :—गंगा, यमुना; सरस्वती, शतद्रु (सतलज) परुष्णी (राबी), असिक्नी (चेनाव), वितस्ता (झेलम), आर्जीकीया (ऋजीक पर्वतसे निकलने वाली व्यास नदी), सुषोमा (सुहावा), तृष्टामा (चित्रालसे नीचे बहनेवाली पंचकाराप्रदेशमें बहनेवाली नदी), सुसर्तु (सुवाँ नदी), रसा (लेई नदी), श्वेती (अर्जुनी नदी) क्रुमा (काबुल नदी), गोमती (गोमल नदी), क्रुमु (कुर्रम नदी) और महेत्नू नदी। इनमें पंजाबकी पाँच छ नदियों तथा मध्य देशकी गंगा यमुनाको छोड़कर सब कबीली इलाके और अफगानिस्तानकी हैं। क्रुभा तो काबुल नदी ही है।

बौद्ध ग्रन्थोंसे जाना जाता है कि ईस्वी सन्से पहले छठी शतीके पूर्वार्द्ध में भारतमें १६ जनपद वा राज्य थे। उनमें दो काम्बोज और गान्धार भारत के उत्तर पश्चिममें थे। काम्बोजकी स्थिति कहाँ थी इसका ठीक ठीक पता नहीं है। कहा नहीं जा सकता कि इसीसे कम्बोह शब्द बना है या नहीं, पर गान्धारसे काम्बोज लगा हुआ था ऐसा अनुमान है। गान्धारका राज्य बड़ा था। इसीमें कश्मीर और तक्षशिला जैसे प्रसिद्ध विद्यापीठ भी थे। गान्धारकी राजकुमारी दुर्योधनकी माता गान्धारी थी। तक्षशिलाका महत्त्व बुद्धकी जातक कथाओंसे जाना जाता है, जहाँ बहुधा बोधिसत्व विद्याध्ययन के लिये जाता था। तक्षशिलाकी महिमाका अन्त होनेपर कदाचित् कश्मीर

ने विद्यापीठका महत्त्व प्राप्त किया था। तक्षशिला वर्तमान रावलपिण्डीमें है और गान्धारका नाम अफगानिस्तानका कान्धार शहर जगा रहा है। गान्धारके पास ही वैयाकरण पाणिनि रहते थे।

उक्त छठी शतीके उत्तरार्द्धमें ईरानके बादशाह सीरूने उत्तर-पश्चिम भारतको विजय करनेका यत्न किया। कहते हैं कि इसने गेड्रोसिया वर्तमान मकरानके रास्ते चढ़ाई की थी, परन्तु इसमें यह विफल हुआ। फिर भी यह काबुल और सिन्धु नदियोंके बीचका भूमाग जीत सका। बादको इसके बेटे दाराने गान्धार और सिन्धुकी घाटीको अपने साम्राज्यमें मिला लिया। जेर्क्जेसने अपना अधिकार अफगानिस्तान और उत्तर पश्चिम भारतपर रखा। यूनानियोंके विरुद्ध भारतीय सैनिकोंने इसका साथ दिया था। बहुत सम्भव है कि जब ईस्वी पूर्व चौथी शतीमें सिकन्दरने भारतपर चढ़ाई की थी, तब ईरानी सम्राटोंका प्रभाव उनके अधीन प्रदेशोंमें बहुत घट गया था, इसलिये वर्त्तमान पठानिस्तान और पंजाबमें बहुत से छोटे छोटे राज्य बन गये थे। उदाहरणार्थ अस्पासियन राज्य काबुल नदीके उत्तरकी पहाड़ियोंमें था। असकनियोंके वा असकन राज्यकी राजधानी मससग थी जो मलाकन्द दर्रेसे उत्तर बहुत दूर नहीं है। यह बड़ा दृढ़ दुर्ग था। प्यूकेलावती लोगोंका राज्य काबुल से सिन्धु नदको जानेवाली सड़कपर था। इसकी राजधानी पेशावरके पास थी। गान्धार राज्यके पूर्वी भागसे तक्षशिलाका राज्य उत्पन्न हुआ था। कदाचित् काम्बोजके पुराने राज्यसे ही अरसकेस राज्य निकला था, जिसमें वर्त्तमान हजारा जिला भी था। काम्बोज राज्यका दूसरा भाग अबिसारेस नामसे कश्मीरके पुंछ और नौशेरा जिलोंसे बना था। न्यासा नामका जो राज्य काबुल और सिन्धु नदियोंके बीचमें था, वह गणतंत्र था।

मसग वा मस्सग शब्द संस्कृतके माशक शब्दका अपभ्रंश जान पड़ता है। यूनानियों और मकदूनियोंने इसे मशक, मजग और मसोग लिखा है। स्ट्रेबोने इसे मस्सकनोस राज्यकी राजधानी बताया है। बाबरनामेमें लिखा है कि पंज-

कोर नदीके पश्चिम स्वात वा सेवद नदीके तटपर माशानगर नामका शहर था। कोर्ट साहबने यूसुफ़ज़ई देशका जो बहुतसा वर्णन संग्रह किया है, उससे जाना जाता है कि बाजोरसे २४ मीलपर मसखाइन और मासानगर नामोंसे एक उजड़े नगरका पता लगता है। पाणिनीय व्याकरणमें माश्कावती नाम आया है। पाणिनि गान्धारवासी थे और अस्सकन राज्य गान्धारके अन्तर्गत था। इससे कहा जाता है कि माश्कावती ही मसग हो गया है।

पौरसका संस्कृत नाम पौरुष वा पौरव था। वह पंजाबका प्रबलतम राजा था। इसने डटकर सिकन्दरसे मोर्चा लिया था और सिकन्दरने बहराकर इससे जब पूछा कि तुम्हारे साथ कैसा व्यवहार किया जाय, तो इसने निर्भीकता से उत्तर दिया कि जैसा राजा राजाके साथ करते हैं। इससे प्रसन्न हो सिकंदर ने इसका राज्य और बढ़ा दिया। कहा जाता है कि हिन्दू राज्य और राजा आपसका बैर विरोध त्यागकर यदि पोरसके नेतृत्वमें सिकन्दरसे लड़ते, तो यह उन्हें न हरा सकता। सिकन्दरके मरनेके बाद पोरसने सिन्धपर भी अधिकार जमा लिया था।

अग्रमसको किसी किसीने जाति कहा है, पर मैक्रिंडेलनें उसे जन्द्रमस मगधाधिप बताया है। प्रासिग्राइ वा प्राच्य देशके राजाका नाम अग्रमस तो मूल ग्रन्थमें ही आया है। परन्तु जन्द्रमस चन्द्रगुप्त नहीं है। वह अन्तिम नन्दवंशी है और नन्द्रस बताया गया है। सम्भवतः वह महापद्मनन्द होगा जिसका नाश चन्द्रगुप्तने किया था। इसे घनानन्द वा हिरण्यगुप्त भी कहते हैं।

सिबि राज्य झेलम और सिन्धु नदके बीचमें था। सम्भव है महाभारतका नरपुंगव शैव्य यहींका हो अथवा शिविके लोग ही पतञ्जलिके शैव्य हों।

मल्ली वा मल्लोई जाति कौटिल्यकी मल्ल जाति थी। यह कहना कठिन है कि पूर्वी अर्थात् कुशीनगर और पावाके मल्लोंसे इसका कोई सम्बन्ध था वा नहीं। पंजाबकी यह मल्ल जाति किसीके मतसे मुलतानमें

और किसीके मतसे हड़प्पामें रहती थी। मल्ल जातिके कुछ लोग अब भी कहीं कहीं पाये जाते हैं, पर अपने को 'मल' कहते है।

सब्रकाई जातिको लासेनने सम्बष्टाई बताया है और एरियनने सम्बष्टाई-को अबस्तनोइ लिखा है। मैक्रिंडेलका मत है कि महाभारतादि ग्रंथोंमें जिस अम्बष्ट जातिका वर्णन है, वह यह सम्बष्टाई ही है। यहाँ गणतंत्र राज्य था; कोई राजा न था। यह राज्य असिकनी वा चेनाब नदीके निचले भागपर था।

अगलासियन जाति कदाचित् अग्रश्रेणी है। यह झेलम और चेनाब नदियोंके बीचके भूभागपर बसी थी।

अस्सकनोई प्राचीन समयकी अश्वक जाति बतायी जाती है। इसे आजकलके चित्रालकी अस्पिन और गिलगिटकी अशकुन जाति समझना चाहिये।

गंगारिदाई देश निचले बंगालका भूभाग बताया जाता है और यहाँके लोग कलिंग जातीय समझे जाते हैं। इसकी राजधानी पार्थलिस वा बर्दवान थी। यह देश बंगाल ही है और सम्भवतः कलिंगसे लगे रहनेके कारण कलिंग जातीय देश कहा गया है।

प्रासिआई प्राच्य शब्दका ही यवन रूप है। यवन लेखकोंने इसे मगध अर्थमें लिखा है। इसकी राजधानी पालिब्रोंथरा लिखी है जो पाटलिपुत्रका रूपान्तर है।

आन्दराई आन्ध्र है।

मोदुबाई, मोलिन्दाई और उबेराई ये तीनों अनार्य जातियाँ जान पड़ती हैं। उबेराई जातिके कुछ लोग पंजाब में व्यापार करते हैं। मोदुबाई ऐतरेय ब्राह्मणकी मौतिबा जाति है। मोलिन्दाई मालदा जाति है जिसका पुराणोंमें वर्णन है। उबेराई मध्यदेशमें आसामतक फैले हुए भर लोग बताये जाते हैं।

कलिंग और पाण्ड्यका परिचय अनावश्यक है। ये दक्षिणके देश हैं।

सिकन्दरकी मृत्युके बाद चन्द्रगुप्तने पश्चिमोत्तर भारतसे यूनानियोंको भगाकर उसे अपने साम्राज्यमें मिला लिया था। सिकन्दरके उत्तराधिकारी सेल्यूकसका राज्य भूमध्य-सागरसे सिन्धु नदतक फैला हुआ था। यह चाहता था कि हम अपना छीना राज्य फिर ले लें। सिन्धुनद पार करनेपर चन्द्रगुप्त और इसमें मुठभेड़ हो गयी। पर चन्द्रगुप्तने इसकी कन्या हेलेनसे विवाह कर लिया, जिससे उसने कदाचित् यौतुकमें मौर्य सम्राटको अर्त्ता (हिरात), अराकोसिया (गान्धार), गेड्रोसिया (बिलोचिस्तान) और परोपनिसदाई (काबुल) दे दिया। इस प्रकार चन्द्रगुप्त मौर्यके साम्राज्यमें अफगानिस्तान और बिलोचिस्तान रह गये।

यह निश्चयसाही है कि ये प्रदेश अशोकके समयमें भी मौर्य राज्यमें थे, क्योंकि हजारा जिलेके मनशेरा और पेशावर जिलेकी शाहबाजगढ़ीमें उस समयके शिलालेख मिले हैं जिनमें योनों वा यवनों तथा काम्बोजों और गान्धारोंका उल्लेख है। अशोककी मृत्युके बाद बल्ख वा बैक्ट्रीयाके यूनानियोंका राज्य फिर अफगानिस्तान और बिलोचिस्तानपर हो गया। अनन्तर महान कुशान सम्राट् कनिष्कका शासन मध्य एशियासे अफगानिस्तान और उत्तर भारतके बड़े भागपर हुआ। इसकी राजधानी पेशावर थी। कनिष्कका साम्राज्य भंग होनेपर ईरानके सासानी सम्राटोंने फिर अफगानिस्तान और पश्चिमोत्तर भारतपर प्रभुत्व जमा लिया, परन्तु कदाचित् ये पंजाबतक नहीं पहुंच पाये। चौथी ईस्वी शतीमें गुप्त सम्राटोंने सासानी सम्राटोंको हराया। गुप्त साम्राज्यके पतनके बाद कुशानोंको हूणोंसे लड़ना पड़ा। इसके उपरान्त मुसलमानोंके आक्रमण हुए।

देशभक्तिके मंत्र

अथर्ववेदके १२ वें कांडके पृथिवीसूक्तके इन पाँच मंत्रोंकी ओर इस ग्रन्थ-के पाठकोंका ध्यान आकर्षित किया जाता है :—

त्वज्जातास्त्वयि चरन्ति मर्त्यास्त्वं बिभर्षि द्विपदस्त्वं चतुष्पदः ॥
तवेमे पृथिवि पञ्चमानवा येभ्यो ज्योतिरमृतं मर्त्येभ्य उद्यन्तसूर्यो रश्मि-
॥ भिरातनोति १५ ॥

हे पृथिवि वा मातृभूमि ! जो हम लोग तुझसे उत्पन्न हो तेरे ही आधार में अपने सब काम करते हैं, जो तू सम्पूर्ण पशुपक्षियों, मनुष्यों और अन्य प्राणियोंको आधार देकर पालती-पोसती है, हमारे जिस जीवनके लिये यह देदीप्यमान् सूर्य अपनी अमृतमय किरणोंको चारो ओर फैलाता रहता है, वे हम पाँच प्रकारके मनुष्य तेरी सेवा करनेकी इच्छा रखते हैं।

अहमस्मि सहमान उत्तरो नाम भूम्याम् ॥
अभीषाडस्मि विश्वाषाडाशामाशां विषासहिः ॥ ५४ ॥

मैं अपनी मातृभूमिके लिये तथा उसके दुःखनिवारणके लिये सब प्रकार-के कष्ट सहनेको तैयार हूँ। वे कष्ट जिस ओरसे आवें और चाहे जिस समय हों, मुझे चिन्ता नहीं है।

ये ग्रामा यदरण्यः याः सभा अधिभूम्याम् ॥
ये संग्रामाः समितयस्तेषु चारु वदेमि ते ॥ ५६ ॥

देशमें जहाँ-जहाँ ग्राम, वन, सभा, संग्राम, समितियाँ हों वहाँ वहाँ से मातृभूमि ! हम तेरी प्रशंसा करें।

यद् वदामि मधुमत् तद् वदामि यदीक्षे तद् वनन्ति मा ॥
त्विषीमानस्मि जूतिमानवान्यान् हन्मि दोधतः ॥ ५८ ॥

अपने देश वा मातृभूमिके संबंधमें जो कहता हूँ, वह उसका हितक है, जो देखता हूँ, वह उसकी सहायताके लिये है। प्रकाशमान्, तेजस्वी

और बुद्धिमान् होकर मैं मातृभूमिका दोहन करनेवाले शत्रुओंका नाश करता हूँ।

भूमे मातर्निधेहि मा भद्रया सुप्रतिष्ठितम्।
संविदाना दिवा कवे श्रियां मा धेहि भूम्याम्। ॥ ६३ ॥

हे मातृभूमि, मुझे बुद्धिमान् कर और तेरे विषयमें प्रतिदिन चिन्ता करनेवाले, सूक्ष्म विचारवाल तथा दूरदर्शी मनुष्योंको और मुझे अपनी भूमिगत सम्पत्ति प्राप्त करा देनेवाली हो।

ॐ तत्सत्

पुरुषानुक्रमणी

स्थानानुक्रमणी